परम पूज्य तपश्चर्या–चक्रवर्ती पट्टाधीशाचार्यश्री

सुविधिसागर जी महाराज

के

50 वें जन्मदिवस के पावन अवसर पर

सुविधि–परिवार के द्वारा आयोजित

जिनवाणी-महोत्सव

सहस्रग्रन्थसंग्रह

❊ जन्मदिवस 19–03–1971 ❊ मुनिदीक्षा–11–05–1989 ❊ आचार्यपद– 20–06–2004

पट्टाधीशपद– 24–12–2010 (20–06–2004 को की गई उद्घोषणा के अनुसार)

परम पूज्य आचार्यश्री सन्मतिसागर जी महाराज के द्वारा की गई उद्घोषणाः–

हमारी समाधि के पश्चात् आपको इस संघ के संचालकपद पर नियुक्त करते हैं।

(अंकलीकर वाणी–जुलाई 2004) (अक्षयज्योति–अक्तूबर 2004)

भारतीय योगपरम्परा और ज्ञानार्णव

लेखक
डॉक्टर राजेन्द्रकुमार जैन

प्रकाशक
दिगम्बर जैन मन्दिर
भोपाल (मध्यप्रदेश)

(परम्परानायक)

परम पूज्य चारित्र-चक्रवर्ती,
आचार्यश्री आदिसागर जी महाराज
(अंकलीकर)

(द्वितीय पट्टाधीश)

परम पूज्य तीर्थभक्त-शिरोमणि,
आचार्यश्री महावीरकीर्ति जी महाराज

(तृतीय पट्टाधीश)

परम पूज्य सिद्धान्त-चक्रवर्ती,
आचार्यश्री सन्मतिसागर जी महाराज

(चतुर्थ पट्टाधीश)

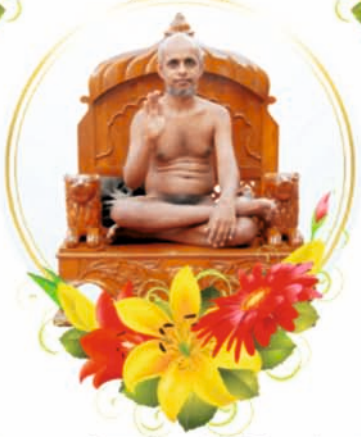

परम पूज्य तपश्चर्या-चक्रवर्ती, आचार्यश्री सुविधिसागर जी महाराज

दिगम्बर साधु निरन्तर पगविहार करते रहते हैं। ग्रन्थभण्डार को साथ में रख कर विहार करना अशक्यप्रायः होता है। फलतः उनको ग्रन्थों के सन्दर्भ देखने में असुविधा होती है। उनकी सुविधा के लिये इस कोश का निर्माण किया गया है। इस कोश के निर्माण में किसी भी प्रकार का व्यापारिक हेतु नहीं है।

आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न श्रावकबन्धुओं से निवेदन है कि वे ग्रन्थ का विक्रय कर अध्ययन करने की परम्परा को कायम रखें।

मुखपृष्ठ पर हमने ग्रन्थकर्त्ता, अनुवादक, सम्पादक, प्रकाशक आदि के नाम दिये हैं। किसी संस्थान का कर्तृत्व हमने लुप्त नहीं किया है।

इस कोश के लिये आवश्यक ग्रन्थ हमें अनेक स्रोतों से प्राप्त हुये हैं। हम उन सभी का आभार मानते हैं।

सुविधि-परिवार

भारतीय योग परम्परा और ज्ञानार्णव

चौबीस तीर्थङ्कर महायोगी

प्रस्तोता

ब्र. डॉ. राजेन्द्र कुमार जैन

वर्ष 2004

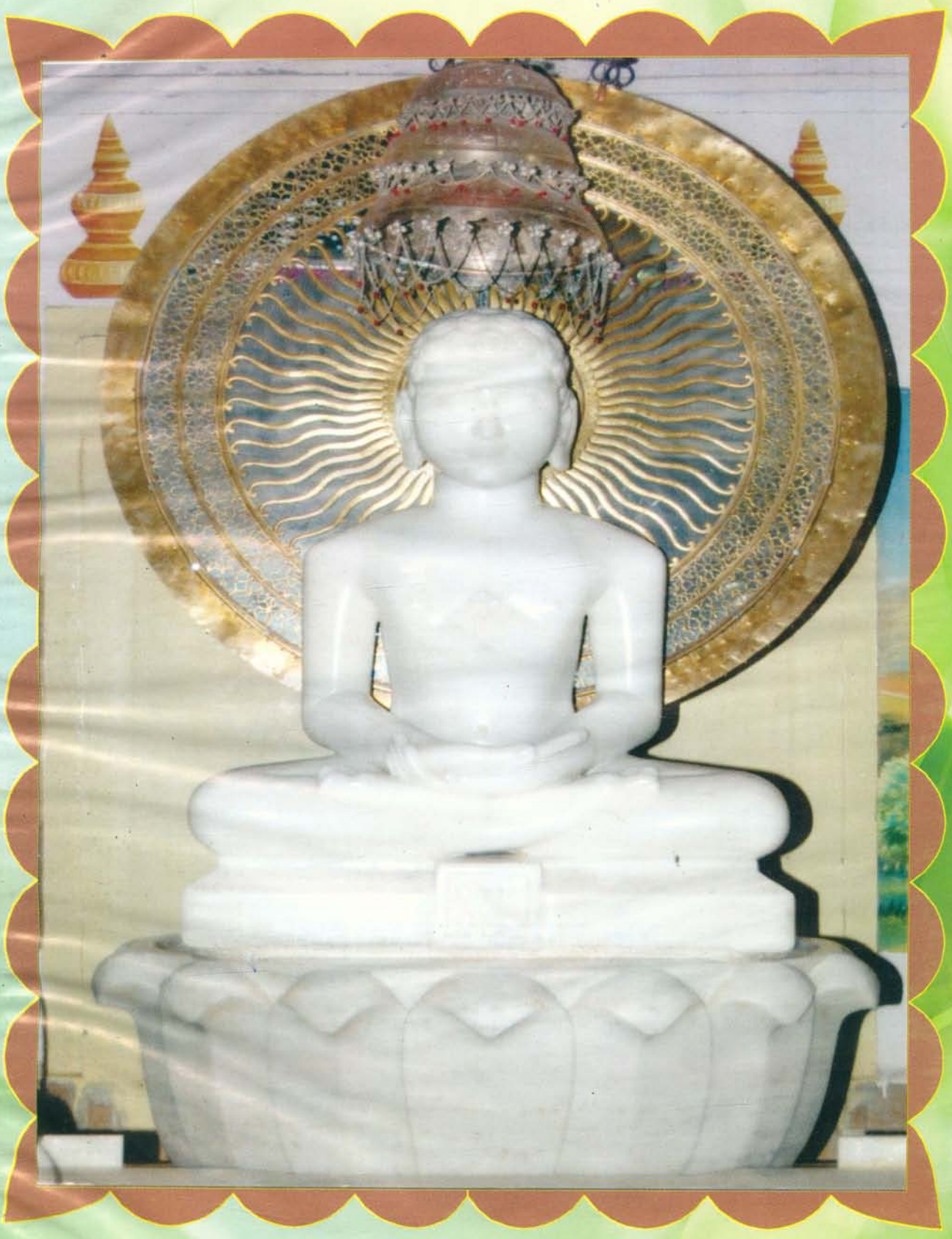

भारतीय योग परम्परा और ज्ञानार्णव

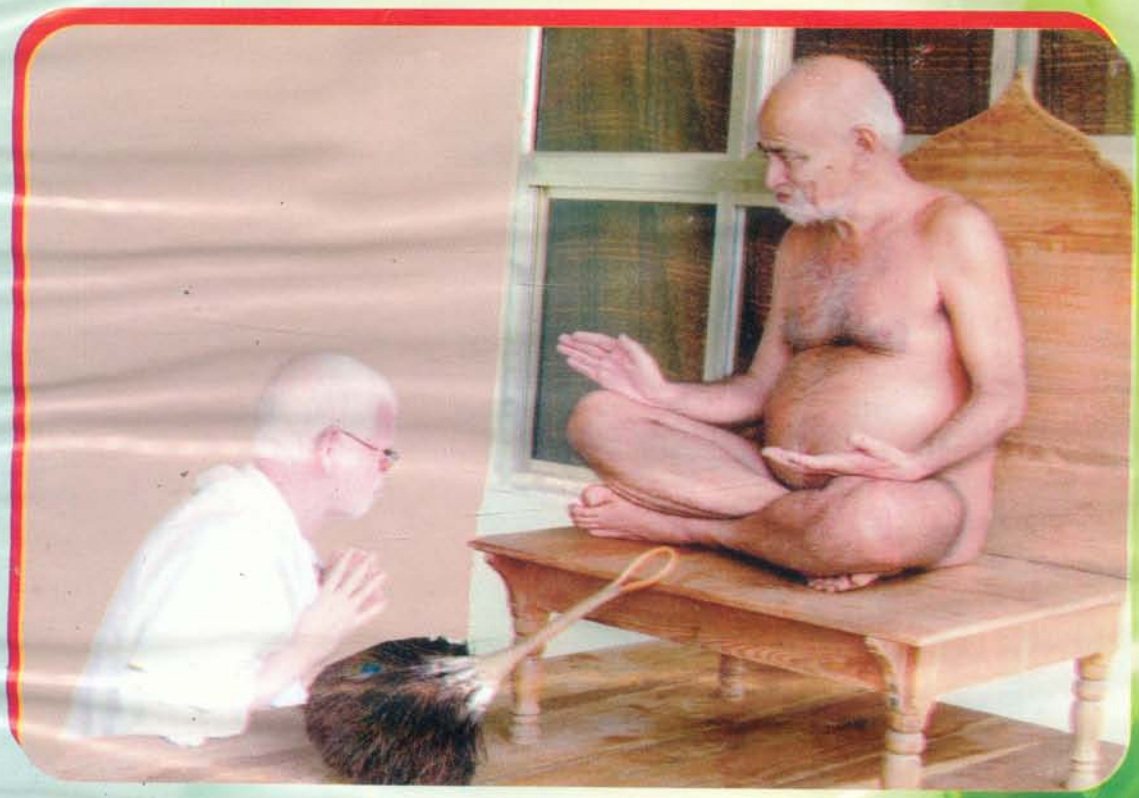

प्रस्तोता

ब्र. डॉ. राजेन्द्र कुमार जैन

निदेशक

डॉ. राजेन्द्र कुमार त्रिवेदी
विभागध्यक्ष
संस्कृत पालि प्राकृत
रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय, जबलपुर

प्रो. लक्ष्मीचन्द्र जैन
डायरेक्टर
गुलाबरानी साइंस म्यूज़ीयम
२५४, सराफा बाजार, जबलपुर

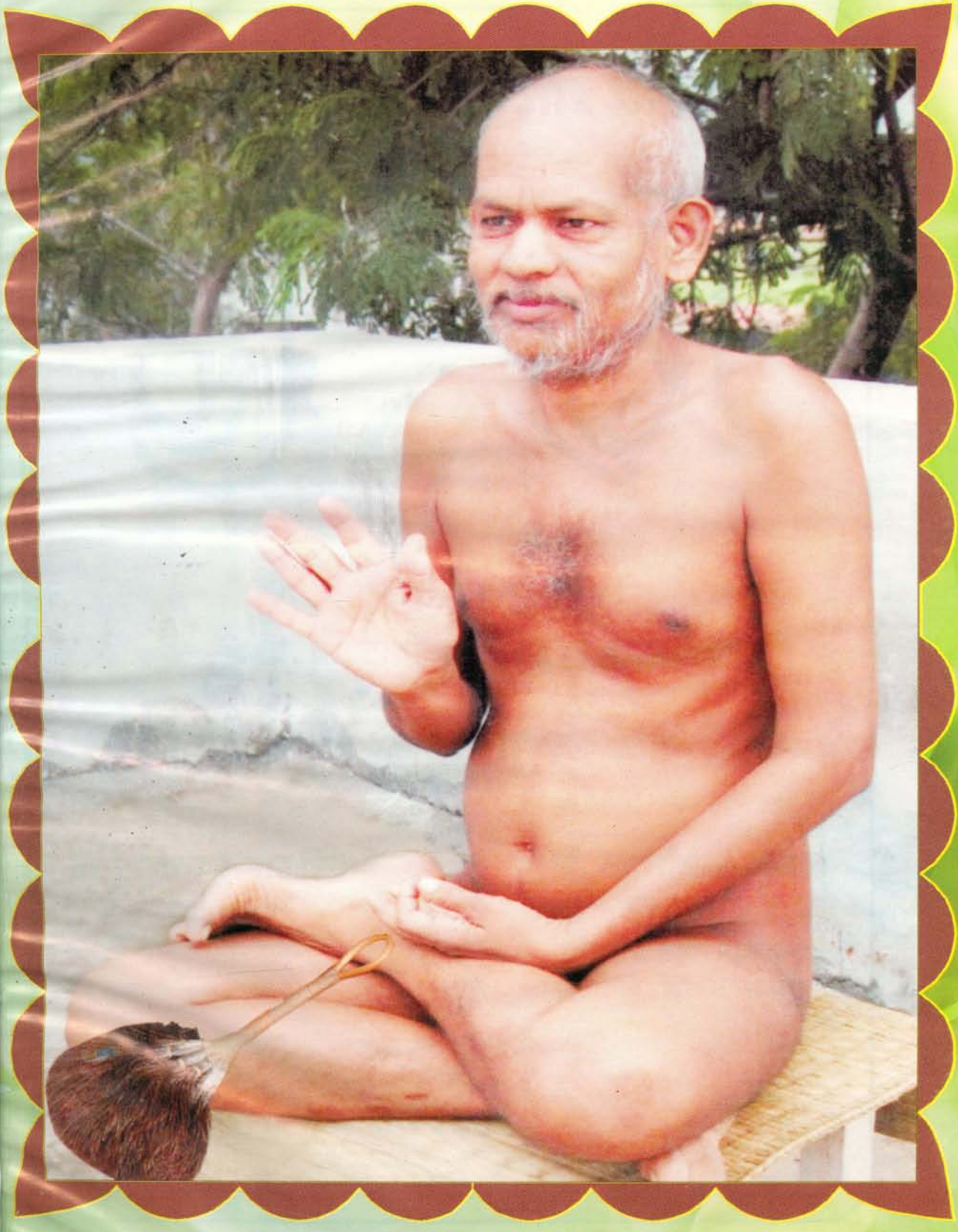

भारतीय योग परम्परा और ज्ञानार्णव

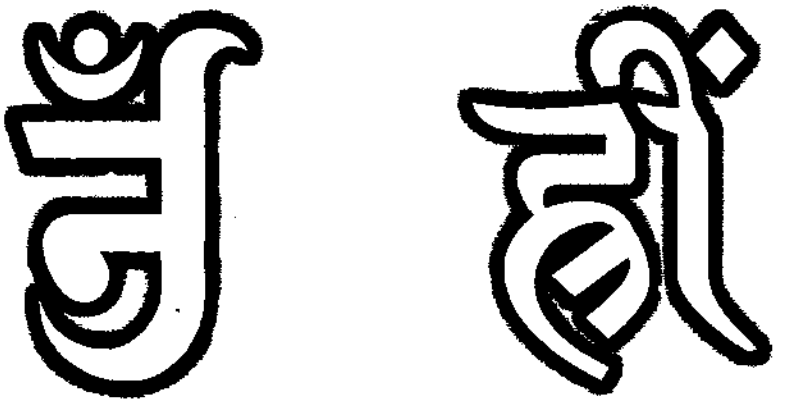

प्रस्तुतकर्ता

ब्र. डॉ. राजेन्द्र कुमार जैन

निर्देशक

डॉ. राजेन्द्र कुमार त्रिवेदी
विभागाध्यक्ष
संस्कृत पालि प्राकृत
रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय, जबलपुर

प्रो. लक्ष्मीचन्द्र जैन
डायरेक्टर
गुलाबरानी साइंस म्यूजीयम
254, सराफा बाजार, जबलपुर

वर्ष 2004

कृति : **भारतीय योग परम्परा और ज्ञानार्णव**

शोधकर्ता : डॉ. राजेन्द्र कुमार जैन

आवृत्ति : 1000

लागत मूल्य : 66.00 रूपये

पावन स्मृति : मुनिश्री 108 श्री मार्दवसागर जी महाराज, वर्षायोग, वर्ष 2011
श्री दिगम्बर जैन मंदिर, टीन शेड, टी.टी. नगर, भोपाल

अर्थ सहयोग एवं प्रकाशक : 1. श्री दिगम्बर जैन त्रिशला मंहिला मंडल,
टीन शेड, टी.टी. नगर, भोपाल
श्रीमती इन्द्रा जैन, अध्यक्ष, श्रीमती डाली जैन, सचिव,
श्रीमती उर्मिला जैन, उपाध्यक्ष, श्रीमती आशा जैन,
कोषाध्यक्ष, श्रीमती सीमा जैन, सहसचिव।
2. श्री अमित जैन, मिस कलेक्शन, भोपाल

मुद्रक : पारस प्रिन्टर्स
207/4, सांईबाबा काम्पलेक्स, जोन-1, एम.पी. नगर, भोपाल
फोन 0755-2574879, 9826240876

प्राप्ति स्थान : 1. ब्र. जिनेश जैन, श्री वर्णी दिगम्बर जैन गुरुकुल
पिशनहारी मडिया, जबलपुर (म.प्र.) मो.: 9424690598

2. श्री राकेश जैन, सर्वोदय विद्यापीठ
सिद्धायतन, छोटा करिला, सागर (म.प्र.)
फोन : 07582-271696

3. श्री प्रेमचंद जैन, पठा वाले
वर्धमान कालोनी, जैन मंदिर के सामने, लक्ष्मीपुरा, सागर (म.प्र.)
मो.: 9575978497

अनुक्रमणिका

क्रं.	विवरण		पेज नं.
1.	मंगलाचरण		iv
2.	शोध विषयक विश्लेषण	प्रोफेसर एल.सी. जैन	xi
3.	दो शब्द	डॉ. विमलचन्द जैन	xiii
4.	प्राक्कथन	डॉ. राजेन्द्र कुमार जैन	xiv
5.	प्रथम अध्याय-भारतीय योग परम्परा		01
6.	द्वितीय अध्याय-ग्रन्थ एवं ग्रन्थकार		26
7.	तृतीय अध्याय-ध्यान का विवेचन एवं महत्व		52
8.	चतुर्थ अध्याय-ध्यान की सिद्धि में सहायक सामग्री		80
9.	पंचम अध्याय-ध्यान योग का विशद वर्णन		136
10.	षष्ठ अध्याय-ध्यान की प्रक्रिया		177
11.	सप्तम अध्याय-ध्यान महत्व एवं फल		200
12.	अष्टम अध्याय-उपसंहार		217
13.	सन्दर्भ ग्रन्थों की सूची		231

मंगलाचरण

आद्य वक्तव्य

भारतीय योग परम्परा में ध्यान योग के आदिस्रोत

आदौ यो मुग्ध-बुद्धीनां, अर्याणां शिव-सिद्धये ।
स्वर्मुक्तिदं द्विधा धर्मं, दिव्येन ध्वनिनादिशत् ।।6।।

उत्पाद्य केवलज्ञानं, हत्वाघाति-रिपून् बलात् ।
महायोगासिनं नौमि, तमादि-तीर्थ-वर्तकम् ।।7।।

सुकुमाल चरित आ. सकलकीर्ति

अर्थात् जिन्होंने सरल बुद्धि आर्यों की शिवोपलब्धि के लिए आदियुग में पुरुषार्थपूर्वक घातिकर्म रूप शत्रुओं का हनन कर केवलज्ञान उत्पन्न किया तथा दिव्य ध्वनि के द्वारा स्वर्ग मोक्षदाई गृहस्थ मुनि रूप दो प्रकार के धर्म का उपदेश दिया उन आदि-धर्म-तीर्थ-प्रवर्तक महायोग निवासी ऋषभदेव को नमस्कार करता हूँ।

योगकाल कृतयुग/भ. ऋषभकाल के पूर्व भोगभूमि / भोगयुग का काल था। अन्तिम मनु/कुलकर नभिराय हुए। इनके नाम से भरत क्षेत्र के कुछ भाग आर्यखण्ड का नाम नाभिखंड हो गया यथा-हिमाद्रि-जलधे रन्तर्नाभिखण्डमिति स्मृतं / 1 / 2 / 37 / 55 / अजनाभं नामैतद् वर्षं भारतमिति यद् व्यपदिशन्ति / 5 / 7 / 3 / श्रीमद् भागवत

भ. ऋषभनाथ के उत्पन्न होने पर इनका छोटा सा ''अज'' नाम भी नाभि के पूर्व जुड़ गया तभी से अजनाभि या अजनाभ वर्ष यह संज्ञा प्रसिद्ध हुई ऐसा प्रतीत होता है। डॉ. अवधविहारीलाल अवस्थी व डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल ने नाभि को अजनाभ सिद्ध किया है।

अगणितवर्ष बाद जब आदीश के पुत्र प्र. चक्रवर्ती भरत हुए इनको जब आदिराज ने दीक्षा के समय राज्य दिया तभी से इस देश का नाम भरत से भारत रखकर जनता के समक्ष घोषणा की तभी से जनता उनकी आज्ञा शिरोधार्य कर ''भारत'' यह बोलती आ रही है भरतस्य इदं इति भारतीयं - भरत सम्बन्धी कर्म/धर्म संस्कृति / संस्कार को भारतीय कहा जाता है। तथा भरत के द्वारा आदरित योग कर्म/धर्म संस्कृति की परम्परा/सन्तति व आम्नाय भारतीय योग परम्परा है उसी योग परम्परा में ज्ञानार्णव /योगार्णव है जो यह शोध का विषय महत्वपूर्ण है जिसमें भारत की मूल परम्परा का समावेश है भारतीय शब्द व्यापक है शुभचन्द्राचार्य का योगार्णव व्याप्य है जो सिन्धु में विन्दु प्रमाण है आदिदेव से लेकर महावीर तक जितना भी यौगिक उपदेश है वह भारतीय योग है उसका अनुसरण कर जिन आचार्यों ने जो भी यौगिक कथन किया है वह भारतीय है उसमें शुभचन्द्र भी गर्भित हैं जिन्होंने योगार्णव को पार किया।

कोलम्बस आदि अंग्रेजों ने इसको इन्डिया नाम दिया, मुसलमानों ने सिन्धुस्थान के उच्चारण के विपर्यास के कारण हिन्दुस्थान कहा जैसे पाकिस्थान, तुर्किस्थान आदि। यह यहां तीसरेकाल के अन्त से अभी तक के नामकरण का संक्षिप्त इतिहास है।

सिन्धु देश में भगवान महावीर की ननिहाल थी। चेटक (चेतक) राजा व सुभद्रा रानी उनके नाना-नानी थे। जिनका प्रभाव पूरे भारत में व्याप्त था जिन की सात पुत्रियां थीं। एक त्रिशला थी जो कुमार महावीर की माता होने से जगज्जननी/जगदम्बा थीं यहां चेलना कुमारी कुशाग्रपुर/राजग्रह में राजा श्रेणिक विम्बसार की पटरानी थीं कौशाम्बी, उज्जैन, पाटलीपुत्र (पटना) विदेह देश आदि भी चेटक महाराजा के प्रभाव में थे। ज्येष्टा व सात्यकि राजा से ग्यारहवें महादेव स्थाणु रुद्र उत्पन्न हुए जो भावलिंगी महामुनि ऋद्धीधारी होकर सामान्य स्थिति को प्राप्त हुए जिन्होने उज्जैनी मसान में स्थित अपने भाई महावीर की परीक्षा ली और प्रसन्न होकर अतिवीर यह संज्ञा दी। इस तरह सिन्धु देशवासी चेटक का प्रभाव विख्यात सभी राजघरानों में था। सिन्धुघाटी की सभ्यता भी जैन भारतीय संस्कृति की परिचायक है। सर्व प्राचीन जैन वेदों में वर्णित सिन्धु नदी भी प्रसिद्ध नदी पाकस्थान आदि के अन्दर बही है जहां इतिहासज्ञों द्वारा तक्षशिक्षा की स्थिति स्वीकारी गई है। जिसके तटों से अनेक दिगम्बर जैन ऋषिगण शिवत्व को प्राप्त हुए। उन सब कारणों से भी लोग भरत क्षेत्र के कुछ मुख्य भाग को भारत से सिन्धु स्थान कहने लगे। यह नाम जैनों के महत्व का दर्शायक है। कोई कुछ भी कहे यहां के पुरावशेषयोग के सबल प्रमाण है। योगियों के फलकों से योग परम्परा की पुष्टि होती है। जैनों में योगियों की दो (खड्गासन-पद्मासन) आसनें मुख्य हैं।

लगभग दो हजार वर्ष पूर्व आध्यात्मिक सम्राट आत्मप्रवादांगांश के ज्ञाता आचार्य कुन्दकुन्द देव हुए जिन्होंने योगिभक्ति लिखी उसमें अनेक आसनों का नामोल्लिख किया। यथा -

(मू.प्रा.गा.) बहुविह पडिमट्ठाई, णिसिज्ज-वीरासणेक्क-वासीय ।
अणिट्ठीव कंडु-वदीए, चत्तद्देहेय वंदामी ।।11।।

सं.टी. ..... निषद्या चोपविष्ट-कायोत्सर्गः वीरासनं एकपार्श्वश्चते निषद्य-वीरासनैकपार्श्विनः तान्।

यहाँ तीन आसनों का उल्लेख किया गया है निषद्यासन (पद्मासन, अर्धपद्मासन, सिद्धासन पर्यंकासन आदि जो बैठे-बैठे लगाई जाए) वीरासन (वीरों की आसन, पद्मासन में दोनों हाथों को नाभि के पास करना) एक तथा पार्श्वासन (एक पार्श्व/पखवाडे/करबट से लेटकर ध्यान करना) ऐसे योग को धारण करने वाले जैन योगियों के लिए नमस्कार हो। प्रतिमास्थायी का, व्युत्सर्ग/उत्थितासन/खड्गासन/खडी आसन/ठाणी आसन भी अर्थ होता है।

दि. जैनाचार्य कुन्दकृत योगिभक्ति (अंचलिका) आदावण-रुक्खमूल-अब्भोवास-ठाण मोण-वीरासणेक्कपास-कुक्कुडासण-चउ-छ-पक्ख-खवणादि-जोग-जुत्ताणं सव्वजोई-साहूणं

अर्थात् - आतापनयोग, वृक्षमूलयोग अभ्रावकाशयोग (स्थान) खडी ठाणीयोगासन, मौनयोग, वीरासन, एक्कपर्श्वासन कुक्कुटासन चतुर्थ-क्षपणा-योग, षट्क्षपणयोग पक्षक्षपणयोग से युक्त सर्वयोगी साधु की मैं अर्चना, पूजा, वंदना, नमस्कार आदि करता हूँ।

श्री गोतम स्वामि-रचित मुनिप्रतिक्रमणा पाठ-गंत-वीर-भक्ति में महावीर की स्तुति करते हुए कहा है- ध्यानस्थिताः संयम-योग-युक्ताः एकाग्रतां गताः संयमेन द्वादश प्रकारेण यावज्जीवं व्रतलक्षणेन वा उपलक्षितो योगो मनोवाक्काय व्यापारश्चित वृत्ति-निरोधो वा तेन युक्ताः सन्तः । मूल प्रतिक्रमण ग्रन्थत्रयी पृ. 76

जेंहिं झाणग्गि-वाणेहि अइदड्ढयं। 2। धम्मवर-सुक्केक्कं-झाणं गया ।।5।। पंचपरमेष्ठी प्रा. भक्ती आ. कुन्दकुन्द

श्रेष्ठ धर्मध्यान वा प्रधान शुक्ल ध्यान में लीन साधु होते हैं यहां दो ध्यानों का कथन आया है जिसमें सभी योग समाया है। जिन सिद्धों ने ध्यान रूपी अग्निवाण के द्वारा अतिदृढ़ कठोर जन्म जरा मृत्यु रूपी तीनों नगरों को जला दिया जिन्होंने शास्वत शिव स्थान को प्राप्त किया ऐसे सिद्ध हमारे लिए श्रेष्ठज्ञान देवें। यहां ध्यान को अग्नि वाण की उपमा दी है जो अग्नि को उत्पन्न करने वाला दिव्यास्त्र होता। रयणसार में ये ही आचार्य ध्यान की महिमा का बखान करते हुए कहते हैं - झाणेण सव्वकम्म णिज्जरणं-ध्यान से सभी कर्मों की निर्जरा होती है। ध्यान को योग समाधि भी कहते हैं। इसके साधन भी जैनाचार्यों ने पूर्व में ही कहे है- झाणं हवेइ अग्गी,.....॥ 232 ॥ समयसार अर्थात् ध्यान रूपी अग्नि से कर्म जलकर मोक्ष होता है

यथा - जम-णियम-संजम-सील.....। इन्द्रभूति गोतम स्वामी रचित वीर भक्ति की अंचलिका अर्थात् यम, नियम संयम व शील आदि का दोष दूर हो।

जो सारो सव्व-सारेसु, सो सारो एस गोयम।
सारं झाणंति णामेण, सव्वं बुद्धेहि देसिदं ।।8।।

धिदिमंतो खमाजुत्तो, झाणजोग-परिट्ठिदो।
परीसहाणउरं देंतो उत्तमंवद-मस्सिदो ।।7।।

उत्तमव्रत वाला, योग, धृति व क्षमा से सहित परिसहों को हृदय से सहता हुआ ध्यान व योग में स्थित होता है। महावीर कहते हैं कि हे गोतम सभी सारों में जो सार है वह सार ध्यान सार नाम से सभी कैवल्य बुद्धि वाले तीर्थंकर बुद्धों ने कहा है। दस-विह्-धम्मज्झाणेसु (मुनि प्रति. पाठ) दश प्रकार के धर्म ध्यानों के दोष दूर होवे जिनका विशद विवेचन श्री जिनसेन देव ने हरिवंश पुराण में किया है।

द्रव्यानुयोग वेद में संवर-निर्जरा तत्व के कारण भूत ध्यान का वर्णन आता है प्रथम सूत्रग्रन्थ तत्त्वार्थ/मोक्षशास्त्र के नवमें अध्याय में इसका साङ्गोपांगवर्णन है अंतरंग तपों में अंतिम तप ध्यान है जिससे साक्षात् मोक्ष होता है चार आराधनागत तप आराधना में ध्यान का वर्णन जानना।

णमो उग्गतवाणं, णमो तत्त तवाणं । णमो घोरतवाणं, णमो दित्त-तवाणं

दि. आ. पुष्पदंत भूतबलि षट्खंडागमं के इन सूत्रों से भी ध्यान तप की महिमा प्रकट होती है। ये प्रसिद्ध सर्व प्राचीन लिखित उल्लेख हैं।

महातपा महातेजा .....।

.....।।8।।

महत् तपो द्वादशविधं तपो यस्य सः ।

महान् बारह प्रकार का तप जिनके हो। बारह तपों में मुख्य ध्यान तप है।

6. अ. महामुनिर्महाध्यानी .....।

.....।।9।।

ध्यानं धर्म्य-शुक्लध्यान द्वयं विद्यते यस्य सः ध्यानी महांश्चासौ ध्यानी ...।

महाध्यानपतिर्ध्यात-महाधर्मो महाव्रतः ।

.....।।7।।

महाध्यानस्य परमशुक्लध्यानस्य पतिः....।

महान् ध्यान परम शुक्ल ध्यान है उसके पति स्वामी अरहंतदेव ऋषभदेव को नमस्कार हो ।

महेन्द्र वन्द्योयोगीन्द्रो यतीन्दो .....।

यहा भं. ऋषभ को योगीन्द्र कहा।। 13।।

महादानो महाज्ञानो महायोगो महागुणः ।। 11 ।। पंचम अध्याय

महान योगश्चेतोनिरोधो यस्य सः अर्थात् महान् योग वाले योगीश्वर वृषभ

सदायोगः सदाभोगः, ... पृ. 65

टीका - सदा सर्वकालं योगो आसंसार-मलब्ध लाभ-लक्षणं परम शुक्लध्यानं यस्य स सदायोगः ।

सर्व-योगीश्वरोऽचिन्त्यः .....

..... योगात्माज्ञानसर्वगः ।।9।।

टीका-सर्वयोगीश्वरः सर्वयोगीनां गणधर-देवादीनां ईश्वरः स्वामी ।।62।।

योगात्मा - योगोऽलब्ध-लाभ आत्मा यस्येत्ति तथा चोक्तं अनेकार्थे - योगो विश्रब्ध-धातिनि अलब्ध-लाभे संगत्यां कार्मण-ध्यान-युक्तिषु वपुः स्थैर्य-प्रयोगे च संनाहे भेषजे घने विष्कम्मादावुपाये च।।68।। अर्थात् महान योग चित्त निरोध है, सदा आज तक जिसका लाभ नहीं हुआ ऐसा परम शुक्ल ध्यान जिनके है वे सदायोग हैं गणधरदेवों के भी ईश्वर तीर्थंकर वृषभेश्वर।

आज तक जो आत्मा प्राप्त नहीं हुई उस रूप होकर रहना योगात्मा है अनेकार्थ कोष में योग शब्द के निम्न अर्थ हैं विश्रब्ध, धाता, अलब्धलाभ, संगति, कार्मण, ध्यान, युक्ति मुक्ति, शरीर, स्थैर्य, प्रयोग, संनाह, भेषज, घन विष्कंभ आदि और उपाय।

.....

वियोगो योगविद् विद्वान्, विधाता सुविधिः सुधीः ।।3 ।।

अध्यात्म-गम्यो गम्यात्मा योगविद् योगिवन्दितः

..... ।।10।।

योग-मलब्ध-लाभं वेत्तीति। योगो ध्यान-सामग्री योगो-विद्यते येषांते योगिनः तैर्वन्दितः । पृ. 95

नमः परम-योगाय.....।

..... ।।20।।

परम-योगाय योगो/ध्यानं ध्यान-सामग्री ।
साम्यं/स्वास्थ्यं/समाधिश्च, योगश्चेतोनिरोधनं ।
शुद्धोपयोग इत्येते, भवन्त्येकार्थ-वाचकाः ॥ 1 ॥
न पद्मासनतो योगो, न च नासाग्र-वीक्षणात् ।
मनसश्चेन्द्रियाणां च, संयोगो योग उच्यते ।
परमश्चासौ योगः परम-योगः ॥ 2 ॥

विशिष्टयोगधारीत्रियोग से रहित । योग/अलब्ध लाभ को जानने वाले। योग/ध्यान की सामग्री योगियों द्वारा वन्दित आदीश्वर प्रभु थे साम्य, समाधि, योग, चित्त-निरोध शुद्धोपयोग ये सभी एकार्थवाची है।..... न सिर्फ पद्मासन या नासाग्र दृष्टि से योग होता योग तो इनके होने पर मन और इन्द्रियों के आत्माभिमुखी होने से होता है। आत्माभिमुखी परम योगी / उत्तम योगी कहिलाते है।

प्रशान्तारि-रनन्तात्मा, योगी योगीश्वरार्चितः
..... ।।9।।

योग - चेतोनिरोधनं विद्यते यस्य सः योगी योगीश्वरार्चितः। यम-नियमासन-प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणाध्यान-समाधि-लक्षणा अष्टौ योगाविद्यन्ते येषां ते योगिनः योगिनां मुनीनां ईश्वरा गणधरदेवादयस्तैरर्चितः पूजितः सः अथवा योगी चासौ ईश्वरश्च सयोग-केवली। सचासौ अर्चितः योगीश्वरार्चितः। अथवा योगोविद्यते यस्य सचासौईश्वरः रुद्रः तेनार्चितः।

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार धारणा, ध्यान और समाधिइन आठ योगांगों द्वारा योगी होता है ऐसे योगी भी जिनके पूजक है वे ऋषभदेव हैं। ईश्वर/रुद्र के द्वारा अर्चित भगवान आदिजिनेश्वर। इस तरह से भगवज्जिन सहस्र नाम में महायोगी आचार्य जिनसेन स्वामी ने इन नामों के द्वारा योग, ध्यान व समाधि का वर्णन किया है जो अपूर्व है अमरकीर्ति टीकाकार ने अष्टांग योग के नामों का स्पष्ट उल्लेख किया है।

अन्य आशाधरकृत आदि सहस्रनामों के योग ध्यान परक नाम योगविषयक प्रसिद्धी को दर्शाते हैं। इन सब कथनों से सिद्ध होता है कि योग के आदि प्रणेता ऋषभदेव थे। वैदिक आचार्य श्री स्वामिकर्मानन्दजी ने योग के आदि प्रणेता ऋषभदेव नाम की एक पुस्तिका लिखकर सबल प्रमाणों द्वारा यह पुष्ट किया है।

तथा वेदों के आधार पर धर्म का आदि प्रवर्तक (इतिहास की एकनवीन खोज) में लेखक स्वामि कर्मानन्द जी ने लिखा है कि पुराना धर्म/योग, पूर्व समय में हिरण्यगर्भ प्रजापति (वृषभ) ने ज्ञानयज्ञ प्रचलित किया था, यह यहां स्पष्ट है उस ज्ञानयज्ञ का प्रचार भारत में नहीं अपितु सर्वत्र फैल गया इसके पश्चात् द्रव्य यज्ञ का आविष्कार हुआ वह भी अहिंसा प्रधान परंतु मूर्ख देवों ने इसके उल्टे अर्थ लगाये और पशु आदि का यज्ञ होने लगा। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि सबसे प्रथम ज्ञानयज्ञ/भावयज्ञ (भाव पूजा) का ही आविर्भाव हुआ। उसी भाव पूजा को योगधर्म के नाम से कहा जाता है। वर्तमान पातञ्जलयोग शुद्ध, योग का ग्रन्थ नहीं है अपितु सांख्य मिश्रित योग शास्त्र है। पुरातन योग शास्त्र तो गीता के कथनानुसार पहले ही नष्ट हो चुका था।

• स चायं दीर्घकालेन योगो नष्टः परतपः। गीता तथा वर्तमान योग के भाष्यकार ने अन्त में लिखा है कि यहां ''सांख्यप्रवचनं'' इस विशेषण से स्पष्ट है कि सांख्य के आधार के अलावा भी योग शास्त्र यहा था और वह था हिरण्य गर्भ आदिब्रह्मा का बनाया हुआ योगशास्त्र अथवा किसी अन्य नाम से इस विषय का ग्रन्थ।

हम अपनी पुष्टि में यजुर्वेद का प्रमाण उपस्थित करते हैं - यज्ञेन यज्ञ-मजयन्त देवाः ।
यह मंत्र अध्याय 31 में है इसका भाष्य करते हुए भाष्यकार श्री महीधर लिखते हैं कि -
यज्ञेन मानसेन संकल्पेन..... यज्ञं यज्ञ-स्वरूपं प्रजापतिमयजन्त .....।

अर्थात् - देवों ने मानस संकल्प रूप यज्ञ से यज्ञस्वरूप प्रजापति की पूजा की। बस हमारा अभिप्राय सिद्ध हो गया कि इन वर्तमान वेदों से पहले जो धर्म थे वे मुख्यतया भावपूजक धर्म थे..... बस गीता, महाभारत, पुराण, तथा वेद और सम्पूर्ण साहित्य इसकी साक्षी देता है कि वर्तमान नवीन वेदों से पहिले जो यहां धर्म था वह वर्तमान याज्ञिक धर्म से भिन्न आत्मवाद का धर्म था। उसका नाम योगमार्ग/मोक्षमार्ग /(जैन) जिनमार्ग आदि आप कुछ भी रख लें। वर्तमान योग दर्शन भी नवीन योगमार्ग है वह प्राचीन तो नष्ट हो गया।

जैसा कि गीता में कहा है -

स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतपः .....। वह योग दीर्घकाल से नष्ट हो चुका है। श्रीयुत कर्मानन्द जी के शोध से यह सिद्ध होता है कि विज्ञात योगागम से पूर्व प्रजापति भगवान ऋषभदेव के द्वारा प्रतिपादित योगविद्या के शास्त्र थे जो तीर्थंकर परम्परा द्वारा महावीर तक आए फिर केवली जिनों की परम्परा में श्रुतकेवली भद्रबाहु (चन्द्रगुप्त के गुरु) को प्राप्त हुए इसके पश्चात् क्रमशः उनका ह्रास होता गया। अभी भी उसके अंश जैनागमों में प्राप्त होते हैं मुस्लिम व अंग्रेजों के आक्रमणों में कुछ महत्वपूर्ण जैन वेदों का नाश हो गया। आदिशंकराचार्य के जैनों पर आक्रमण हुए जिसमें अनेक जैन शिक्षालयों/ज्ञान केन्द्रों को परिवर्तित कर नष्ट भ्रष्ट कर दिया गया। बौद्धों के आक्रमणों ने भी जैनागमों को आहत किया। पुण्य से जो भी जैन वेद प्राप्त हैं वे भी पर्याप्त हैं।

ब्र. डॉ. राजेन्द्र कुमार जी ने जब ज्ञानार्णव जी के सम्बन्ध में शोध की बात की तो सुनते ही आत्मा में योग का संचार हुआ मैं योगविद्या विषयक, योगानुशीलन, योग के आदि प्रणेता भ. ऋषभदेव आदि का आडोलन कर तद्विषयक महत्व से आकर्षित था, अतः सब जानकारी लेकर मन को योगाब्धि में तैराने का प्रयास करने लगा उससे जो रत्न प्राप्त हुए उनको सम्हालकर रखा दमोह शिविल वार्ड/राजीव कालोनी, सागर वर्धमान कालोनी शान्तिनगर, आदिश्वरगिरि नुहटा देवरी के प्रवास काल में ज्ञानपिपासु ब्र. राजेन्द्र ने आकर विचार विमर्श मांगा मैं अन्य साहित्यिक कार्य छोड़कर इनके सहयोग में लग गया और इनके द्वारा अनुवादित ध्यानसार को देखकर प्रसन्नता हुई उसका देवरी (बीना वारहा) के चातुर्मास में प्रशिक्षण प्रारंभ किया। कुछ अशुद्धियों का संशोधन किया पर्याप्त विवेचन किया गया। मैं प्रायः आध्यात्मिक शास्त्रों का पद्यानुवाद करता था। अब ब्रह्मचारी जी के सुझाव से अनुपलब्ध अननुवादित शास्त्रों का अनुवाद आदि कार्य प्रारम्भ किया है।

अभी जिनदत्तचरित, महीपालचरित, सुकुमालचरित, रेवानदीपूजा, सुभाषितार्णव, तत्वविचार सार, परमागम सार, हनुमान चरित आदि का अनुवादन सम्पादन कार्य प्रारंभ है। कुछ ध्यानागमों का अनुवाद भी किया था जो अभी तक छपे नहीं है। इसी कार्य में रुचि लेने लगा मुझको भी कुछ नया सीखने को मिला। ब्र. जी साधनहीन होने पर भी भारी पुरुषार्थशील हैं चारित्रिक उच्चता के कारण इन्होंने बड़े उद्यम से विद्या का अर्चन-अर्जन किया है मैंने इनको छोटे से ही प्राथमिक धार्मिक शिक्षण दीक्षण दिया है। स्वाभिमान, सहिष्णुता, निर्विवादपन, पन्थनिर्पेक्षता, आगमानुवर्तित्व शिक्षण आदि ये गुण इनमें कूट-कूट कर भरे है। दृष्टिहीनता होने पर इतनी उच्चशिक्षा को प्राप्त करना इनके ही वश की बात है। इन्होंने प्रस्तुत शोध प्रबन्ध लिख कर दिगम्बर जैनों के एक प्रथम अभाव की पूर्ति की है जो सराहनीय है।

इनकी लगन, निष्टा को देखकर मैं भी शिक्षा लेता रहता था इनको शोध सामग्री को एकत्रित करने में जो दिक्कत हुई वह दिल को द्रवीभूत करने वाली थी। श्री सम्मेद शिखर की यात्रा के दौरान मैंने पूरी सहायता आरा पटना, राजगृह, बनारस आदि के सरस्वती भंडारों में की। एक बार लगा कि अब कार्य पूरा नहीं हो पाएगा समयावधि अधिक हो गई परंतु पुण्य ने जोर पकड़ा विकलांग पने का फायदा मिला। शोध प्रबन्ध जमा हो गया, सफलता प्राप्त हुई। डॉ. अब्दुल कलाम भूतपूर्व राष्ट्रपति ने पी.एच.डी. को सम्मानित कर अवार्ड किया।

ब्रह्मचारी जी कठिन उद्यमी हैं अनेक जगहों से हस्तलिखीत प्रतियां लाकर मुझे दिखाकर अनुवादन का निवेदन करते हैं। प्रायःकर छोटे-छोटे चरित्र ग्रन्थ जो आज तक मूल संस्कृत के साथ नहीं छपे वे हस्तलिखित में ही दीमक के भोजन बन रहे हैं आगे चलकर मूल साहित्य का लोप हो जाएगा इस भय से भयभीत होकर पं. हीरालाल को हस्तलिखित से आधुनिक लेखन करने के लिए प्रेरित किया है अभी उन्होंने सुकुमाल, महीपाल, हनुमान चरित आदि को अपनी राइटिंग में किया है, वेजोड साहित्य है प्रथमबार देखकर हर्ष हुआ अब मैं अनेक प्रतियों से शुद्ध कर रहा हूं तुरंत अनुवादन कर कंपोजिंग करवाकर छपवाने का विचार है। ब्र. संतोष जी आमनपुर, जबलपुर का इसमें महत्वपूर्ण योगदान है।

इसके पूर्व इन्होंने तत्वविचार सार कृति को छिंदवाड़ा चातुर्मास में अनुवादितं किया व हमसे करवाया कुछ अशुद्धि के साथ छप गई फिर सागर के दो चातुर्मासों में मैंनें संस्कृत छाया की फिर कम्पोजिंग हुई, उसी समय भगवान पार्श्वनाथ के अनेक साहित्यिक स्तोत्रों का अनुवादन किया गया जिनको शान्तिनगर व सुभाष नगरीय सागर जैन समाज ने छपवाया। देवरी, बीना बड़ी बजरिया नोहटा, गैरतगंज आदि के वित्तीय सहयोग से तत्वविचार सार का नया बृहद्रूप छपने वाला है। सागर उदासीन आश्रम दिगम्बर जैन समाज के सहयोग से जिनदत्त चरित्र छप रहा है। राजधानी भोपाल के चातुर्मास के दौरान यह शोध प्रबन्ध त्रिशला महिला मंडल टी.टी. नगर, भोपाल द्वारा छप रहा है सबके लिए सदा धर्म ज्ञान वृद्धि रूप आशीर्वाद रहे। इस महत्वपूर्ण अभियान में सम्मिलित होकर विज्ञजन धर्मार्जनकर आत्मिक ज्ञानोन्नति करें।

ऐसी मेरी सद्भावना है।

-मुणि मद्दवसायर

शोध विषयक विश्लेषण

निर्देशक : प्रोफेसर एल.सी. जैन, जबलपुर

''भारतीय योग परम्परा और ज्ञानार्णव'' विषय पर डॉ. राजेन्द्र कुमार जैन द्वारा प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के रूप में एक अनुपम कृति को तैयार करने का अद्वितीय प्रयास किया गया है। जैनदर्शन में आचार्य शुभचन्द्र रचित (लगभग 10-11वीं सदी में)ज्ञानार्णव आध्यात्मिक ध्यान योग का प्रतिनिधि ग्रन्थ माना जाता है जिसमें ध्यान साधना से संबंधित प्रायः सम्पूर्ण सामग्री उपलब्ध है।

ज्ञानार्णव में साधनामय जीवन जीने वाले साधकों के लिए साधनामार्ग के साधक व बाधक कारणों का विवरण जिस पारदर्शिता एवं विशदता के साथ प्रस्तुत किये गये हैं, उनकी प्रासंगिकता आज भी उतनी ही महत्वपूर्ण है जैसी उसके रचनाकाल में रही होगी। उसका मुख्य कारण वर्तमान में मानव की आपाधापी और तनावपूर्ण जीवनशैली की विवशता है जिसके फलस्वरूप आध्यात्मिक सुख-शान्ति से दूर हो अपने परम लक्ष्य से ही भ्रष्ट होता दिखाई देता है। उसे सुखमय जीवन जीने का समीचीन मार्गदर्शन एवं लक्ष्य की ओर गतिशील करने के लिए ऐसे ही सर्व सम्मत ग्रन्थराज सहायक हो सकते हैं।

आचार्य शुभचन्द्र ने ध्यान योग्य आसन के साथ ध्यान योग्य स्थान का भी वर्णन किया है। उन्होंने वर्तमान को दृष्टि में रखते हुए कायोत्सर्ग और पर्यंकासन को ध्यान के योग्य माना है। प्राणायाम के विषय में उनका मत है कि ध्यान की सिद्धि के लिए तथा अन्तःकरण की एकाग्रता के लिए प्राणायाम उपयोगी है। उनके अनुसार विवेकशील साधकों को प्राणायाम का पहले ही अभ्यास कर लेना चाहिए। उसके बिना मनोविजय कर पाना संभव नहीं है। उन्होंने प्राणायाम के पूरण, कुम्भक और रेचक ये तीन भेद किये हैं। *साथ ही, प्रत्याहार और धारणा का एक साथ वर्णन किया है।*

भारतीय योग परम्परा में वैदिक, जैन और बौद्ध इन तीनों प्रमुख परम्पराओं में ध्यान-योग एवं आचार विषयक विपुल साहित्य उपलब्ध है। शोध प्रबन्ध में लेखक द्वारा अनेक शास्त्र भंडारों व पुस्तकालयों से शोध सामग्री का संकलन तथा अनेक विद्वानों से सम्पर्क कर अनेक सुझावों व विचारों को परिवर्तन और परिवर्द्धन करने का उद्यम किया गया है।

शोध ग्रन्थ में शुभचन्द्र से पूर्ववर्ती कुन्दकुन्दाचार्य जैसे जैनाचार्यों की रचनाओं को तुलनात्मक विवेचन का आधार बनाया है। शोध प्रबन्ध उपसंहार सहित आठ अध्यायों में विभक्त है। पहले अध्याय में योग परम्परा व उसके क्रमिक विकास आदि वैदिक ग्रन्थों में प्रतिपादित योग विषय की चर्चा की गई है। द्वितीय अध्याय में आचार्य शुभचन्द्र का परिचय वर्णित है। ऐसे महान् योगी, महाकवि साधक आचार्य शुभचन्द्र ने सर्वजनहिताय ज्ञानार्णव जैसे महाग्रन्थराज की रचना की। इस ग्रन्थ में महर्षि ने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष से चार पुरुषार्थ बतलाये हैं। इनमें शुरु के तीन विनाशी हैं और एक मोक्ष पुरुषार्थ ही अविनाशी है।

ध्यान के तीन भेद होते हैं-पुण्याशय या शुभापयोग व इसके विपरीत पापाशय या अशुभोपयोग और इन दोनों से रहित शुद्धाशय या शुद्धोपयोग। जीवों के पापरूप आशय के कारण मोह, मिथ्यात्व, कषाय और तत्त्वविभ्रम से अप्रशस्तध्यान होता है। कषाय के क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार भेद पाप के आशय हैं जिनसे निरन्तर अशुभध्यान होता रहता है। अशुभध्यान के फलस्वरूप नारकी, तिर्यञ्च और कुमानसों में उत्पन्न होकर संसार में परिभ्रमण करता हुआ उनके दुःखों को भोगता है और शुद्धध्यान के प्रभाव से केवलज्ञान को उत्पन्न करके सकल परमात्मा होकर मुक्ति को प्राप्त करता है। इन्हें ही शुभ, अशुभ और शुद्ध ध्यान भी कहते हैं। इन तीनों ध्यानों के फल में शुभध्यान से स्वर्गीय सुख की प्राप्ति के साथ परम्परा से मोक्षसुख की प्राप्ति होती है।

ध्यान के विविध भेद नामक पाँचवे अध्याय में ध्यान के प्रशस्त और अप्रशस्त भेद हैं। अप्रशस्त के दो भेद आर्त्त और रौद्रध्यान संसार के कारण होने से त्याज्य हैं। प्रशस्त के दो भेद धर्म्य और शुक्लध्यान मोक्ष के कारण होने से उपादेय हैं। ध्यानों के भेद-प्रभेदों का विस्तार से वर्णन किया गया है। प्रत्येक ध्यान का स्वरूप, अन्तर-बाह्य लक्षण, लेश्या, स्वामी, फल आदि का विवेचन किया गया है। छठवें अध्याय में ध्यान की अन्तरंग प्रक्रिया के अंतर्गत बारह भावना, कषायनिग्रह, इन्द्रियविजय, रागद्वेष निषेध, साम्यभाव की महिमा आदि विषयों का विवेचन किया गया है। सप्तम अध्याय में ध्यान के महत्त्व और उसके फल का विवेचन किया गया है। उपसंहार अन्तिम अध्याय है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि यह ग्रन्थ शोधार्थियों को नई दिशा में शोध एवं पाठकोंको उत्तम जीवनशैली हेतु प्रेरित करने में उपयोगी सिद्ध होगा।

इत्यलं।

वीर नि. सं. 2538

प्रस्तुति -डॉ. अर्जित कुमार जैन
(जनरल मैनेजर म.प्र. लघु उद्योग निगम मर्यादित)
एम 8/4, गीताजंली काम्पलैक्स,
कोटरा सुल्तानाबाद, भोपाल (म.प्र.)

दो शब्द

प्रस्तुत शोध प्रबंध में भारतीय योग परम्परा का विस्तार से चित्रण किया गया है। ब्र. राजेन्द्र जैन ने प्राचीन जैन साहित्य-प्राकृत व संस्कृत के उद्धरणों द्वारा यह सिद्ध करने का सफल प्रयास किया है कि योगविद्या भारतवर्ष की उत्कृष्ट और अत्यंत प्राचीनकालीन विद्या है। अपने कथन की पुष्टि में शोध प्रबन्ध लेखक ने कतिपय प्रचलित विशिष्ट पत्रिकाओं में ध्यान और सम्बंधित अंग्रेजी विषयक पुस्तकों का भी उपयोग किया है अपने कथन को पुष्ट करने के लिए प्रबंध, लेखक की योग व ध्यान बाबद विस्तृत सोच प्रकट करता है। इस प्रबंध में विशेषत: आचार्य शुभचन्द्र रचित ''ज्ञानार्णव'' तथा उसी से सम्बंधित उपलब्ध अन्य कृतियों का भी उल्लेख किया है। लेखक ने द्वितीय अध्याय में ''ज्ञानार्णव'' ग्रन्थ का सम्बद्ध सारांश दे दिया है। योग एक ऐसी विद्या है जिसमें मनुष्य बाह्य दृष्टि से परे हटकर अपनी अन्तर्दृष्टि पर एकाग्रचित्त होकर चेतनतत्त्व से भली-भांति परिचित हो जाता है। इसकी अंतिम परिणति इस असार संसार से मुक्ति है, जिन केवली की स्थितियाँ तप और ध्यान हैं। ध्यान को जैन परम्परा में विशिष्ट और उच्च स्थान दिया गया है। योग परम्परा का ऐतिहासिक वर्णन दृष्टव्य है।

कृति में ध्यान का विशद वर्णन विभिन्न जैन शास्त्रों के उदाहरण देते हुए सरल एवं स्पष्ट बोधगम्य भाषा में, किया गया है। इससे मेरा तात्पर्य है कि ध्यान योग के विभिन्न भेदों-प्रभेदों की विशद व्याख्या की गई है। इसी क्रम में ध्यान की विविध प्रक्रियाओं पर प्रकाश डाला गया है। इसके अंतर्गत इस बात पर प्रचुर बल दिया गया है कि ध्यान कषाय-निग्रह का सर्वोत्तम उपाय है। अथवा इसे इन्द्रिय-विजय शब्द से भी अभिहित किया जा सकता है।

इन्द्रिय-निग्रह पर विचारते हुए लेखक ने बारहाभावनाओं का चिंतन करतेहुए मानव अपने विकारी भावों पर किस बुद्धि बल से विजय प्राप्त कर स्वयं को निर्मल कर लेता है, उसे इसे आकर्षक भाषा शैली में व्यक्त किया है। ध्यान-योग के महत्त्व और उसके फल पर भी दृष्टिपात किया है। ध्यान के तीन प्रकारों पर विचार करते हुए सर्वश्रेष्ठ शुक्ल ध्यान की और इंगित करते हुए इसे ही मोक्ष प्राप्ति का सर्वोच्च साधन बतलाया है। अन्त में योग वर्णित दर्शन में लब्धियों के साथ-साथ जैन योग और बौद्धयोग में इनपर तुलनात्मक दृष्टि डाली है। और-तो-और अपने विषय को स्पष्ट करने में लेखक ने गणधर देव में पाई जाने वाली आठ ऋद्धियों पर प्रकाश डाला है। ये ऋद्धियां कमोवेश रूप में मानव के ध्यान योग में सहायक सिद्ध होती हैं।

लेखक ने अपनी विषय वस्तु को उचित रूप से प्रतिपादित करने में कोई कसर बाकी नहीं रखी। इस तथ्य से नहीं मुकरा जा सकता कि प्रबंध को आद्योपांत पढ़ने से मानव योग एवं ध्यान जैसे आध्यात्मिक विषय को सहजता से हृदयंगम कर लेता है, जिसका श्रेय लेखक की प्रांजल भाषा व प्रस्तुत करने की शैली को जाता है। प्रस्तुत शोध प्रबंध में डॉ. राजेन्द्र जैन की भरपूर अध्यवसायतो व कठोर परिश्रम का पता चलता है।

डॉ. विमलचन्द जैन
एम.ए.,पी.एच.डी. (हिन्दी)
भोपाल दिनांक .....

प्राक्कथन

कुछ वर्ष पूर्व मैंने ध्यानसार नामक लघुकाय ग्रन्थ का हिन्दीअनुवाद किया था। उस समय मन में विचार आया कि जैन योग-ध्यान विषयक उपलब्ध सभी ग्रन्थों को संग्रहीत कर एक जैन-ध्यानकोश बनाया जाय किन्तु बाद में विज्ञजनों के परामर्श से जैनदर्शन के किसी विषय को लेकर शोध प्रबन्ध लिखा जाय, यह भावना प्रबल हो उठी। बहुत ऊहापोह करने के बाद जैन परम्परा में ध्यान विषय पर शोध कार्य करने का निर्णय प्रोफेसर लक्ष्मीचन्द्र जी के परामर्श से लेने की ओर प्रवृत्त हुआ। किन्तु उन्होंने अपने सुझाव में इतना और जोड़ दिया कि अच्छा हो किसी ग्रन्थ पर ही शोध किया जाये। यह विचार मुझे ग्राह्य लगा। मैंने तुरन्त ही आचार्य शुभचन्द्र विरचित ज्ञानार्णव को अपने शोध का विषय बनाया। क्योंकि आध्यात्मिक विषयों में मेरी विशेष रुचि अध्ययन काल से ही रही है और जैनदर्शन में ज्ञानार्णव आध्यात्मिक ध्यान योग का प्रतिनिधि ग्रन्थ माना जाता है। इसमें ध्यान साधना से सम्बन्धित प्रायः सम्पूर्ण सामग्री उपलब्ध है। इसलिए ज्ञानार्णव ग्रन्थ एवं ग्रन्थकार आचार्य शुभचन्द्र के प्रति मेरी विशेष श्रद्धा-भक्ति व अनुराग सदा विकसित होता रहा है।

जब मैंने शोध कार्य आरम्भ किया, तब तक मुझे इसकी जानकारी नहीं हो सकी थी कि इस ग्रन्थ पर मुझसे पहले भी किसी ने शोधकार्य करने का उद्यम किया है। इसी दौरान मुझे ज्ञात हुआ कि साध्वी डॉ. दर्शनलता जी ने ज्ञानार्णव पर एक शोध प्रबन्ध प्रस्तुत किया था और वह अब प्रकाशित भी हो गया है।

मैंने सोचा इतने महान् योगी, महाकवि एवं सन्त के सम्बन्ध में एक नहीं अनेक शोध प्रबन्ध लिखे जाए तब भी कम होगा। अतः ऐसा विचार करके मैंने इस कार्य को जारी रखा।

ज्ञानार्णव में साधनामय जीवन जीने वाले साधकों के लिए साधनामार्ग के साधक व बाधक कारणों का विवरण जिस पारदर्शिता एवं विशदता के साथ प्रस्तुत किये गये हैं, उनकी आज भी प्रासंगिकता उतनी ही है जैसी उसके रचनाकाल में होगी। कारण आज का मानव जिस आपाधापी और तनावपूर्ण जीवन जीने को विवश होता हुआ आध्यात्मिक सुख-शान्ति से दूर हो अपने परम लक्ष्य से ही भ्रष्ट होता दिखाई देता है। उसे जीवन जीने का समीचीन मार्गदर्शन एवं लक्ष्य की ओर गतिशील करने के लिए ऐसे ही ग्रन्थराज सहायक हो सकते हैं।

इस शोध कार्य को करने में मुझे अपेक्षाकृत विलम्ब हुआ, इसका प्रमुख कारण नेत्रज्योति की मन्दता है। अन्य कारणों में साहित्य की अनुपलब्धता एवं सहयोगियों के

आश्वासन के बाद भी उनका सहयोग न मिलना भी है। सहयोग की प्रतीक्षा में ही एक वर्ष व्यतीत हो गया।

जैसे-तैसे इस कार्य में मैं प्रवृत्त हुआ। मुझे इस दौरान अनेक विद्वानों से सम्पर्क करने का सुअवसर आया। सर्वप्रथम ही मुझे जैन विद्वत्परम्परा में विश्रुत एवं मान्य स्व. डॉ. दरबारीलाल जी कोठिया, बीना का समागम प्राप्त हुआ। जिन्होंने मुझे विषयचयन करने के निमित्त अनेक सुझाव दिये। उनकी विद्यार्थियों के प्रति उमड़ने वाली सहज सहानुभूति व उचित परामर्श की वृत्ति मुझे आज भी याद है। डॉ. कमलचन्द्र सोगाणी से जयपुर में ही भेंट हुई। उनके सुझाव व उचित मार्गदर्शन मेरी कार्य प्रणाली को तय करने में सहायक हुआ। आचार्य संस्कृत महाविद्यालय के प्राचार्य डॉ. शीतलप्रसाद जी ने मुझमें जिस उत्साह का संचार किया, वही मेरे कार्य को प्रगति के पथ पर अग्रसर करने का एकमेव साधन रहा। उन्होंने मेरे द्वारा नियोजित किये गये विचारों को देखा-सुना ही नहीं अपितु उनमें अपेक्षित परिवर्तन और परिवर्द्धन कराने का पुरुषार्थ भी किया। वाराणसी प्रवास के दौरान पार्श्वनाथ विद्याश्रम के निर्देशक डॉ. भागचन्द जैन 'भास्कर' एवं सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के जैनदर्शन विभागाध्यक्ष डॉ. फूलचन्द्र जैन 'प्रेमी' से जो महत्त्वपूर्ण विमर्श हुआ वह हमारे कार्य का पाथेय रहा।

मुनि श्री 108 मार्दवसागर जी महाराज के साथ सम्मेदशिखर जी की तीर्थयात्रा का शुभ प्रसंग आया। उस दौरान जहाँ मुझे आचार्य शुभचन्द्र के निर्देशों के अनुसार अनेक बार साधनामय जीवन जीने के अवसर उपलब्ध हुए, वहीं अनेक स्थानों पर सरस्वति भवनों के अवलोकन का लाभ भी। जिनसे मेरे विचारों एवं लेखन कार्य में पर्याप्त विकास हुआ।

इस शोध प्रबन्ध को आकार देने की मुझमें किञ्चित् भी सामर्थ्य नहीं होती, यदि माँ जिनवाणी एवं उनके सपूतों की परम शीतल व सुखद छाँव मेरे सिर पर न होती। इसमें व्यक्त भाव माँ जिनवाणी की गोद में खेलने वाले शिशु की भाँति तोतली भाषा में ही हैं। उनके अभिप्राय यथावत् रखने में यदि कहीं कोई त्रुटि हुई हो तो वे मुझे इतना ज्ञान दें कि उसे निकाल सकूँ और उनके उद्देश्यानुकूल मैं भी उनके प्रति अपना पुरुषार्थ कर सकूँ। माँ जिनवाणी एवं उनके लाडले आचार्य भगवन्तों के प्रति मैं शतशः नमन करता हुआ प्रमुदित होता हूँ।

सम्यग्दर्शन, ज्ञान व चारित्र की साक्षात्मूर्ति तपःपूत, धर्मप्रभावक, परम श्रद्धेय पूज्य गुरुदेव दिगम्बर जैनाचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज के श्री चरणों में सादर नमोऽस्तु निवेदित करता हूँ। क्योंकि इस कार्य को करने में सर्वप्रथम आपका आशीर्वाद मिला। प्रथम प्रतिमा एवं ब्रह्मचर्यव्रत के संकल्प और धार्मिक एवं संस्कृत भाषा के विशेष

अध्ययन हेतु आपका मार्गदर्शन व आशीर्वाद रहा है। आपके श्री चरणों का सान्निध्य मुझे जिनकी असीम कृपा से प्राप्त हुआ ऐसे पूज्य मुनिवर मार्दवसागर जी महाराज के श्री चरणों में नमन करता हूँ। आपका मेरे ऊपर विशेष अनुग्रह रहा है। मेरी धार्मिक शिक्षा का प्रारम्भ इन्हीं के अनुग्रह से हुआ। यद्यपि आप मेरे अग्रज भी हैं व जीवनमार्गदर्शक भी। शोध सम्बन्धी कार्यों के लिये भी आपका सांनिधान ही मुझे प्राणवायु की तरह कार्यकारी रहा। आपके द्वारा मेरे लिए किया गया परिश्रम एवं चिन्तन दोनों ही अऋण न होने वाले उपकार के समान हैं।

संघस्थ अन्य साधुओं में पूज्य मुनिश्री गुप्तिसागर जी महाराज, मुनिश्री समाधिसागर जी महाराज, मुनिश्री अभयसागर जी महाराज एवं मुनिश्री प्रवचनसागर जी महाराज का अनुग्रह भी मुझे इस कार्य कर पाने का संबल रहा।

आज मुझे गौरव का अनुभव हो रहा है कि मैं किसी जैनाचार्य पर शोध प्रबन्ध प्रस्तुत कर सका। किन्तु हमारा यह गौरव तब अनन्तगुणित हो जाता है जब मुझे याद आता है कि यहाँ तक आने का श्रेय तो मेरे शिक्षा गुरु जैनजगत् के निर्विवाद मान्य विद्वान् स्व. डॉ. पं. पन्नालाल जी साहित्याचार्य को है। उनकी ही असीम कृपा के कारण इस कार्य के लायक मैं हो सका। उनके प्रति विनम्र प्रणाम निवेदित करने में मुझे अति खुशी अनुभूत होती है।

मेरे इस शोध कार्य के आधार स्तम्भ रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय, जबलपुर के संस्कृत-पालि-प्राकृत विभागाध्यक्ष श्रीमान् डॉ. राजेन्द्रकुमार त्रिवेदी का कुशल निर्देशन ही इसे कृतकार्य करने में पदे-पदे साथ रहा। उनका हृदय से आभार व्यक्त कर पाने के लिए शब्द ही नहीं हैं। हृदय से हृदय का सम्बन्ध होने पर ही उसे एहसास किया जा सकता है। आपने अपने व्यस्त समय में से समय निकाल कर सदा ही मार्गदर्शन एवं सामग्री का सूक्ष्म अवलोकन कर उसकी विषयवस्तु के साथ भाषा के परिष्कार एवं संशोधन तक में सहाय्य प्रदान किया है। इसी तरह जैन जगत् के विश्रुत एवं गणित के विख्यात प्रोफेसर लक्ष्मीचन्द जैन, जबलपुर का विशेष मार्गदर्शन ही मुझ जैसे संबलहीन के लिए सहारा रहा। उभयनिर्देशकों का आभार व्यक्त कर पाने की सामर्थ्य मुझमें और शब्दों में नहीं। उनसे तो अपेक्षा होगी कि उनकी यह अनुकम्पा इसी तरह सदैव मेरा मार्गदर्शन करती रहे।

मार्ग के अनेक उतार-चढाव के दौरान पथिक रह चलने का विचार ही त्याग करने के लिए तत्पर हो जाता है। किन्तु कभी-कभी पथ में मिलते रहने वाले अन्य पथिकों के माध्यम से उसे पुनःपुनः अपने शौर्य एवं क्षमता की याद आती रहती है। जिससे वह उन विचारों का ही त्याग कर देता है जिसके कारण वह पथगमन का विचार त्याग रहा था। एक दौरान ऐसा भी आया कि मैं अपने व्यक्तिगत कारणों से इस कार्य को

छोड़ने के लिए तत्पर हो गया था। किन्तु मेरे द्वितीय धार्मिक शिक्षा सहायक श्री ब्र. राकेशकुमार जी को इस कार्य का श्रेय है कि इस अपूर्ण कार्य को पूर्णता की ओर ले गये। अन्यथा मैं तो असहाय हो इस कार्य को समाप्तप्राय ही मान चुकने की ओर ही था। आपके ही सहयोग ने ही इस शोध प्रबन्ध को शोध प्रबन्ध का रूप एवं भाषा को परिमार्जित करने के साथ कम्प्यूटरीकृत करने की जिम्मेदारी निवाही। उनके प्रति कृतज्ञ होना स्वाभाविक ही है।

मैं जिनका ऋण कभी चुकाने के लायक न हो पाऊँगा ऐसे मेरे माता-पिता श्री भागचन्द्र जी एवं श्रीमती शीलरानी जैन का अनुग्रह जीवन में सदा रहा है। उनकी अनुकम्पा से ही मैं अध्यात्ममार्ग में अग्रसर हो सका। उनके प्रति विशेष रूप से श्रद्धावनत हूँ।

लगभग 14 वर्षों से अध्ययनकाल में मुझे सभी प्रकार की सुविधाएँ प्रदान करने वाले एवं मेरी अनुकूलता का विशेष ध्यान रखने वाले श्री वर्णी दिगम्बर जैन गुरुकुल के संचालक एवं अधिष्ठाता प्रतिष्ठाचार्य ज्येष्ठ भ्रातातुल्य ब्र. जिनेश जी का मैं चिरकृतज्ञ हूँ। आप हमारी धार्मिक शिक्षा के सहायक भी हैं। इस संस्था के प्रबन्धकों का सहयोग भी मैं करता हूँ।

मुझे नेत्रमन्दता के कारण लेखन के लिए अनेक लोगों से सहयोग की अपेक्षा करनी पड़ी। मेरे सहपाठी भाई दर्शनाचार्य ब्र. सुरेन्द्रकुमार जैन को भी याद करता हूँ। उनके प्रति मेरा विशेष स्नेह रहा है। जो इस कार्य के दौरान और भी वृद्धिंगत हुआ है। इसी तरह मुझे दमोह निवासी डॉ. श्रीमती नीलम जैन का भी विशेष सहयोग प्राप्त हुआ। उनके प्रति कृतज्ञता का भाव ज्ञापित करता हूँ।

इस समय मुझे याद है कि मैं प्रस्तुत कार्य को करने में कितना साधनहीन था। यदि मुझे अनेक पुस्तकालयों एवं उनके प्रबन्धकों का सहयोग न मिला होता, तो यह कार्य कर पाना संभव ही नहीं था। मैंने अपने कार्य के चलते श्री वर्णी दिग. जैन गुरुकुल, जबलपुर, श्री पार्श्वनाथ विद्याश्रम, वाराणसी, श्री सरस्वति भवन, आरा, प्राकृत साहित्य अकादमी, जयपुर, आचार्य ज्ञानसागर संस्कृत महाविद्यालय, जयपुर, श्रमण संस्कृति संस्थान, सांगानेर, श्री दिगम्बर जैन संस्थान, हस्तिनापुर एवं सर्वोदय जैन विद्यापीठ, सागर आदि के पुस्तकालयों के साथ दिगम्बर जैन मन्दिरों से जुड़े अनेक शास्त्रभण्डारों का भी उपयोग किया है। अतः इस शोध प्रबन्ध में उपयोग की गई पुस्तकों के माननीय लेखकों एवं पुस्तकालयों के प्रबन्धकर्ताओं का आभार अवश्य ही व्यक्त करना चाहूँगा।

अन्य सहयोगियों में ब्र. राजेश जैन, गढ़ा, जबलपुर, ब्र. रवीन्द्र जैन, कोटा, ब्र. राजेश जैन 'वर्धमान', सागर, ब्र. धर्मेन्द्रकुमार, उदयपुर, ब्र. विनोदकुमार जी, भिण्ड, ब्र. विनोदकुमार एवं ब्र. संतोषा दानपति जबलपुर, ब्र. त्रिलोकचन्द्र तथा संयोग जैन

आदि का आभारी हूँ। लेखन कार्य में सदा सहयोग करने वाले ब्र. आदिनाथ जी को मैं इस क्षण भुला नहीं सकता। पं. राजकुमार शास्त्री, क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक, देवरी एवं देवरी निवासी सुधी श्रावकों का भी आभार मानता हूँ, जिन्होंने इस कार्य में उचित सहयोग प्रदान किया।

इस कार्य के प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से सहयोगी मेरे अग्रज सुरेशचन्द्र, संघस्थ ब्र. लक्ष्मीचन्द्र, सुभाषचन्द्र, राजकुमार, महेन्द्रकुमार व प्रेमचन्द्र का भी बहुत आभार मानता हूँ। कार्य की पूर्णाहूति करने के समय मुझे सागर में प्रवास करना पड़ा। उस दौरान भाग्योदय तीर्थ के प्रबन्ध निर्देशक श्रीमान् डॉ. दरबारीलाल जैन का विशेष सहयोग प्राप्त हुआ। उनके प्रति कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ।

इस कार्य के पूर्ण होने में प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से सहयोगी होने वाले उन सभी महानुभावों के प्रति भी मैं हार्दिक आभार व्यक्त करना चाहता हूँ, जिनका नामोल्लेख मैं यहाँ नहीं कर सका हूँ।

मेरा यह शोध प्रबन्ध जैन योग के सूक्ष्म अध्ययन एवं शोधकर्त्ताओं और जैन योग की साधना में अभिरत विज्ञ सुधी जनों के लिए यत्किञ्चित् लाभप्रद होगा ऐसी मेरी भावना है।

– ब्र. राजेन्द्रकुमार जैन

भारतीय योग परम्परा में वैदिक, जैन और बौद्ध ये प्रमुख तीन परम्पराएँ मानी जाती हैं। इन तीनों परम्पराओं में ध्यान-योग एवं आचार विषयक विपुल साहित्य उपलब्ध है। ध्यान योग विषय पर कई मौलिक शोध प्रबन्ध भी प्रकाशित हुए किन्तु जैन योग परम्परा में आचार्य शुभचन्द्र द्वारा प्रणीत ज्ञानार्णव जैन योग का प्रतिनिधि ग्रन्थ माना जाता है। उसका भारतीय योग परम्परा में क्या महत्त्व है एवं आचार्य शुभचन्द्र का ऐतिह्य वृत्त क्या था ? भारतीय योग परम्परा में उनका क्या अवदान रहा है इत्यादि विषयों की जानकारी ज्ञानार्णव में प्रतिपादित ध्यान योग की पद्धति प्रायोगिक रूप से अपनाकर योग में रुचि रखने वाले लोग इसका लाभ अर्जित करें, इसी उद्देश्य को लक्ष्य बनाकर प्रस्तुत शोध प्रबन्ध को लिखने का प्रयास किया गया है। ज्ञानार्णव में विवेचित ध्यान योग के स्वरूप को सम्यक् रीत्या अवगम के लिए ज्ञानार्णव से पूर्ववर्ती जैनाचार्यों के ध्यान योग विषयक ग्रन्थों का गम्भीरता के साथ अध्ययन करना अत्यन्त आवश्यक है। अतः शुभचन्द्र से पूर्ववर्ती जैनाचार्यों कुन्दकुन्द, समन्तभद्र, पूज्यपाद, अकलंक, जिनसेन आदि की रचनाओं को तुलनात्मक विवेचन का आधार बनाया है। कहीं-कहीं पर पातञ्जलयोगसूत्र, गीता आदि को तुलना के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

प्रस्तुत शोधप्रबन्ध का शीर्षक भारतीय योग परम्परा और ज्ञानार्णव है। सम्पूर्ण शोध प्रबन्ध उपसंहार सहित आठ अध्यायों में विभक्त है। भारतीय योग परम्परा नामक पहले अध्याय में सर्वप्रथम योग परम्परा की पृष्ठभूमि योग शब्द एवं उसका अर्थ इतिहास के परिप्रेक्ष्य में योग के आद्यकर्त्ता भगवान् ऋषभदेव अथवा प्रत्येक सम्प्रदाय वालों ने अपने कुलदेव को योगमार्ग का आदि कर्त्ता माना है। योग का स्रोत एवं उसके क्रमिक विकास पर प्रकाश डालने का प्रयास है इसमें वेद, उपनिषद्, महाभारत, गीता, योगवाशिष्ट, स्मृति, पुराण, भागवत् आदि वैदिक ग्रन्थों में प्रतिपादित योग विषय की चर्चा की गई है। साथ ही हठयोग, नाथयोग, शैवयोग, शाक्तयोग, पातंजलयोगदर्शन, अद्वैतवेदान्तदर्शन आदि के अनुसार योग के विभिन्न अंगों का विवेचन विश्लेषण हुआ है। इसके बाद बौद्ध परम्परा में ध्यानयोग सम्बन्धी विवेचन किया गया है। अध्याय के अन्त में जैन योग परम्परा और उसमें उपलब्ध योगविषयक साहित्य का उल्लेख कर योग की अवधारणा सम्बन्धी विचार प्रस्तुत किये हैं।

द्वितीय अध्याय में ज्ञानार्णव ग्रन्थ और आचार्य शुभचन्द्र का परिचय प्रस्तुत किया गया है। ज्ञानार्णव वास्तव में ज्ञान का समुद्र है। क्योंकि इसमें प्रतिपादित ध्यान योग सम्बन्धी विषय समुद्र के समान अगाध और गम्भीर है ग्रन्थ के ध्यान शास्त्र, ध्यानतन्त्र, योगप्रदीप प्रभृति अन्य नाम भी ग्रन्थकार के द्वारा दिये गये हैं। आगे ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय का विवेचन किया गया है। आद्योपान्त सम्पूर्ण ग्रन्थ में ध्यान से ही सम्बन्धित विषयों की ही विवेचना हुई है। सम्पूर्ण ग्रन्थ काव्यात्मक शैली में 42 सर्गों से विभक्त है। आचार्य शुभचन्द्र की दृष्टि में एक ऐसे साधक का जीवन उद्दिष्ट था जो लौकिक

जीवन से सर्वथा पराङ्मुख हो, आध्यात्मिक जीवन जीता हो।

आचार्य शुभचन्द्र दिगम्बर जैन परम्परा से सम्बद्ध थे इन्हें पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा प्रणीत विपुल साहित्य प्राप्त था जिसका इन्होंने ज्ञानार्णव ग्रन्थ की रचना में प्रभूत उपयोग किया। जिनमें आध्यात्मिक और दार्शनिक विषयों पर रचे गये आचार्य कुन्दकुन्द, उमास्वामी, समन्तभद्र, पूज्यपाद, अकलंक और जिनसेन के ग्रन्थ मुख्य है आचार्य शुभचन्द्र में कवित्व की अद्भुत रचनाधर्मिता थी। वे प्रतिपाद्य विषय को अभीप्सित छन्दों और शब्दों में पिरोने में कुशल थे। इन्होंने अपनी कृति के मालिनी, स्रग्धरा, वंशस्थ, शिखरिणी, शार्दूलविक्रीडित, मन्दाक्रान्ता, आर्या प्रभृति अनेक छन्दों का प्रयोग किया है। आचार्य शुभचन्द्र के ग्रन्थ का लक्ष्य बहिरात्मभाव से अन्तरात्म भाव को प्राप्त करते हुए परमात्मभाव में अधिष्ठित होना है। अत: सहज ही यह शान्त रस से जड जाता है। आगे ग्रन्थ पर संस्कृत, हिन्दी एवं राजस्थानी आदि भाषाओं में उपलब्ध टीका और टीकाकारों का विवरण प्रस्तुत किया गया है। ग्रन्थकार ने स्वयं अपनी एकमात्र उपलब्ध कृति में अपना कोई परिचय नहीं दिया अत: ग्रन्थकार का समय निर्धारण भी विद्धानों व अनुमानों के आधार पर किया है। विश्वभूषण कृत भक्तामर कथा के आधार पर आपका किञ्चित् जीवन परिचय प्राप्त होता है। जिसके आधार पर आपका समय भोजराज के समकालीन ग्यारहवीं शती सिद्ध होता है। ज्ञानार्णव का हेमचन्द्र के योगशास्त्र पर स्पष्टत: प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। अत: शुभचन्द्र का समय हेमचन्द्र से कुछ पूर्ववर्ती 11-12 शताब्दी मानना युक्तिसंगत प्रतीत होता है। क्योंकि हेमचन्द्र का समय 1145 से 1229 वि. सं. सुनिश्चित है। भक्तामर कथा के आधार पर आचार्य शुभचन्द्र उज्जयिनी के राजा सिन्धुल के पुत्र एवं भर्तृहरि के बड़े भाई थे।

अध्याय के अन्त में शोध की दृष्टि से कृति का महत्व प्रतिपादित किया गया है। भारतीय संस्कृति ऋषियों के ऋण से उऋण नहीं हो सकती। ऋषियों का उसमें बहुत बड़ा योगदान है। उनके तप के प्रभाव के फलस्वरूप बड़े से बड़ा कार्य सम्पादित हो जाता है। ऋषि भारतीय संस्कृति की नींव हैं। ऋषि की वाणी धर्म है, ऋषियों का कार्य धर्म है, ऋषि धर्म के साक्षात् रूप है। ऋषि वाक्य ही स्मृति और वेद हैं। धर्मग्रन्थों का प्रणयन ऋषियों के योगदान बिना असंभव है। ऐसे ही महान् साधक योगी महाकवि सन्त शुभचन्द्र के द्वारा सर्वजनहिताय ज्ञानार्णव जैसे महाग्रन्थराज की रचना संभव हुई। जिसका एकाग्रतापूर्वक अध्ययन करके प्रत्येक पाठक योग साधना में पारंगत हो सकता है महर्षियों ने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार पुरुषार्थ बतलाये हैं। इनमें शुरु के तीन विनाश से सहित हैं और एक मोक्ष पुरुषार्थ ही अविनाशी है। अत: मुमुक्षु अन्तिम पुरुषार्थ मोक्ष के लिए प्रयास करता हैं और उसका मार्ग रत्नत्रय है। तत्त्वार्थ का सही श्रद्धान तत्त्वार्थ का सही परिज्ञान और पापक्रिया से निवृत्ति रत्नत्रय का स्वरूप माना गया है। अत: मोक्षाभिलाषी पुरुष को निरन्तर ध्यान का अभ्यास करना चाहिए। आत्मा का शुद्ध स्वरूप

ज्ञानावस्था को माना गया है। अज्ञान की अवस्था विभाव के नाम से जानी जाती है। उससे नाना प्रकार के दु:ख यथा जन्म, मरण, जरावस्था, रोग, अनिष्टसंयोगादि विभाव की ही प्राप्ति होती है। यही कारण है कि महर्षि पतंजलि ने इन वैभाविक वृत्तियों से मुक्त होने की अवस्था को योग कहा है। जैन परम्परा में आचार्य श्री उमास्वामी ने मन के चिन्तन का एक ही वस्तु पर अवस्थान अर्थात् केन्द्रित करने को ध्यान कहा है। बौद्ध परम्परा में भी किसी विषय पर चित्त को स्थिर कर चिन्तन करना ही ध्यान माना गया है।

वैदिक, जैन और बौद्ध तीनों ही परम्पराओं में ध्यान अभ्यास की विविध विधियों पर पर्याप्त चर्चा मिलती है। प्राय: तीनों परम्पराओं में ध्यान को मोक्ष या कैवल्यप्राप्ति का सबल साधन स्वीकार किया है। आचार्य शुभचन्द्र के अनुसार ध्यान करने वाले ध्याता पुरुष के विवेकज्ञान का होना जरूरी है। क्योंकि जब तक अपने और पराये का सम्यग्ज्ञान नहीं होता, तब तक वह किसका ध्यान करेगा ? स्व-पर की सही जानकारी के बिना जो भी ध्यान होगा वह रागद्वेषमूलक होगा। क्योंकि चिरन्तन काल से ही अज्ञानमय कुवासनाओं के संस्कार निरन्तर चलते रहते हैं। जिससे मन सदा क्षुब्ध और अशान्त बना रहता है। किन्तु जैसे ही सच्चे अनुभवी गुरु की संगति और सद्शास्त्रों के गहन मनन-चिन्तन से स्व-परभेद विज्ञान किया जाता है। तभी ज्ञानी जीव ज्ञायक भाव मात्र अपनी आत्मा को पर पदार्थों पर भावों से पृथक् कर आत्मा के शुद्ध स्वरूप का ध्यान करने में सक्षम होता है। उसको यह दृढ निश्चय हो जाता है कि आत्मा से अतिरिक्त पर पदार्थ मेरे नहीं हैं। मैं भी उनका नहीं हूँ। कर्म के निमित्त से जो भी मेरी आत्मा में रागद्वेषात्मक विकल्प जाल उत्पन्न हो रहे हैं वे भी मेरे निज भाव नहीं हैं। मैं तो मात्र ज्ञायक-चेतन पिण्ड हूँ। क्योंकि ये काम-क्रोधादि विकारी भाव पौद्गलिक कर्मों की उदयावस्था और बाह्य में शरीरादि पर पदार्थों के निमित्त से हुए हैं। अत: ये पर संयोगी भाव यह मेरा स्वरूप नहीं हैं। विवेकी जीव विचार करता है कि आत्मातिरिक्त अन्य पदार्थ न मेरे थे और न मैं उनका था, न ये मेरे हैं और न मैं उनका हूँ एवं न ये मेरे होंगे और न मैं इनका होऊँगा। इस प्रकार के निरन्तर भेदविज्ञान के माध्यम से ज्ञानी आत्मा, पूर्वसंस्कारजन्य और पर संयोगजन्य सम्पूर्ण काम-क्रोधादि रागद्वेषादि विकारी भावों को जीतने में समर्थ हो जाता है। इस तरह अपने ज्ञान-वैराग्य को वृद्धिंगत करता हुआ ध्यान के अभ्यास में प्रयत्नशील होता है।

आचार्य शुभचन्द्र ने संक्षेप रुचिवान् शिष्यों के अनुग्रह के लिए ध्यान के सामान्यतया तीन भेद निर्देशित किये हैं। यह उनकी अपनी विवेचन पद्धति की विशेषता है और इस विवेचन का मूलाधार अध्यात्मयुग के प्रवर्तक आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा रचित प्रवचनसार आदि में उपलब्ध भी है। उपयोग के आधार पर ध्यान के तीन भेद होते हैं। आत्मा के परिणाम विशेष को उपयोग कहते हैं। पुण्याशय या शुभोपयोग इसके विपरीत पापाशय या अशुभोपयोग और इन दोनों से रहित शुद्धाशय या शुद्धोपयोग इन्हें ही शुभ,

अशुभ और शुद्ध ध्यान भी कहते हैं। पुण्याशय के वश शुद्धलेश्या के आलम्बनपूर्वक वस्तु स्वरूप का चिन्तन करना शुभध्यान है। पवित्र अभिप्राय होने से प्राणी पापो से बचता है। कषाय से मिली हुए मन, वचन और काय इन तीनों योगों की प्रवृत्ति को लेश्या कहते हैं। लेश्यायें छह हैं – कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल। इनमें प्रथम तीन अशुभ लेश्यायें हैं और अन्त की तीन शुभलेश्यायें हैं। पीत लेश्या में धर्म के प्रति प्रेम होता है। दान, परोपकार आदि में मन लगता है। कार्य और अकार्य का विवेक रहता है। पद्मलेश्या में और अधिक विशुद्धि होती है। साधुसेवा, देवपूजा आदि में प्रीति होती है। त्यागवृत्ति जगती है, अब वह समता परिणाम के अभ्यास में भी लगता है और शुक्ललेश्या वाला जीव पक्षपात रहित शुद्ध आशय वाला रहता है। इन विशुद्ध लेश्याओं के अवलम्बन से भी शुभध्यान होता है। वस्तु उत्पत्ति, विनाश और ध्रौव्य अर्थात् स्थायीपने से युक्त हो सदा परिणमनशील है। पूर्वपर्याय की अपेक्षा विनाश उत्तर पर्याय की अपेक्षा उत्पाद और द्रव्य सामान्य की अपेक्षा ध्रौव्यपना बना रहता है। मूल रूप से कभी भी किसी वस्तु का सर्वथा अभाव नहीं होता और न ही उत्पाद। इस तरह प्रत्येक वस्तु परस्पर विरोधी अनेक धर्मों का पुंज है। वस्तु में वे सब विरोधी धर्म अविरोध रूप से रहते हैं। यही वस्तु का अनेकान्तपना है। जिसका कथन स्याद्वाद नय के द्वारा किया जाता है। स्यात् का अर्थ कथंचित् किसी निश्चित दृष्टिकोण से वाद का अर्थ कथन करना स्याद्वाद कहलाता है। जैसे पर्याय की अपेक्षा वस्तु अनित्य ही है, द्रव्य सामान्य की अपेक्षा नित्य ही है। इस तरह वस्तु के स्वरूप का विचार करने से शुभध्यान होता है।

जीवों के पापरूप आशय के कारण मोह, मिथ्यात्व, कषाय और तत्त्वविभ्रम से अप्रशस्त ध्यान होता है। किसी भी अन्य वस्तु को अपनी समझना, किसी अन्य वस्तु रूप अपने को मानना यह मोह है। मोह जीव के सम्यक्त्व, सुख और चारित्रगुण का घातक है। यह घाति कर्म होने से पाप रूप है। मोह की वजह से ही यह अज्ञानी जीव अपने स्वभाव को ही नहीं जानता। मिथ्यात्व मोह से अलग नहीं है। मिथ्यात्व के दो भेद हो जाते हैं, उनमें अगृहीतमिथ्यात्व को मोह और गृहीतमिथ्यात्व को मिथ्या मान लेने से दोनों में भेद स्पष्ट हो जाता है। कुगुरु, कुदेव, कुशास्त्र आदि के प्रति भक्ति होना, उनमें प्रीति होना यह मिथ्यात्व है। जो आत्मा को कषती है दुःख देती है आत्मा के सम्यक्त्व और चारित्र गुण का घात करती है वह कषाय है उसके क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार भेद हैं। क्रोध के आवेश से व्यक्ति को स्वयं अपनी सुध नहीं रहती। क्रोध में यह जीव अपना और दूसरों का बिगाड़ करता है। मानी पुरुष अपने आपमें कुछ से कुछ कल्पनाएँ करके अपना महत्त्व मान लेता है। मायाचार के परिणाम होने पर अपने को कुछ का कुछ दिखाने की चेष्टा होती है। लोभ के कारण अन्य पदार्थों को अपना बनाना चाहता है। ये सब कषाय भाव पाप के आशय है। वस्तु के सम्बन्ध में विपरीत जानकारी बनाएँ रखना वस्तु विभ्रम है। इन सब पाप रूप अभिप्रायों से निरन्तर अशुभध्यान होता रहता है।

रागद्वेषादि की परम्परा के नष्ट हो जाने से अन्तरात्मा के प्रसन्नता के साथ स्व-पर विवेक के प्रगट हो जाने पर जो आत्मस्वरूप की उपलब्धि होती है वह शुद्धध्यान है। जैसा अपना सहज अर्थात् निरपेक्ष स्वरूप है उसकी प्राप्ति होना शुद्ध ध्यान है। वह शुद्धध्यान कैसे प्रगट होता है उसके उपाय का भी इस लक्षण में वर्णन किया गया है। रागादि के संस्कार दूर हो उससे अन्तरात्मा निर्मल, निर्भार और शुद्ध ज्ञाता-दृष्टा होता है।

आगे इन तीनों ध्यानों के फल को बतलाया कि शुभध्यान से स्वर्गीय सुख की प्राप्ति के साथ परम्परा से मोक्षसुख की प्राप्ति होती है। अशुभध्यान के फलस्वरूप नारकी, तिर्यंच और कुमानसों में उत्पन्न होकर संसार में परिभ्रमण करता हुआ अनेक दु:खों को भोगता है और शुद्धध्यान के प्रभाव से केवलज्ञान को उत्पन्न सकल परमात्मा होकर मुक्ति को प्राप्त करता है।

इन ध्यानों के विवेचन से ग्रन्थकार का यह अभिप्राय ध्वनित होता है कि यह जीव दु:ख के कारणभूत अशुभ ध्यान को छोड़कर शुभध्यान के अभ्यास पूर्वक शुद्धध्यान को प्राप्त करने का प्रयास करे। मुख्य रूप से ध्येय के रूप में अरिहंत, सिद्ध परमात्मा और रत्नत्रय से संयुक्त आत्मा को माना गया है। इसके पश्चात् ध्यान के अन्य अनेक भेद-प्रभेदों की चर्चा प्रस्तुत की गई है। ध्यान की सहायक सामग्री के रूप में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय के विवेचन के साथ पातंजल अष्टांगयोग का ज्ञानार्णव ग्रन्थ के साथ तुलना करते हुए जैन दर्शन सम्मत अष्टांग योग का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है। वैसे तो जैन योग में रत्नत्रय में ही योग के सभी अंगों का अन्तर्भाव हो जाता है फिर भी आचार्य शुभचन्द्र ने कुछ योगांगों का पृथक् नामोल्लेख के साथ और कुछ का बिना नामोल्लेख के वर्णन किया है। आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान इन पाँच योगांगों का नामोल्लेख किया है। यम, नियम और समाधि इन तीन का नामोलेख के विना विवेचन किया है। यम के रूप में पंच महाव्रतों का विस्तृत वर्णन किया है। नियमों का स्पष्टतया कहीं उल्लेख प्राप्त नहीं होता। आचार्य शुभचन्द्र से पूर्ववर्ती आचार्य कुन्द देव ने नियम से करने योग्य रत्नत्रय को ही नियमसार में नियम कहा है और ज्ञानार्णव् में भी सर्वप्रथम रत्नत्रय की विवेचना की गयी है। अत: नियम के सम्बन्ध में इनकी मान्यता भी कुन्दकुन्द के समान जान पड़ती है। समाधि का शुक्लध्यान में समावेश होने से उसका अलग से कथन नहीं किया।

आचार्य शुभचन्द्र ने ध्यानयोग्य आसन के साथ ध्यान योग्य स्थान का भी वर्णन किया है। उन्होंने वर्तमान को दृष्टि में रखते हुए कायोत्सर्ग और पर्यंकासन को ही ध्यान के योग्य माना है।

प्राणायाम के विषय में उनका मत है कि ध्यान की सिद्धि के लिए तथा अन्त:करण की एकाग्रता के लिए प्राणायाम उपयोगी है। उनके अनुसार विवेकशील

साधकों को प्राणायाम का पहले ही अभ्यास कर लेना चाहिए। उसके बिना मनोविजय कर पाना संभव नहीं है। उन्होंने प्राणायाम के पूरण, कुम्भक और रेचक ये तीन भेद किया हैं। आचार्य शुभचन्द्र ने प्रत्याहार और धारणा का एक ही साथ वर्णन किया है।

जो प्रशान्तात्मा योगी इन्द्रियों सहित अपने मन को उनके विषयों से खींचकर जहाँ चाहे वहाँ लगा दे उसे प्रत्याहार कहा जाता है। दोनों नेत्र, दोनों कान, नासिका का अग्रभाग, ललाट, मुख, नाभि, मस्तक, हृदय, तालु एवं दोनों भौहें ये ध्यान के 10 स्थान हैं। चित्त को विषयों से पराङ्मुख कर इनमें से किसी एक स्थान में लगाना धारणा कहलाता है। ध्यान के विविध भेद नामक पाँचवे अध्याय में ध्यान के प्रशस्त और अप्रशस्त ये दो भेद हैं। इनमें भी अप्रशस्त के आर्त्त और रौद्र ये दो भेद हैं और प्रशस्त के धर्म्य और शुक्ल ये दो भेद हैं। इनमें भी प्रत्येक के चार-चार और उत्तर भेद सहित हैं। इनमें आदि के दो आर्त्त और रौद्र संसार के कारण होने से त्याज्य हैं और अन्त के दो धर्म्य और शुक्ल ध्यान मोक्ष के कारण होने से उपादेय हैं। इस अध्याय में इन सब ध्यानों के भेद-प्रभेदों का विस्तार से वर्णन किया गया है। प्रत्येक ध्यान का स्वरूप-अन्तर बाह्य लक्षण, लेश्या, स्वामी, फल आदि का विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

ध्यान की प्रक्रिया नामक षष्ठ/छठवें अध्याय में ध्यान की अन्तरंग प्रक्रिया के अन्तर्गत बारह भावना, कषायनिग्रह, इन्द्रियविजय, रागद्वेषनिषेध, साम्यभाव की महिमा आदि विषयों का विवेचन किया गया है। आत्मध्यान की विधि बतलाकर ध्यान का आधुनिक सन्दर्भ में मनोवैज्ञानिक विवेचन हुआ है।

सप्तम अध्याय में ध्यान का महत्त्व और उसके फल का विवेचन किया गया है। उपसंहार नामक अन्तिम अध्याय में आचार्य शुभचन्द्र का भारतीय योग परम्परा में अवदान ध्यान का पुनरावलोकन आचार्य देव का उत्तरवर्ती ग्रन्थकारों पर प्रभाव इस तरह सम्पूर्ण शोध प्रबन्ध में ध्यान, ध्याता, ध्येय, ध्यान के अंग और उसके फल को दर्शाया गया है, साथ ही ग्रन्थ और ग्रन्थकार के वैशिष्टय को प्रतिपादित किया गया है। इस प्रयास में मेरे जैसे लघुबुद्धि से त्रुटियों का होना स्वाभाविक है। यह नहीं कहा जा सकता कि शोध सर्वांगीण है, अपितु इस आक्षेप से भी शोध को मुक्त रखने का प्रयास किया गया है कि शोध अनुपयोगी है।

प्रथम अध्याय

भारतीय योग परम्परा

समय के चक्र के साथ-साथ सब कुछ परिवर्तनशील है। कुछ परिवर्तन ऐसे होते हैं जो वर्तमान अस्तित्व को मिटाकर उसके स्थान पर किसी दूसरे तथ्य की स्थापना करते हैं और कहीं-कहीं उन तथ्यों का इतना परिष्कृत या बिगड़ा रूप मिलता है कि वह तथ्य परिवर्तनशील रूप में दिखाई देता है।

भारतीय संस्कृति की अविच्छिन्न धारा ऐसी ही निर्मल धारा का प्रवाह है जिसका रूप परिवर्तित व परिष्कृत तो हुआ है किन्तु कहीं भी किसी भी अवरोध के आने पर रुका नहीं है। इसलिए भारतीय संस्कृति की शाश्वतता उसकी गतिशीलता के कारण आज भी विद्यमान है।

'योग' शब्द भारतीय संस्कृति तथा दर्शन की बहुमूल्य सम्पत्ति है। योग विद्या ही एक ऐसी विद्या है जो प्राय: सभी धर्मों तथा दर्शनों में स्वीकृत है। यह ऐसी आध्यात्मिक साधना है जिसे कोई भी बिना वर्ण, जाति, वर्ग या धर्म-विशेष की अपेक्षा के अपना सकता है। प्राचीन भारतीय धर्म, पुराण, इतिहास आदि के अवलोकन से ज्ञात होता है कि योग-प्रणाली की परम्परा अविच्छिन्न रूप में चलती आई है। वैदिक तथा अवैदिक वाङ्मय में आध्यात्मिक वर्णन बहुलता से पाया जाता है। इनका अन्तिम साध्य उच्च अवस्था की प्राप्ति है और योग उसका एक मात्र साधन।

किसी भी व्यक्ति के व्यक्तित्व निर्माण में दो बातें कार्यकारी होती हैं, एक तो बाह्य प्रभावों का अन्वेषण और दूसरा आन्तरिक कारणों का विश्लेषण। इन दोनों में से प्रथम की अपेक्षा दूसरे का महत्त्व स्पष्टत: कहीं अधिक होता है। उन्नति या अवनति में बाह्य कारणों की अपेक्षा ही महत्त्वपूर्ण होती है। विचारशील मनुष्य के लिए अन्तर्वीक्षण या आत्मपरीक्षण का महत्त्व इसीलिए अत्यधिक माना जाता है।

इस अन्तर्वीक्षण और आत्मपरीक्षण के लिए योग ही प्रमुखत: सही साधन है। यही कारण है कि चाहे व्यक्ति के व्यक्तित्व के निर्माण की बात हो या आत्मपरीक्षण की या चार पुरुषार्थ रूप उसके अन्तिम लक्ष्य या साध्य मोक्ष की 'योग' इन सभी का आधार है। इसीलिए भारतीय संस्कृति में योग परम्परा की गंगा अविरल प्रवहमान है। धर्म चाहे स्वार्थवश कितने ही सम्प्रदायों में विभक्त हुआ हो किन्तु उन सभी वैदिक,

बौद्ध, जैन और उनकी विभिन्न शाखाओं में योग की व्याख्या यत्किंचित् परिवर्तन के साथ दिखाई पड़ती है।

योग का शाब्दिक अर्थ –

योग शब्द 'युज्' धातु से बना है। संस्कृत व्याकरण में दो युज् धातुओं का उल्लेख है, जिनमें एक का अर्थ है जोड़ना या संयोजित करना[1] और दूसरी का समाधि या मन:स्थिरता[2]। अर्थात् सामान्य रूप से योग का अर्थ है संबन्ध करना तथा मानसिक स्थिरता करना। इस प्रकार लक्ष्य तथा साधन के रूप में दोनों ही योग हैं। भारतीय योग दर्शन में इस शब्द का उपयोग दोनों ही अर्थों में हुआ है।

योग के विभिन्न अर्थ –

कोश ग्रन्थों में इस शब्द के अनेक अर्थ दिये गए हैं। अमरकोश के अनुसार 'उपाय, ध्यान, और युक्ति को योग कहते हैं।'[3] पतंजलि ने 'चित्तवृत्तियों के निरोध को ही योग कहा है।'[4] यहाँ निरोध का अर्थ चित्तवृत्तियों को नष्ट करना है।

योग शब्द का अर्थ विभिन्न मतों में भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। गीता में कहा गया है कि ''हमारे देहयुक्त जीवन में दु:ख का संयोग होता है उसका जो वियोग है वही योग है।''[5] अर्थात् दु:ख के वियोग का नाम ही योग है। इसी योग में आत्मा अपनी दिव्य स्थिति प्राप्त करती है।

योगदर्शन के भाष्यकार महर्षि व्यास ने 'योग: समाधि:'[6] कहकर योग को समाधि के रूप में ग्रहण किया है जिसका अर्थ है समाधि द्वारा सच्चिदानन्द का साक्षात्कार। इस प्रकार योग दर्शन के अनुसार प्रत्यक्ष या प्रकारान्तर से योग के लिए दो उपादानों की अपेक्षा बताई गई है – चंचल वृत्तियों का नियंत्रण तथा एकाग्रता। वैद्यक के अनुसार ''रोग दूर करने के उपाय को भी योग कहते हैं।''[7] प्रेमचन्द ने योग का अर्थ न्यायिक और धन बताया है। देवी भागवत में योग शब्द प्रेम अर्थ का वाचक है।[8] ऋग्वेद में योग शब्द अप्राप्त की प्राप्ति, संबंध, जुआ या जीतने आदि के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[9]

---

1. युजृंपी योगे – हेमचन्द्र धातुमाला 7.; 2. युजिच् समाधौ – वही 4.
3. युजिर् योगे युजित समाधौ – वही 4. 4. योगश्चित्तवृत्ति: निरोध:।–योगदर्शन 1/2.
5. गीता 3/23. 6. योगदर्शन, व्यास भाष्य, पृ. 2.
7. कल्याण, योगांक, पृ. 68. 8. देवी भागवत, 3.15.13.
9. ए हिस्ट्री ऑव इण्डियन फिलासफी, भाग 1, पृ. 226.

इससे स्पष्ट है कि योग समाधि का पर्यायवाची शब्द है। इस धातु की अकर्मकता भी चित्तवृत्ति निरोध जैसी अन्तस्थ वृत्ति या क्रिया की ओर ही संकेत करती है। योग से जिस एकाग्रता तथा विरतव्यापारान्तरता का बोध होता है उसका पोषण इसी अर्थ से संभव है। क्योंकि समाधि में मनुष्य बिल्कुल विगलित-वेद्यान्तर रहता है। अत: योग शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की जा सकती है। 'युज्यते समाधौ विधीयते मन: अनेन इति योग: ।'[1]

जैनों के अनुसार "शरीर, वाणी और मन के कर्म का निरोध संवर है और यही योग है।"[2] आचार्य हरिभद्र के मतानुसार 'योग मोक्ष प्राप्त करने वाला अर्थात् मोक्ष के साथ जोड़ने वाला है।'[3] हेमचन्द्र ने 'मोक्ष के उपाय रूप योग को ज्ञान, श्रद्धान और चरित्रात्मक कहा है।'[4]

बौद्ध विचारकों ने 'योग का अर्थ समाधि किया है तथा तत्त्वज्ञान को योग का प्रयोजन बताया है।'[5]

योग समस्त स्वाभाविक आत्मशक्तियों की पूर्व विकास क्रिया अर्थात् आत्मोन्मुखी चेष्टा है। इसके द्धारा भावना, ध्यान और समता का विकास होकर कर्म ग्रन्थियों का नाश होता है। वैदिक, बौद्ध एवं जैन ग्रन्थों में योग, समाधि और ध्यान ये समानार्थक भी हैं।

शाक्तमत के अनुसार योग वह क्रिया है, जिसके द्धारा मनुष्य की चेतना परमात्मा के साथ एकाकार हो जाती है अथवा उसके अत्यन्त निकट सम्पर्क में पहुँच जाती है अर्थात् शाक्त सिद्धान्तों के अनुसार योग की प्रक्रिया द्धारा आत्मा और परमात्मा का ऐक्य सम्पन्न होता है।[6]

आधुनिक विचारकों ने भी प्राय: योग के इन्हीं दोनों अर्थों अर्थात् चित्तवृत्तियों का निरोध और आत्मा का परमात्मा की एकता में समर्थन किया है। भिन्न-भिन्न मतावलम्बियों में योग का अर्थ चाहे कुछ भी हो किन्तु संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि मन और तन के विकारों को निकाल कर स्वच्छ बनाना योग क्रिया का प्रतिफल है। सम्पूर्ण सम्प्रदायों से विलग योग की क्रिया सभी सम्प्रदायों में इसी रूप में मान्य है।

1. सिद्धान्तकौमुदी, पृ. 338.
2. तत्त्वार्थसूत्र, 9/1.
3. योगविंशिका, 1.
4. अभिधानचिन्तामणि, 1/77.
5. बौद्धदर्शन, पृ. 222.
6. संत काव्य में योग का स्वरूप, पृ. 155.

क्योंकि सभी सम्प्रदायों का धर्म रूप लक्ष्य चित्त को निर्मल कर आत्मा का दर्शन करना है।

योग साधना के मार्ग अनन्त हैं। भक्तियोग, ज्ञानयोग, कर्मयोग, राजयोग, हठयोग, ध्यानयोग, जपयोग, मन्त्रयोग, तपयोग, लययोग आदि योग की अनेक शाखाएं हैं। मुख्य रूप से भारतीय संस्कृति की तीन प्रमुख धाराओं में मौलिक भिन्नता होने से इसकी मोक्ष प्रापक साधना पद्धतियों में जो पार्थक्य दिखाई देता है उनकी ओर ध्यान आकर्षित करने के लिए योग के साथ वैदिक, बौद्ध, जैन तथा अन्य साम्प्रदायों का नाम जोड़ा गया है। यथार्थ में योग का किसी धर्म सम्प्रदाय अथवा जाति विशेष से कोई सम्बन्ध नहीं है। 'योग' एक व्यापक शब्द है। जिसमें सभी साधना पद्धतियाँ समाहित हैं।

ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में योगकर्त्ता विषयक विश्लेषण –

योग परम्परा का प्रारम्भ कहाँ और किसके द्वारा हुआ ? इसके सम्बन्ध में प्रामाणिक रूप से कुछ कहना कठिन है। योग के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य पर विचार करने पर इतना ही कहा जा सकता है कि आत्मविकास हेतु आध्यात्मिक साधना के रूप में योग का प्रचलन प्रागैतिहासिक काल से चला आ रहा है। सिन्धु घाटी की सभ्यता के अवशेषों से प्राप्त ध्यानस्थ योगियों के चित्र उक्त तथ्य के पोषक प्रमाण हैं। योग के आद्य प्रवर्तक कौन थे इस सम्बन्ध में वैदिक परम्परा 'हिरण्यगर्भ' को योग का आद्य वक्ता मानती है।[1] और योगी लोग इसकी नित्य पूजा करते हैं। जैन परम्परानुसार योग के आद्य प्रवर्तक प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव थे। महापुराण में ऋषभदेव का एक नाम हिरण्यगर्भ भी है।[2] श्रीमद्भागवत के अनुसार ऋषभदेव सिद्धयोगी थे। वैदिक पुराणों के अनुसार भगवान् ऋषभदेव भगवान् विष्णु के पाँचवें अवतार थे।[3] जैन वाङ्मय में भी भगवान् ऋषभदेव की हिरण्यगर्भ के रूप में स्तुति की गई है।[4] उक्त विचारों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि हिरण्यगर्भ और ऋषभदेव दोनों एक ही व्यक्ति के दो नाम हैं जो योग के आद्य प्रवर्तक थे।

इस तरह भागवतकार ने भी भगवान् ऋषभदेव को श्रेष्ठ योगी बतलाया है। यों तो कृष्ण को भी योगी माना जाता है, किन्तु कृष्ण का योग 'योग: कर्मसु कौशलम्' के अनुसार कर्मयोग था और भगवान् ऋषभदेव का योग कर्मसंन्यास। जैनधर्म में कर्म संन्यास

1. हिरण्यगर्भ: योगस्य वक्ता नान्य: पुरातन:। – महाभारत, 2/349/65.
2. महापुराण, 12/95.
3. श्रीमद्भागवतपुराण, 3/20.
4. आदिपुराण, 24/33.

रूप योग की ही साधना की जाती है। ऋषभदेव से लेकर महावीर पर्यन्त सभी तीर्थंकर योगी थे। मौर्यकाल से लेकर आज तक की सभी जैन मूर्तियाँ योगी के रूप में ही प्राप्त हुई हैं।

सिन्धुघाटी की सभ्यता से प्राप्त ध्यानस्थ योगी की नग्नावस्था और कायोत्सर्ग मुद्रा (पद्मासन) में प्राप्त मूर्ति को देखकर पुरातत्त्ववेत्ता अनुमान लगाते हैं कि उक्त मूर्ति प्रथम जैन तीर्थंकर ऋषभदेव की है।[1] चूंकि भगवान् शिव का स्वरूप भी दिगम्बर (नग्न) था इसलिए कुछ विद्धान् उक्त मूर्ति को भगवान् शिव की मूर्ति बताते हैं।[2] उनके तथ्य से ऋषभदेव और शिव की एकाकारता की ओर भी विद्धानों का ध्यान आकृष्ट हुआ। इसी आधार पर श्री रामचन्द्र दीक्षित ने ईस्वी सन् 3000 वर्ष पूर्व तथा उससे भी प्राचीन भारतवर्ष में प्रचलित योग साधना को पाशुपत योग साधना का प्रारम्भिक रूप माना है। हठयोग में आदिनाथ को हठयोग का आद्यप्रवर्तक मानते हुए उनकी स्तुति की गई है।[3] इससे स्पष्ट होता है कि प्रागैतिहासिक काल में योग की विभिन्न पद्धतियाँ साधना के रूप में प्रचलित थी। अत: भिन्न-भिन्न साम्प्रदायों ने अपने-अपने मतानुसार अपने इष्टदेव को योग का आद्य प्रवर्तक मान लिया है।

आर्य साहित्य के भण्डार को मुख्य रूप से तीन भागों में बाँटा गया है - वैदिक, जैन और बौद्ध। ऋग्वेद वैदिक साहित्य का सबसे प्राचीन ग्रन्थ है। प्राचीन उपनिषदों को छोड़कर बाद के उपनिषदों में 'योग' शब्द आध्यात्मिक अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है।[4] सामान्यत: ऋग्वेद से उपनिषद तक के साहित्य में 'तपस' शब्द का आध्यात्मिक अर्थ में जितनी छूट के साथ वर्णन किया गया है उतना 'योग' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है। 'तप' शब्द का प्रयोग 'ध्यान' तथा 'समाधि' के अर्थ में भी हुआ है।

वैदिक परम्परा में ध्यान का अस्तित्व चाहे तप के रूप में हो या योग के रूप में, किन्तु रहा अवश्य ही है। क्योंकि कोई भी यज्ञकर्म बिना ध्यानयोग के सम्पन्न नहीं होता था। वैदिक विचारधारा के अनुसार जीवन का चरम लक्ष्य दु:ख का अभाव रूप मुक्ति या मोक्ष जैसा न होकर, निश्चित रूप से भावात्मक ही रहा है। वह चरम लक्ष्य केवल अमृतत्व या नि:श्रेयस ही कहा जा सकता है। वैदिक साहित्य में प्राय: इन्हीं शब्दों द्वारा उस लक्ष्य का निर्देश किया गया है।

1. Jainism the oldest living Religion. P. 49-50.
2. पाशुपत योग का प्रारम्भिक इतिहास, कल्याण (योगांग) पृ. 237
3. श्रीआदिनाथाय नमोऽस्तु तस्मै येनोपदिष्टा हठयोगविद्या। - हठयोगप्रदीपिका 1/1.
4. तैत्तिरीयोपनिषद् 2/4.

वेदकालीन योग परम्परा -

भारतीय संस्कृति में सबसे प्राचीन ग्रन्थ वेद कहे जाते हैं और वेदों में ऋग्वेद सबसे प्राचीन माना गया है। कहा जाता है कि इन वेद मन्त्रों को किसी भी ऋषि या मुनि ने स्वयं नहीं रचा अपितु ऋषि मन्त्रकर्त्ता नहीं मन्त्रद्दष्टा थे। इन मन्त्रों का भगवान् हिरण्यगर्भ ने ऋषियों को साक्षात्कार करवाया था। वेदमन्त्र रहस्यों से भरे हुए हैं, उनके एक-एक पद अनेक भावों को प्रगट करते हैं। उन मन्त्रों को अगर गहराई से देखा जाए तो पता चलता है कि वहाँ ध्यान, तप, योग एवं समाधि से सम्बन्धित बहुत मात्रा में सामग्री है। इन्द्र, अग्नि, वरुण एवं सोम आदि देवताओं के वर्णन के पीछे आध्यात्मिकता का सार पाया जाता है। जो गहराई से सोचने पर ध्यान योग के अर्थ में निकलता है। मोहन-जोदड़ों की खुदाई से प्राप्त एक मुद्रा पर अंकित चित्र में त्रिशूल, मुकुटविन्यास नग्नता, कायोत्सर्गमुद्रा, नासाग्रद्दष्टि एवं ध्यानावस्था में लीन मूर्तियों से ऐसा सिद्ध होता है कि ये मूर्तियाँ किसी मुनि या योगी की हैं जो कि ध्यान में लीन है।[1]

मोहनजोदड़ों का काल प्राग्वैदिक है।[2] वैदिक परम्परा में ध्यान का अस्तित्व चाहे तप के रूप में हो या योग के रूप में किसी-न-किसी प्रकार से अवश्य रहा है। उस काल में विद्वानों का कोई भी यज्ञ-कर्म बिना ध्यान-योग के सिद्ध नहीं होता था।[3]

अथर्ववेद में कई प्रकार से योग शब्द का प्रयोग मिलता है।[4] स्पष्टत: नवद्वार एवं अष्टचक्रादि का विवरण भी प्रतीकात्मक शैली में सुलभ है अथर्ववेद का ऋषि कहता है कि अष्टचक्र एवं नवद्वारों से यह देवपुरी अजेय है। यहीं पर जो हिरण्यमय कोश आवृत है, वही स्वर्ग है। त्रि-अरयुक्त, त्रिप्रतिष्ठित उस हिरण्यमय कोश में जो आत्मयुक्त यक्ष (पूज्य अपूर्व पुरुष) विराजमान है, उसे ब्रह्मविद् लोग ही जानते हैं।[5]

योग की दृष्टि से प्राणोपासना की महत्ता सर्वमान्य है। यह प्राणोपासना वैदिक संहिताओं, विशेषकर ऋक् एवं अथर्वसंहिताओं में प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त, आरण्यक एवं उपनिषदों में भी इसका प्रभूत उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद के ऐतरेय आरण्यक के आदि के तीन अध्यायों में प्राणविद्या का विवेचन मिलता है। इसके प्राणविद्या विषयक

1. मोहनजोदड़ो एण्ड इण्डस सिविलाइजेशन, पार्ट 1, पृ. 53.
2. हिस्ट्री ऑफ एन्शिएण्ट इण्डिया, पृ. 25.
3. ऋग्वेद, 1/18/7.
4. अथर्ववेद, कां. 19, अनु. 1, व. 8 मं. 2.
5. वही, 8/2/31, 8/2/32.

अध्यायों में ऋग्वेद के आठ-दश मन्त्र उद्धृत किये गए हैं। ऋग्वेद के एक मन्त्र के द्रष्टा दीर्घतमा ऋषि कहते हैं कि उन्होंने प्राण को देखा है। वह सभी इन्द्रियों का रक्षक है और कभी नष्ट नहीं होता।[1] इसी प्रकार, एक दूसरे मन्त्र में प्राण को अमृत रूप बताया गया है। जब तक उसका इस शरीर में निवास रहता है, तब तक मृत्यु नहीं होती।[2]

उपनिषद् और योग -

उपनिषद् के काल में ध्यान की साधना वेदों से बीज रूप में अंकुरित होकर विकसित अवस्था को प्राप्त हो गई थी। श्वेताश्वरोपनिषद् में ध्यान का प्रचुर मात्रा में स्पष्ट वर्णन किया गया है। इसमें साधना करने के बाद ही ध्यान रूप मन्थन से अग्नि की भांति अपने हृदय में छिपे हुए परम देव परमेश्वर के दर्शन का उपदेश दिया गया है।[3] वहाँ कहा गया है कि जिस प्रकार से तिलों में तेल, दही में घी और अरणियों में अग्नि छिपी रहती है, उसी प्रकार से परमात्मा हमारे हृदय में छिपे रहते हैं। वे परमात्मा तब ही प्राप्त होते हैं जब साधक विषयों से विरक्त होकर सदाचारी बनकर संयमरूपी तपस्या के द्वारा उनका निरन्तर ध्यान करता है। यहाँ पाँच मन्त्रों में ध्यान की सिद्धि के लिए परमेश्वर से प्रार्थना की गई है कि हमारे मन, बुद्धि और इन्द्रियों में प्रकाश फैला रहे। निद्रा, आलस्य और अकर्मण्यता आदि दोष हमारे ध्यान में विघ्न न कर सकें।[4] वरुण और अपने पुत्र भृगु को तप का महत्त्व समझाते हुए कहा है कि - तू तप के द्वारा ब्रह्म के तत्त्व को समझने की कोशिश कर। यह तप ब्रह्म का ही स्वरूप है।[5] उपनिषदों में ध्यान, योग एवं तप आदि शब्द समाधि के अर्थ में ही प्रयुक्त हुए हैं।[6] उपनिषदों में ध्यान करने की विधि बतलाते हुए कहा गया है कि ध्यान योग का साधक सिर, गले एवं छाती को ऊँचा उठाये रखे एवं समस्त इन्द्रियों को बाह्य विषयों से हटाकर उनका मन के द्वारा हृदय में निरोध कर लेना चाहिए और फिर ॐकार रूपी नौका का सहारा लेकर परमात्मा का ध्यान करके समस्त भयानक प्रवाहों को पार कर लेना चाहिए।[7] वहाँ ध्यान करने के लिए स्वच्छ एवं समतल भूमि पर आसन लगाने के लिए कहा गया है।[8] ध्यान को आध्यात्मिक अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। इसी कारण ध्यान को मोक्ष प्राप्ति का कारण माना गया है।[9] मनुष्य ध्यान

1. ऋग्वेद, 1/164/31, 10/177/3.
2. ऐतरेय ब्राह्मण, 2/2/10.
3. श्वेताश्वरतरोपनिषद्, 1/14.
4. श्वेताश्वतरोपनिषद्, 2/3.
5. तैत्तिरीयोपनिषद्, 3/2.
6. छान्दोग्योपनिषद्, 7/6/1. तैत्तिरीयोपनिषद्, 2/4.
7. श्वेताश्वतरोपनिषद्, 2/8/9.
8. वही, 2/10.
9. कठोपनिषद्, 1/2/12.

योग के साधन के द्वारा समस्त मलों को धोकर आत्मा के यथार्थ स्वरूप को भली प्रकार से प्रत्यक्ष रूप में देख लेता है, जिससे वह असंग हो जाता है और कैवल्य अवस्था को प्राप्त हो जाता है।[1] तप के द्वारा ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति होती है।[2] और वह ब्रह्मज्ञानी परमात्मा के स्वरूप को जान लेता है, जो परमात्मस्वरूप को जान लेता है वह संसार से मुक्त हो जाता है।[3] षडंगयोग के प्रत्याहार, ध्यान, प्राणायाम, धारणा, तर्क और समाधि के वर्णन में कहा गया है कि विषयों में लीन मन जीव को बन्धन में फंसाता है जबकि निर्विषय मन मुक्ति दिलाता है। इसलिए विषयासक्ति से मुक्त और हृदय में निरुद्ध मन जब अपने ही अभाव को प्राप्त होता है तब वह परमपद पाता है।[4] इसीलिए कल्याणकारी साधक सांसारिक भोगों की अनित्यता और दुःखरूपता को समझकर इनसे हमेशा विरक्त हो जाते हैं एवं परमगति को प्राप्त करके फिर कभी लौटकर नहीं आते हैं।[5] इस परमगति की प्राप्ति के लिए आचार-विचार जरूरी है। जैसे श्रद्धा, तप, ब्रह्मचर्य, सत्य, दान आदि और इनकी महती आवश्यकता का उल्लेख विभिन्न उपनिषदों में हुआ है।[6] मोक्ष प्राप्ति के लिए तप एवं समाधि की अनिवार्यता बतलाई गई हैं। योग एवं समाधि की अवस्था में वाणी एवं मन निवृत्त हो जाते हैं, साधक निर्भीक बनता है और ब्रह्मानन्द का आस्वादन करता है।[7] जब साधक को ब्रह्मानन्द की प्राप्ति हो जाती है तब वह जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त हो जाता है।[7] इस प्रकार उपनिषदों में ध्यान का विभिन्न रूपों में उल्लेख किया गया है।

महाभारत एवं योग - भारतीय वाङ्मय में महाभारत का बहुत ऊँचा स्थान है। महाभारत को तो विद्वान् पंचम वेद के नाम से जानते और मानते हैं। इसे वेदों जैसा आदर और प्रामाणिकता भी प्राप्त है।

महाभारत में भी योग अथवा ध्यान का उल्लेख मिलता है।[8] श्रीमद् भागवत गीता के अट्ठारह अध्यायों में अट्ठारह प्रकार के योगों का वर्णन किया गया है। उसमें ध्यान योग का छठे अध्याय में विस्तृत रूप से उल्लेख किया गया है। पुराणों में भी कई जगह इसकी चर्चा मिलती है।[9]

1. श्वेताश्वतरोपनिषद्, 2/14.
2. कठोपनिषद्, 2/6.
3. श्वेताश्वतरोपनिषद्, 3/8.
4. ब्रह्मबिन्दूपनिषद्, 4.
5. प्रश्नोपनिषद्, 1/10.
6. वृहदारण्यकोपनिषद्, 5/2/3. मुण्डकोपनिषद्, 3/1/6.
7. तैत्तिरीयोपनिषद्, 3/9.
8. वृहदारण्डकोपनिषद्, 6/2/15.
9. महाभारत, शांति तथा अनुशासन पर्व.

महाभारत में योग की चर्चा करते हुए मन को सुदृढ बनाने, अपनी इन्द्रियों की ओर से उसे समेटने और मन:पूर्वक योगाभ्यास करने का आदेश दिया गया है। रागादि विषयों को छोडकर ध्यान-योगाभ्यास में सहायक देश, कर्म, अर्थ, उपाय, अपाय, आहार, संहार, मन, दर्शन, अनुराग, निश्चय और चक्षुष इन बारह योगों का आश्रय लेकर मोक्ष प्राप्ति के लिए कर्मयोग, भक्तियोग तथा ज्ञानयोग तीनों की उपयुक्तता सिद्ध की गयी है।[1]

ब्रह्मसूत्र में महर्षि बादरायण ने तो तीसरे अध्याय का नाम ही साधना अध्याय रखा है और उसमें आसन, ध्यान आदि का वर्णन किया है।

पुराण एवं योग - भारतीय संस्कृति के स्वरूप की जानकारी के लिए पुराणों के अध्ययन की बहुत आवश्यकता है। पुराण भारतीय संस्कृति के मेरुदण्ड हैं। प्राय: प्रत्येक पुराण में योग का कुछ उल्लेख अवश्य मिल जाता है। इससे पता चलता है कि पुराणों के रचनाकाल में योग साधना जन जीवन में व्याप्त हो गई थी। पुराणों ने योगसाधना के मार्ग को परम्परा से जीवित रखने की दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण कार्य किया है।

मान्यतानुसार ब्रह्मपुराण को सर्वाधिक प्राचीन माना जाता है। इसमें योगाभ्यास का फल सांख्य एवं योग की व्याख्या तथा योग की साधना विधि का विवरण मिलता है।[2]

इसी प्रकार मार्कण्डेयपुराण में महायोग साधक दत्तात्रेय से योग संबंधी प्रश्न पूछता है। उस प्रसंग में योगाभ्यास, योगसिद्धि, योगचर्या एवं ओंकार स्वरूप का कथन भी किया गया है।[3] लिङ्गपुराण में कहा गया है कि योग शब्द से ही निर्वाण का बोध होता है। इस पुराण में अष्टांगयोग के विवेचन के उपरांत योगमार्ग के विघ्नों या अन्तरायों का विवेचन किया गया है। इसके पचहत्तरवें अध्याय में विभिन्न योगों का विवेचन है किंतु उन भेदों में से मुख्यत: योग के पाँच प्रकार माने हैं, मंत्र योग, स्पर्शयोग, भावयोग, अभावयोग एवं महायोग। गरुडपुराण में भी ध्यान योग एवं अष्टांगयोग का विवेचन मिलता है।

अग्निपुराण में ब्रह्मप्रकाशक ज्ञान की एकचित्तता को योग कहा गया है।[4] कूर्मपुराण में योग के दो प्रकार का वर्णन किया गया है - अभाव योग और महायोग। अभावयोग में शून्य, सर्वनिराभास स्वरूप का चिंतन किया जाता है। जहाँ अपने से अभिन्न नित्यानन्द निरंजन आत्मा को देखा जाता है वह महायोग है।

1. भागवतपुराण, 3/18, 11/15, 19/20. 2. महाभारत, अनुशासन पर्व, 116/23.
3. ब्रह्मपुराण, 234-8. 4. मार्कण्डेयपुराण,

उपर्युक्त विवेचन से यह बात स्पष्ट होती है कि यद्यपि पुराणों में योग का विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है तथापि उनमें मौलिकता का प्राय: अभाव है। प्रचलित योगपद्धतियों का विवेचन मात्र उनका उद्देश्य है। अधिकांश पुराणों ने पातजंलि के अष्टांग योग का ही आधार ग्रहण किया है।

स्मृति ग्रन्थ एवं योग – सम्पूर्ण स्मृति ग्रन्थों को आचार-विचार की नीतियों की अमूल्य धरोहर कहा जा सकता है। इन ग्रन्थों में मानव जीवन में उपयोगी नियमों की विस्तृत चर्चा की गई है। याज्ञवल्क्यस्मृति, मनुस्मृति, पाराशर-स्मृति आदि स्मृतियों में साधकों के अनेक कर्त्तव्यों तथा गृहस्थों के सत्कर्मों की चर्चा की गई है।[1]

याज्ञवल्क्यस्मृति में योग से सम्बन्धित विषय को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि – मन और बुद्धि को विषयों से हटाकर ध्येय को आत्मा में स्थित करके योग करना चाहिए।[2] इस प्रकार स्मृतियों में मोक्ष को प्राप्त करने के लिए जप, तप एवं योगाभ्यास का वर्णन मिलता है।

योगवाशिष्ठ एवं योग – योगवाशिष्ट वैदिक परम्परा का ही एक अंग है। इस अति प्राचीन ग्रन्थ में योग का विस्तृत रूप से विवरण प्राप्त होता है। इसके छह प्रकरणों में योग के सब अङ्गों का वर्णन किया गया है। इसकी कथाओं, उपदेशों, प्रसंगों आदि में संसार-सागर से निवृत्त होने की युक्ति बतलाई गई है। वस्तुत: योग द्वारा मानव अपने वास्तविक स्वरूप की अनुभूति को प्राप्त करता है एवं अन्त में संसार के आवागमन से मुक्त हो जाता है। योगवाशिष्ट के उपशम प्रकरण के छत्तीसवें सर्ग में ध्यान का वर्णन किया गया है और उसमें बुद्धि, अहंकार, चित्त, कर्म, कल्पना, स्मृति, वासना, इन्द्रियाँ, देह, पदार्थ आदि को मन के रूप में ही माना गया है।[3]

यद्यपि मन अत्यन्त शक्तिशाली होता है, यही पुरुषार्थ में सहायक होता है। जब योगी अपने मन को पूरी तरह से शान्त कर लेता है तभी उसको ब्रह्मत्व की प्राप्ति होती है। यहाँ समाधि एवं समाधिस्थ का निरूपण अत्यन्त हृदयग्राह्यता से किया है – 'जो गुणों का समूह, गुणात्मक तत्त्व है वह समाधि है एवं जो इनको अनात्मरूप देखते हुए अपने आपको केवल इनका साक्षीभूत चेतन जानता है और जिसका चित्त स्वभावसत्ता में लगकर शीतल हो गया है वह समाधिस्थ कहलाता है।'[4]

योगवाशिष्ट- में योग की तीन रीतियों का प्ररूपण हुआ है जो क्रमश: इस प्रकार

1. अग्निपुराण, 372.
2. वशिष्ठ स्मृति, 206.
3. याज्ञवाक्ल्यस्मृति, 4/111.
4. योगवाशिष्ट, 6/114/17, 6/7/11, 6/139/1, 3/110/46.

हैं - 1. एकतत्त्वधनाभ्यास, 2. प्राणों का निरोध एवं 3. मनोनिरोध। एकतत्त्वधनाभ्यास के अन्तर्गत ब्रह्माभ्यास द्वारा अपने को उसी में लीन कर देना होता है। प्राणों के निरोध में प्राणायाम आदि की अपेक्षा की जाती है एवं कुण्डलिनी शक्ति को जाग्रत करके ब्रह्मत्व प्राप्त किया जाता है। मनोनिरोध में समस्त इच्छाओं का पूर्ण परिशमन किया जाता है।

इस ग्रन्थ में भी सदाचार एवं सद्विचार के सम्यक् परिपालन पर जोर दिया गया है और विचार को परमज्ञान कहा गया है।[1] सदाचार एवं ज्ञान की उपमा क्रमश: दीपक एवं सूर्य से दी गई है और कहा है कि "जब तक ज्ञान का सूरज प्रकट नहीं होता तब तक अज्ञान के गहन अन्धकार में सदाचार का ही दीपक मार्गदर्शक होता है।"[2] अविद्या को दु:खों का मूल कारण माना गया है तथा इसका विनाश सम्यग्दर्शन की प्राप्ति से होता है।[3] इसके अनुसार चित्त की एकदम क्षीण अवस्था हो जाने पर मोक्ष होता है। जबकि वह समस्त क्रियाओं एवं वासनाओं से रहित हो जाता है। संकल्प-विकल्प रहित आत्मस्थिति में मिथ्याज्ञान से उत्पन्न अहंभाव रूपी अज्ञानग्रन्थि का सर्वथा समाप्त हो जाना ही मोक्ष है।[4]

योगवाशिष्ट के छह प्रकरणों में योग व ध्यान की व्याख्या की गई है। योगवाशिष्ठ को तो योग का ग्रन्थराज कहा जाता है।

हठयोग एवं योग - हठयोगदीपिका के अनुसार शिव हठयोग विद्या के प्रथम उपदेष्टा हैं।[5] गोरक्षशतक, गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह, अमनस्क योगबीज, हठयोग-प्रदीपिका, घेरंडसंहिता, हठतत्त्वकौमुदी, सिद्धसिद्धान्तसंग्रह, सिद्धसिद्धान्त-पद्धति, शिवसंहिता आदि ग्रन्थों में इस हठयोग का विस्तृत विवेचन सुलभ होता है। इनके अतिरिक्त विभिन्न योगोपनिषदों में हठयोग एवं उसके अंगों का विवरण प्राप्त होता है।

योगशास्त्र में हठयोग का बहुत महत्त्व माना गया है। सामान्य दृष्टि में योग का अर्थ हठयोग ही होता है। और प्राय: हर प्रकार की योगसाधना हठयोग का सहारा लिए बिना पूरी भी नहीं होती। इसका उद्देश्य साधक में राजयोग की योग्यता उत्पन्न कर देना ही है। अर्थात् राजयोग की प्राप्ति के लिए ही इसकी साधना की जाती है। इसका अपना कोई स्वतन्त्र फल नहीं होता।[6]

---

1. वही, 36/10.
2. विचार: परमं ज्ञानं। योगवाशिष्ट, 2/16/19.
3. वही, 2/16/9.
4. वही, 2/11/41.
5. वही, 3/100/37-42.
6. हठयोगप्रदीपिका, 1/1.

अर्नेस्ट बुड की दृष्टि में लययोग, भक्तियोग और मंत्रयोग हठयोग के भीतर आते हैं तथा कर्मयोग एवं ज्ञानयोग राजयोग के भीतर। लययोगादि को हठयोग के भीतर रखने का कारण यही है कि वे शारीरिक साधनों पर विश्वास करते हैं और उसी के द्वारा मन पर नियन्त्रण की प्रक्रिया स्वीकार करते हैं।[1]

इसलिए बिना हठयोग के राजयोग दुर्लभ है तथा बिना राजयोग के हठयोग नटव्यापार मात्र है। इसी बात का समर्थन करते हुए महामहोपाध्याय पं. कविराज गोपीनाथ बताते हैं 'हठयोग से स्वभावत: राजयोग का विकास होता है।'[2]

हठयोग का अर्थ है - चन्द्र और सूर्य या इडा-पिंगला या प्राण-अपान का मिलन अर्थात् ह=सूर्य, ठ=चन्द्र यानि सूर्य और चन्द्र का संयोग।[3] हठयोग का उद्देश्य शारीरिक तथा मानसिक उन्नति है। यह योग सर्वप्रथम शारीरिक विकास या उन्नति की ओर विशेष ध्यान देता है, क्योंकि शरीर की सुदृढता और स्वस्थता से ही इच्छाओं पर नियन्त्रण होता है और इससे मन शान्त अवस्था को प्राप्त होता है, जो योग धारण के लिए परम आवश्यक है।

हठयोग में प्रमुख सात अंग माने गए हैं - 1. षट्कर्म, 2. प्राणायाम, 3. आसन, 4. मुद्रा, 5. प्रत्याहार, 6. ध्यान और 7. समाधि।[4] इनमें आसन, मुद्रा एवं प्राणायाम का विशेष महत्त्व दृष्टिगोचर होता है। इन प्राणायाम आदि यौगिक क्रियाओं के द्वारा शरीर हलका करने एवं भारी बनाने की लब्धि प्राप्त होती है, लेकिन इन लब्धियों की प्राप्ति ही अन्तिम लक्ष्य नहीं होता।[5] उसका उद्देश्य आन्तरिक देह की शुद्धि करके राजयोग की ओर जाना होता है। अत: हठयोग के बिना राजयोग और राजयोग के बिना हठयोग असम्भव है।[6] अभिहित मुद्राओं तथा प्राणायामों द्वारा नाड़ियों को शुद्ध किया जाता है, जिन पर हठयोग आधृत है। हठयोग का सम्बन्ध शरीर से अधिक है और मन तथा आत्मा से कम।[7] ऐसी स्थिति में मन निरोधावस्था में पहुँचता है, जहाँ से राजयोग का प्रारम्भ होता है। नाडियों के शुद्ध होने पर कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत होती है तथा यह षट्चक्रों का भेदन करती हुई सहस्राधार में पहुँचती है। ऐसी स्थिति में साधक का चित्त निरालम्ब एवं मृत्युभय रहित होता है जो योगाभ्यास की जड़ है।[8]

1. हठयोगप्रदीपिका, 1/1-2, 69. 2. ग्रेट सिस्टम्स ऑफ योगा अर्नेस्ट, पृ. 8-9.
3. भारतीय संस्कृति और साधना, प्रथम खंड, पृ. 395.
4. वही, 1/1, 3/15. 5. घेरण्डसंहिता, 1/10-11.
6. नाथयोग, पृ. 19. 7. हठयोगप्रदीपिका, 2/75.
8. सन्त मत का सरभंग सम्प्रदाय, पृ. 66-68.

पातंजल योग –पातंजल योग साधना सांख्यसिद्धान्त की नींव पर आधारित है। इसका प्रमुख ग्रन्थ योगसूत्र चार पादों में विभक्त है। प्रथम पाद का नाम समाधि पाद है जिसमें योग के लक्षण, स्वरूप और उसकी प्राप्ति के उपायों का वर्णन है। द्वितीय पाद का नाम साधनापाद है, इसमें दु:खों के कारणों पर प्रकाश डाला गया है। तृतीय पाद विभूतिपाद है, जिसमें धारणा, ध्यान एवं समाधि का वर्णन हुआ है।

पातंजल योगदर्शन के अनुसार 'एक ध्येय में एकतानता, चित्तवृत्ति का एकरूप तथा एकरस बने रहना ध्यान है।'[1] अत: चित्त की एकाग्रता के लिए समस्त वृत्तियों का निरोध जरूरी माना जाता है। ये वृत्तियाँ संसार में प्रवृत्तियों के कारण उत्पन्न होती हैं। जिनसे धर्माधर्म तथा वासनाओं आदि को जन्म मिलता है। इन वृत्तियों को पाँच प्रकार का माना गया है – 1. प्रमाण, 2. विपर्यय, 3. विकल्प, 4. निद्रा और 5. स्मृति।

सामान्यत: योगदर्शन में योग के दो भेद होते हैं – सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात। चित्त में अनेक वृत्तियाँ रहती हैं। किसी एक वस्तु में ध्यान स्थिर होने पर, उनमें से एक ही वृत्ति कार्यशील होती है और अन्य वृत्तियाँ क्षीण होती है। उसको प्रज्ञा कहते हैं। अत: एकाग्र भूमि में एक वस्तु के सतत् भाव में लगे रहना सम्प्रज्ञात समाधि है तथा असम्प्रज्ञात समाधि अथवा योग के अन्तर्गत सभी वृत्तियों का पूर्णत: निरोध अनिवार्य होता है।

सम्प्रज्ञात समाधि के चार भेद निर्दिष्ट किये गए हैं – 1. वितर्कानुगत, 2. विचारानुगत, 3. आनन्दानुगत और 4. अस्मितानुगत।[2] असम्प्रज्ञात समाधि कैवल्य की स्थिति है, क्योंकि इस समाधि में चित्त की अवस्था बिलकुल शान्त एवं संस्कार रहित होती है, लेकिन ऐसी अवस्था में संस्कार बहुत बाधक बनते हैं। जिनका पूर्वजन्मानुसार जीव में आगमन होता रहता है। इनका कारण अविद्या होती है। इसी से कर्म बंधते हैं और इन कर्मों से क्लेश उत्पन्न होते हैं। अत: इन वासनाओं, कर्मों और क्लेशों का सर्वथा नाश विवेक या सम्यग्ज्ञान प्राप्त कर लेने पर ही संभव होता है। तभी आत्मतत्त्व को पहचानने की शक्ति उत्पन्न होती है। ऐसी स्थिति की प्राप्ति ही आत्मलीनता अथवा कैवल्यधाम है, जो कि योग का लक्ष्य होता है।[3]

इस प्रकार योगदर्शन के अनुसार मन:शुद्धि करके क्रमश: आत्मस्वरूप में स्थित होने के लिए आठ योगांगों का वर्णन मिलता है, जो यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान एवं समाधि के नाम से प्रसिद्ध हैं।[4]

---

1. भारतीय संस्कृति और साधना, भाग 2, पृ. 397.
2. पातञ्जलयोगदर्शन, 1/2.
3. योगदर्शन, 1/17.
4. वही, 4/34

योगदर्शन में क्रियायोग एवं समाधियोग के सतत् अभ्यास का प्रसंग भी विशेषतया द्रष्टव्य है, जिनमें कहा गया है कि तप, स्वाध्याय तथा ईश्वरप्रणिधान क्रियायोग है।[1] यहाँ तप का मतलब चान्द्रायण, काच्छ्रायणादि व्रत से है। वेदों का अध्ययन, चिन्तन-मनन करना स्वाध्याय है तथा ईश्वर को सम्मुख रखकर बार-बार उसके गुणों का स्मरण करना ईश्वरप्रणिधान माना जाता है। इस क्रियायोग से इन्द्रियों का दमन होता है। अभ्यास और वैराग्य की सतत् भावना इसके लिए अनिवार्य है। इस तरह योगदर्शन के अष्टांगयोगयुक्त योगसमाधि में संलीन रहने वाले योगी दीर्घकाल तक योग में रमण कर सकते हैं।[2]

शैव और शाक्त योग – प्राचीनतम सम्प्रदायों में शैवमत को अन्यतम स्थान प्राप्त है। शैवागम शिव के पाँच मुखों से निकली हुई अनुभूतियों का साहित्य है। इसमें मूलत: पूर्ण स्वरूप को शिव और परमशिव नाम से सम्बोधित किया गया है। यह शिव परम अखण्ड महाप्रकाश स्वरूप है और इसे समस्त सृष्टि-स्थिति का अर्थात् अभिव्यक्तसृष्टि का केन्द्र माना जाता है। इस केन्द्रबिन्दु से स्फुटित पाँच बिन्दु ही शिव के पाँच मुख हैं – 1. सद्योयान, 2. वामदेव, 3. अघोर, 4. ईशान्य और 5. तत्त्वांश।[3] इन पाँच मुखों से निर्गत आगम को शिव, रुद्र एवं भैरव भी कहा जाता है।

शैवधर्म के तत्त्व को चार भागों में विभाजित किया जाता है – 1. ज्ञान, 2. क्रिया, 3. चर्या और 4. योग।[4] कुण्डलिनी शक्ति, जिसमें कि संकोच और विस्तार की क्रियाएँ होती हैं, इन पर ही आधारित होती है। ये क्रियाएँ ऊर्ध्व और अधोगति को पहुंचाने वालीं मानीं जातीं हैं। कुण्डलिनी जागरण, आसन, प्राणायाम, मलशोधन, नाड+ीशोधन आदि सब कुछ स्वत: ही हो जाता है एवं शिवशक्ति का सामंजस्य भी हो जाता है। इसी को परमब्रह्म में लीन होना कहा जाता है।

इस परम्परा में अज्ञान के दो प्रकार माने जाते हैं – बुद्धिगतअज्ञान और पौरुष-अज्ञान। चित्शक्ति का संकोच अज्ञान है तथा इस संकोच की चरम सीमा ही संसार है। स्वरूप संकोच के कारण स्वयं चेतन ही जड+ बन जाता है। चैतन्य को ही प्रमाण, प्रमेय माना गया है और चित् शक्ति को विशेष स्थान दिया गया है।

सामान्यत: छठी से दसवीं सदी का काल शाक्तयुग का कहा जाता है।[5] इस युग

1. वही, 2/29.
2. योगदर्शन, 2/1.
3. वही, व्यासभाष्य, पृ. 517.
4. तंत्रालोक, कण्ठसंहिता, भाग 1, पृ. 37-38.
5. सर्वदर्शन संग्रह, पृ. 322.

में शक्ति की जो महत्त्ववृद्धि हुई वह चरम पर थी। मंत्रप्रयोग, कुंडलिनीसाधना एवं पंचमकारोपासना का आधिक्य इसी समय में दिखाई देता है। शाक्तों के धर्मग्रन्थों को तंत्र के रूप में माना जाता है। काश्मीर के शैवमत में भी तंत्रों की स्वीकृति मिलती है। इसलिए काश्मीरी शैवों को शैव एवं शाक्त दोनों माना जाता है।

शैव जहाँ परमशिव को महत्त्व देते हैं वहीं शाक्त पराशक्ति को। शाक्तों में शैवों की तरह शाक्ती, शांभवी और मंत्री दीक्षा होती है। इस साधना में मंत्रों का महत्त्व विशेष होता है। इनमें अकल्पनीय शक्ति का निवास माना जाता है।

इस शाक्तसाधना में षट्चक्र भेद द्वारा शिव और शक्ति का मिलन ही मुख्य होता है। इस शरीर में 72000 नाडि+याँ मानी गई हैं। इस शरीर का आधार मेरुदंड है और इसी को आधार बनाकर नाडि+याँ फैली हुई हैं। इनमें सुषुम्ना सर्वप्रमुख है। इसी में षट्चक्रों की स्थिति मानी जाती है। चक्र, चक्राधिदेव, देवता, शक्ति, बीजाक्षरयंत्र, बीजवाहन आदि का विस्तृत वर्णन शाक्त योग में मिलता है। इस शाक्तयोग में वाणी की अभिव्यक्ति की प्रक्रिया को भी समझाया गया है।[1]

अद्वैतवेदान्त एवं योग -- भारतीय दर्शनों में वेदान्त का प्रमुख स्थान है। यह दर्शन केवल सैद्धान्तिक ही नहीं है अपितु व्यावहारिक भी है। आचार्य उदयवीर शास्त्री के अनुसार 'वेदान्त' पद का तात्पर्य वेदादि के विधिपूर्वक अध्ययन, मनन तथा उपासना आदि के अन्त में जो तत्त्व जाना जाए उस तत्त्वविशेष के निरूपण करने वाले शास्त्र से है।[1]

जब जीव और ब्रह्म एक हो जाते हैं, तब जीव के समस्त अहंकारादि दोष नष्ट हो जाते हैं। माया के कारण जीव आत्म स्वभाव को भूल जाता है। ज्ञानप्राप्ति के बाद उसका ब्रह्म के साथ तादात्म्य हो जाता है। यही मोक्ष है और मोक्ष प्राप्त करना ही अद्वैतवेदान्त-योग का साध्य है।

वेदान्त की साधना की शुरुआत आवरण को हटाने से होती है। उसके लिए साधन चतुष्टय को अपनाना होता है, जो निम्न हैं -

1. नित्यानित्य वस्तुविवेक, 2. वैराग्य, 3. षटसम्पत्तियाँ (शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधान) 4. मुमुक्षुत्व।

इन साधनचतुष्टय के द्वारा साधक अपने अज्ञान को दूर करता है, क्योंकि वेदान्त

1. रिलीजस क्वेस्ट ऑफ इंडिया, पृ. 167.

की साधना ज्ञान से होती है, इसलिए श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन द्वारा ज्ञान प्राप्त करके साधक भवसागर को पार करता है।

अद्वैत वेदान्त आत्मा को ब्रह्म से भिन्न नहीं मानता है। वहाँ ब्रह्म को सम्पूर्ण सृष्टि का आधार मानते हुए दो रूपों में वर्णित किया गया है - सगुण और निर्गुण। निर्गुण रूप ही उसका वास्तविक रूप है, जो कि सभी प्रकार के विकारों से रहित और निष्क्रिय होता है।

हमारे शरीर में स्थित जो आन्तरिक चेतन तत्त्व है वही आत्मा है। ब्रह्म के सगुण रूप का एकनिष्ठ ध्यान करना और उसमें लीन होना ही योग का वास्तविक स्वरूप है।[1] वेदान्तसार में समाधि के दो प्रकार बतलाए गए हैं - सविकल्पक और निर्विकल्पक।[2] निर्विकल्पक समाधि के यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान एवं समाधि ये आठ भेद बतलाये जाते हैं। वहाँ ब्रह्म और आत्मा में रुक-रुककर अन्त:करण की वृत्ति के प्रवाह को ध्यान कहा गया है।[3] श्रद्धा, भक्ति, ध्यान और योग मुक्ति का कारण है, इससे ही देहबन्धन का उच्छेद होता है।[4]

अद्वैत वेदान्त का परम लक्ष्य मोक्ष ही होता है। मोक्ष की प्राप्ति ज्ञान से ही होती, न कि कर्म से। मोक्ष तो स्वयं आत्मा का स्वरूप है, वह पहले से ही सिद्ध है, अत: कर्म द्वारा उसे प्राप्त करना सम्भव नहीं होता। अज्ञान रूपी आवरण दूर होने से उसकी प्रतीति नहीं होती अपितु ज्ञान के प्रकाश से वह प्रगट हो जाती है। यही उसकी प्राप्ति है।[5] जब साधक इस स्थिति में पहुँचता है तो उसका अज्ञान नष्ट हो चुका होता है उसे सर्वत्र ब्रह्म ही ब्रह्म भासित होता है।

नाथ सम्प्रदाय एवं योग - नाथ योग के उद्भव के विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता, लेकिन माना जाता है कि इसका प्रारम्भ अथवा पुन:स्थापन गोरखनाथ से हुआ है।[6] गोरखनाथ का समय 10 वीं अथवा 11 वीं शती से पूर्व का है, जो इस सम्प्रदाय का समय माना जा सकता है।[7] नाथ सम्प्रदाय में मुख्यत: नौ नाथ माने जाते हैं - 1. गोरखनाथ, 2. ज्वालेन्द्रनाथ, 3. कारिणनाथ, 4. गाहिनीनाथ, 5. चर्पटनाथ,

1. वेदान्तदर्शन का इतिहास, पृ. 1.
2. वेदान्तसार, 187.
3. वेदान्तसार, 191.
4. तत्राद्धितीयवस्तुनि विच्छिद्य विच्छिद्यानतरिन्द्रियवृत्तिप्रवाहो ध्यानम्। - वही, 198.
5. ब्रह्मसूत्र (शांकरभाष्य) 1/1/4.
6. सर्वदर्शनसंग्रह, पृ. 763.
7. Siddha Siddhanta Paddhati and other work of Nathyogis, P. 7.

6. खेणनाथ, 7. नागनाथ, 8. भर्तृनाथ तथा 9. गोपीचन्द्रनाथ।[1] यह पन्थ अलग-अलग नामों से भी जाना जाता है। जैसे - सिद्धमत, योगमार्ग, योगसम्प्रदाय, अवधूतसम्प्रदाय, अवधूतमत आदि। इसमें दीक्षा धारण करने के समय कान फड+वाकर कुण्डल धारण करने के कारण इन्हें कनफटा योगी भी कहते हैं।[2]

इन नाथपंथियों के साहित्य में बौद्धों की साधना पद्धति की बहुतसी बातों का समन्वित रूप देखकर डॉ. राधाकान्त मुखर्जी ने निष्कर्ष निकाला है कि 'नाथ सिद्ध आधे बौद्ध और आधे हिन्दू थे किन्तु पूर्णयोगी थे। ये दसवीं से ग्यारहवीं शताब्दियों के दौरान हुए थे।'[3] विद्धानों ने सामाजिक दृष्टि और धर्मसाधना आदि से संबद्ध दृष्टिकोणों की समानता आदि के आधार से नाथों को सिद्धों का उत्तराधिकारी माना है। किन्तु जहाँ डॉ. रामकुमार वर्मा व महापंडित राहुल सांकृत्यायन जैसों का मत इनके समर्थन में है, वहीं कतिपय इस विचारधारा के विपरीत भी हैं।

हठयोग की साधना का उद्देश्य भी राजयोग प्राप्ति था। मुद्रा का अर्थ भी वज्रयानियों की तरह स्त्री होकर कान में धारण किया जाने वाला कुण्डल है। अतः साधनात्मक दृष्टि से दोनों अभिन्न नहीं थे। इतना ही नहीं, नाथयोगी शैव थे, और उनमें शिवशक्ति के सामरस्य द्वारा चित्त की समता की प्राप्ति होती थी, वज्रयानियों की तरह शून्य और करुणा के युगनद्ध द्वारा नहीं। बौद्ध सहजिया-साधकों की काया-साधना का लक्ष्य जहाँ महासुख की प्राप्ति था, वहीं नाथपंथियों का लक्ष्य अमरता एवं शिवत्व की प्राप्ति। सहजिया-साधकों ने महासुखात्मक शून्य ज्ञान के लिए नारी को अपरिहार्य माना, किन्तु नाथयोगियों ने उसका निषेध किया। इन और अनेक तर्कों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला गया है कि इस प्रकार नाथ, सिद्ध और बौद्ध भिन्न-भिन्न हैं तथा उनके द्वारा प्रवर्तित प्रचारित संप्रदाय और धर्ममत समकालीन होकर भी भिन्न-भिन्न हैं। जो समानताएँ मिलती हैं, वे भारतीय तांत्रिक धर्म की विशेषताएँ हैं, जो एक साथ ही जैनों, बौद्धों, शैवों, शाक्तों और वैष्णवों आदि सभी में समान रूप से मिलती है। इस प्रकार बौद्ध-सिद्धों, नाथसिद्धों एवं संतों के मत को एक ही स्रोत का मान लेना अनुचित है।[4]

नाथयोग में हठयोग तथा तन्त्रयोग के समान ही गुरु की महत्ता स्वीकार की जाती है। वहाँ कहा गया है कि - 'गुरु की कृपा से ही संसार के बन्धन तोड़कर शिव की

1. I bid. P. 10 & Gorakhnath and the Kantata yogis, P. 235-6.
2. गोरखवाणी, प्रथम खण्ड, वर्ष 24, अध्याय 12, 1990 पृ. 92.
3. कबीर की विचारधारा, पृ. 153.
4. Gorakhnath and the Kanfata Yogis. P. 235-6.

प्राप्ति सम्भव है।[1] इस सम्प्रदाय में कुण्डलिनी शक्ति के महत्त्व को समझाते हुए कहा है कि - हठयोगी प्राणवायु का निरोध करके कुण्डलिनी को उद्‌बुद्ध करता है। जब कुण्डलिनी उद्‌बुद्ध हो जाती है तो प्राण स्थिर हो जाते हैं और साधक शून्य पथ से निरन्तर उस अनाहत ध्वनि को सुनने लगता है जो अखण्ड रूप से सारे ब्रह्माण्ड में ध्वनित हो रही है। प्राणायाम के द्धारा कुण्डलिनी का उद्‌बोध सुकर हो जाता है।

नाथयोगी शरीर के महत्त्व को स्वीकार करते हैं। उनकी दृष्टि में शरीर के रहस्यों को जानना चाहिए, ताकि परिपक्व या सिद्धदेह की प्राप्ति हो सके। योगाग्नि से सप्तधातुमय तथा महाभूत से निर्मित शरीर को दग्ध किया जा सकता है। अपक्व शरीर व्याधि आदि से पीडित होता है। हठयोग की क्रियाओं से सिद्धदेह की प्राप्ति होती है। मानस-साधना के लिए यह देह सर्वाधिक उपयुक्त माध्यम होती है। स्वस्थ रोगमुक्त शरीर के बिना समाधि-योग कैसे सध सकता है। अत: नाथयोगी वज्रलौह के समान कठोर एवं सिद्धदेह या चिन्मय शरीर की प्राप्ति के लिए हठसाधना का सहारा लेते हैं।

नाथयोग का लक्ष्य नाथपद की प्राप्ति है। गोरक्षसिद्धान्तकार के अनुसार 'नाथस्वरूपेणावस्थानम्' ही नाथयोग का उद्देश्य होता है। गुरु की अनुकम्पा एवं सिद्धदेह के माध्यम से ही इस पद की प्राप्ति संभव हो पाती है। निराकार-साकार, निर्गुण-सगुण, द्वैत-अद्वैत से परे सर्वातीत, स्वसंवेद्य, केवल अनुभवगम्य तत्त्व ही नाथपद है। इस पद को अनिवार्य तथा स्वात्मप्रकाश रूप कहा गया है। वह निश्चल, निर्मल, शान्त, सर्वातीत, निरामय है। अत: यह कहा जा सकता है कि नाथयोग का लक्ष्य जीवन्मुक्ति युक्त सिद्धदेह से नाथरूप में अवस्थान या पिंडपद का समरसीकरण ही है।

इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए नाथपंथ ने योग की जो साधना प्रणाली स्वीकार की है, वह हठयोग, मंत्रयोग, लययोग एवं समाधियोग या राजयोग की ही है। इनमें भी वह हठ एवं लययोग पर अधिक बल देता है।

मुख्य रूप से अष्टांग या षडंग योग की साधना नाथपंथ में प्रचलित है। उनका योग षडंग है, यद्यपि अष्टांग का विवेचन भी उनके साहित्य में पाया जाता है।

नाथों ने केवल योग को ही लक्ष्यप्राप्ति में साधन नहीं माना है। उनकी दृष्टि में लक्ष्य सिद्धि के लिए योगयुक्त ज्ञान अपेक्षित है। इनकी साधना में यम-नियम, आसन, प्राणायाम, मुद्रा, बोध और बंध का प्राणायाम से संबंध, प्राणायाम और प्रणवसाधना,

1. नाथ और संत साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन, पृ. 26.

अजपा-जप तथा नादानुसंधान, प्रत्याहार, धारणा और षट्चक्रभेद, कुंडलिनी योग, समाधि, अमृतसाधन एवं ध्यानयोग का विस्तृत विवेचन एवं प्रयोग मिलता है।

बौद्धधर्म एवं योग - बौद्धधर्म की परम्परा निवृत्ति प्रधान मानी गई है। बौद्ध परम्परा में यह बात बहुत प्रसिद्ध है कि भगवान् बुद्ध बुद्धत्व प्राप्त होने से पहले छह वर्षों तक ध्यान साधना में लीन रहे।

बौद्धधर्म पर योग का प्रभूत प्रभाव परिलक्षित होता है। **सेनार्ट** का तो यह विचार ही है कि बौद्धमत का उद्गम योग से हुआ है।[1] इसी प्रकार **पूसे** बौद्धमत को योग की ही एक शाखा के रूप में मानते हैं।[2] जो भी हो, इतना तो प्राय: निश्चित है कि प्रारम्भिक एवं परवर्ती बौद्धधर्म पर योग का अमिट प्रभाव पड़ा है।

भगवान् बुद्ध के जीवन से पता चलता है कि स्वयं उन्होंने भी योग की साधना की थी। संन्यास धारण करने के बाद उन्होंने योग की दीक्षा भी ली थी। बुद्ध को जिन दृश्यों के दर्शन से प्रव्रज्या की प्रेरणा मिली थी, उनमें एक प्रव्रजित का दृश्य भी था। उन्होंने उस समय के प्रसिद्ध योगी आलात कालाम से योग भी सीखा था। 'ललितविस्तर' से पता चलता है कि बुद्धकाल में योग की अनेक पद्धतियाँ प्रचलित थीं।[3] इसके अतिरिक्त बोधगया के निकट लगातार छह वर्षों तक उन्होंने योग का अभ्यास किया था। वहाँ उन्होंने 'आस्थानकसमाधि' का अभ्यास करते हुए शरीर को इस प्रकार कस दिया था कि उनका आहार घटते-घटते चावल के एक दाने पर पहुँच गया था। किन्तु कालान्तर में बुद्ध को बोध हुआ कि इस प्रकार की साधना से दु:ख का निरोध संभव नहीं है, अत: उन्होंने उसका परित्याग कर दिया।

बौद्ध साहित्य में योग के स्थान पर 'ध्यान' और 'समाधि' शब्दों का प्रयोग मिलता है। ध्यान बौद्ध धर्म का हृदय है। बौद्ध साधना पद्धति में ध्यान का अर्थ किसी विषय पर चिन्तन करना है।[4] परन्तु अभ्यास के बिना कुछ भी संभव नहीं है, चित्त का अभ्यास ही ध्यान है।[5] अथवा बाह्य विषयों की आसक्ति से मुक्त होना ही ध्यान है।[6]

1. अमनस्कयोग, 152.
2. भक्तिकालीन हिन्दी-साहित्य में योग भावना, (अप्रकाशित शोध प्रबन्ध) पृ.77.
3. बौद्धधर्म-दर्शन, पृ. 282.
4. इंडियन फिलॉसफी, डॉ. राधाकृष्णन्, खंड 1, पृ. 355-6 की पादटिप्पण .
5. समन्तपासादिका, पृ. 145-6.
6. ध्यान सम्प्रदाय, पृ. 81.

बोधि प्राप्त होने से पूर्व तथागत बुद्ध ने श्वासोच्छवास का निरोध करने का प्रयत्न किया था। उन्होंने अपने शिष्य से कहा कि मैं श्वासोच्छ्वास का निरोध करना चाहता था, इसलिए मैं मुख, नाक एवं कर्ण में से निकलते हुए सांस को रोकने का, उसे निरोध करने का प्रयत्न करता रहा। लेकिन इसमें उन्हें सफलता नहीं मिली। इसलिए उन्होंने अष्टांगिक मार्ग का उपदेश दिया।[1]

बौद्ध योग में 'समाधि' का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसको प्राप्त करने के लिए 'ध्यान' का प्रतिपादन किया गया है।[2] ध्यान चार प्रकार का बतलाया गया है, जो इस प्रकार है - 1. वितर्क विचार प्रीतिसुख एकाग्रता सहित, 2. प्रीतिसुख एकाग्रता सहित, 3. सुख एकाग्रता सहित और 4. एकाग्रता सहित।

ध्यान की एकाग्रता के लिए योगी को आचार-विचार एवं नीति-नियमों का सम्यक् रूपेण पालन करना चाहिए, क्योंकि संयम के बिना ध्यान अथवा समाधि लगाना वैसे ही निरर्थक है, जैसे कि फूटे घड़े में पानी भरना। चित्तवृत्तियों की पूर्ण शान्ति एवं एकाग्रता के लिए भी संयमी तथा सदाचारी होना वांछनीय है। इन सारे आचार-विचारों का विस्तृत वर्णन सुत्तपिटकों में हुआ है। बौद्धागम में प्राणायाम को आनापानस्मृति कर्मस्थान कहा गया है। प्राणायाम की विधि के उपयोग की सार्थकता बताते हुए कहा है कि चित्त स्थिर रखने के लिए साधक को चाहिए कि वह शरीर को स्थिर करके श्वासोच्छ्वास ले। यदि इस पर भी उसका चित्त शान्त नहीं होता है तो साधक को चाहिए कि वह गणना, अनुबन्धता, स्पर्श, स्थापना का प्रयोग करे।[3]

बौद्ध योग में नैतिक जीवन के सिद्धान्त इस प्रकार माने जाते हैं - दान, वीर्य, शील, शान्ति, धैर्य, ध्यान और प्रज्ञा। क्योंकि इनके द्वारा व्यक्ति में उच्च भावों का विकास होता है तथा दृष्टि क्षिति का विस्तार होता है। बौद्ध योग-साधना में चार स्मृतियों अर्थात् कायानुपश्यना, वेदनानुपश्यना, चित्तानुपश्यना और धर्मानुपश्यना को महत्त्वपूर्ण माना जाता है। इन स्मृतियों के अन्तर्गत ही इन्द्रिय संयम, चार आर्यसत्य, अष्टांगिक मार्ग, सप्त बौध्यंग, चार ध्यान तथा अनात्मवाद आते हैं। इस प्रकार शरीर को निश्चल करने का मार्ग बतलाकर संसार के चार कारणों अर्थात् चार आर्यसत्यों का उल्लेख किया गया है, जो निम्न हैं -

1. दु:ख, 2. दु:खसमुदय, 3. दु:खनिरोध और 4. दु:खनिरोध के उपाय।[4]

---

1. दि सूत्र ऑफ वे-लेंग, पृ. 47.
2. अंगुत्तरनिकाय, 63.
3. संयुत्तनिकाय, 5, 10.
4. विशुद्धिमार्ग, भाग 1, परिच्छेद 8.

. बौद्धदर्शन के अनुसार संसार में दु:ख ही दु:ख है। इन दु:ख समुदायों की जड़ें बहुत हैं, जिन्हें द्वादश निदान अथवा प्रतीत्यसमुत्पाद कहा जाता है।[1]

द्वादश निदानों का सम्बन्ध भूत, वर्तमान और भविष्य के साथ होता है। आर्य सत्यों का निरोध करने के लिए अविद्या का निरोध अत्यावश्यक होता है। क्योंकि केवल अविद्या ही इन द्वादश निदानों की जड़ है। इस सन्दर्भ में दु:खनिरोध मार्ग की चर्चा करते हुए बुद्ध ने मध्यम प्रतिपदा का मार्ग बतलाया है जो अष्टांग मार्ग से भी जाना जाता है। इसी मार्ग के सम्यक् सेवन से प्रज्ञा का उदय होता है और निर्वाण की प्राप्ति होती है।

इस प्रकार संयम पूर्ण आचार-विचार की अनिवार्यता प्रतिपादित करते हुए बुद्ध ने शील, समाधि एवं प्रज्ञा का विधान किया है, जो कि योग के ही स्रोत हैं। इनके अतिरिक्त योगसाधना के विभिन्न अंगोपांगों की विस्तृत चर्चा 'मिलिन्दप्रश्न' में की है।[2] बौद्ध योग में यद्यपि पातंजल योग की भांति व्यवस्थित एवं क्रमबद्ध योग की चर्चा नहीं हुई है, तथापि बोधिप्राप्ति के लिए जो उपाय बतलाए हैं, वे निश्चय ही आध्यात्मिक अथवा योगमार्ग के सोपान हैं।

जैनपरम्परा एवं योग - जैनधर्म के मौलिक ग्रन्थ आगम कहलाते हैं। जैनागमों में योग के अर्थ में अधिकतर ध्यान शब्द प्रयुक्त हुआ है। ध्यान के लक्षण, भेद, प्रभेद, आलम्बन आदि का विस्तृत वर्णन अनेक जैनागमों में मिलता है। षट्खण्डागम की धवला टीका में मुनियों के तप:कर्म के वर्णन में ध्यान के भेद-प्रभेद का वर्णन प्राप्त होता है।[3] आचार्य श्री कुन्दकुन्द स्वामी द्वारा विरचित सभी अध्यात्मप्रधान ग्रन्थ समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, पञ्चास्तिकाय, अष्टप्राभृत आदि ग्रन्थों में अध्यात्मध्यान-योग का विशद वर्णन किया गया है।

मुनि और श्रावक के आचार का वर्णन करने वाले आचार विषयक अनेक ग्रन्थों में भी ध्यान-योग सम्बन्धी वर्णन उपलब्ध होता है। मूलाचार में मुनियों के पंचाचारों के विवेचन में तप:आचार के अन्तर्गत पाँचवें अन्तरंग तप ध्यान नामक तप के वर्णन के प्रसङ्ग में ध्यान के भेद-प्रभेदों का वर्णन किया गया है। भगवती आराधना में भी तप आराधना के वर्णन में ध्यान-योग का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है। उमास्वामी कृत तत्त्वार्थसूत्र और इसके टीका ग्रन्थ सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थवार्तिक, तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक, तत्त्वार्थवृत्ति आदि में भी ध्यान का विस्तार से वर्णन किया गया है। ध्यानशतक,

1. वही, भाग 2, परिच्छेद 16 पृ. 105. 2. वही, भाग 2, परिच्छेद 16, पृ. 121.
3. मिलिन्द प्रश्न, 6/1/1.

तत्त्वानुशासन, कार्तिकेयानुप्रेक्षा, ज्ञानसार (णाणसार), योगसारप्राभृत, ज्ञानार्णव, अमितगतिश्रावकाचार, तत्त्वसार, आराधनासार, आचारसार, चारित्रसार, वसुनन्दिश्रावकाचार, महापुराण, हरिवंशपुराण इत्यादि जैन ग्रन्थों में ध्यान-योग की विपुल सामग्री प्राप्त होती है।

आचार्य शुभचन्द्र ने ज्ञानार्णव में पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ध्यानों का विस्तृत वर्णन किया है। यह ग्रन्थ ध्यान-योग का अत्यन्त उपयोगी एवं महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। हरिभद्रसूरि ने योगबिन्दु, योगदृष्टिसमुच्चय, योगविंशिका, योगशतक और षोडशक ग्रन्थों को लिखकर जैन योग को एक नया आयाम दिया है। हेमचन्द्रसूरि ने भी योगशास्त्र में आसन, प्राणायाम एवं ध्यान से सम्बन्ध रखने वाली अनेक बातों का विस्तृत रूप से वर्णन किया है। यह ग्रन्थ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं उपयोगी है। उपाध्याय यशोविजयकृत अध्यात्मसार, अध्यात्मोपनिषद् तथा टीका सहित बत्तीस बत्तीसियाँ योग एवं ध्यान से सम्बन्धित विषयों पर लिखी गई हैं।

जैनाचार्यों द्वारा स्वीकृत योग की चरम परिणति आत्मा को उसकी अनादिकालीन कर्म कालिमा से शुद्ध करके उसकी ही यथार्थ निज निर्मल दशा में नियुक्त कर देती है, जहाँ फिर आत्मप्रदेशों का परिस्पन्द सर्वदा के लिए निवृत्त हो जाता है। अतः परिस्पन्दनात्मक योग से अयोगस्थिति में, अयोगिजिन के परिस्पन्दनात्मक मन, वचन, काय की प्रवृत्ति का निरोध योग है।

जैन परम्परा में योग शब्द का पातंजल योगदर्शन सम्मत प्रथम प्रयोग आचार्य श्री कुन्दकुन्द स्वामी द्वारा किया गया है। योग को परिभाषित करते हुए उन्होंने लिखा कि "जो साधु रागादि के परिहार में आत्मा को लगाता है अर्थात् आत्मा में आत्मा को लगाकर रागादिक का त्याग करता है वह योग भक्ति युक्त है। दूसरों को योग किस प्रकार हो सकता है जो साधु सर्व विकल्पों के अभाव में आत्मा को लगाता है अर्थात् आत्मा में आत्मा को जोड़कर सर्व विकल्पों का अभाव करता है। वह साधु योगभक्ति युक्त है। विपरीत अभिप्राय का परित्याग करके जो जिनकथित तत्त्वों में आत्मा को लगाता है उसका वह निजभाव योग होता है।"[1]

आचार्य हरिभद्रसूरि ने भी 'मोक्ष की प्राप्ति के लिए जो धर्म क्रिया अथवा विशुद्ध व्यापार किया जाता है वह धर्मव्यापार योग है।'[2] यम-नियमादि का व्यापार जीव के परिणामों की शुद्धि के लिए ही किया जाता है। तथा इनका उद्देश्य मन, वचन और काय

1. धवला टीका, पुस्तक 13. 2. नियमसार, गाथा 137-9.

द्वारा अर्जित कर्मों की शुद्धि करना ही है। इस दृष्टि से समिति, गुप्ति आदि आचार-विचार का अनुष्ठान उत्तमयोग है, क्योंकि इनसे संयम की वृद्धि होती है और योग भी आत्मा की ही विशुद्ध अवस्था का मार्ग है, जिससे जीव को सर्वोच्च अवस्था की प्राप्ति होती है।[1]

जैन परम्परा में मन, वचन और काय की प्रवृत्ति भी योग शब्द से अभिहित होती है। किन्तु योगसाधना को व्यक्त करने वाले अनेक शब्दों को जैनदर्शन में स्थान प्राप्त है जैसे - ध्यान, तप, समाधि, संवर आदि। समाधि, तप, ध्यान आदि शब्दों का उपयोग योग की तरह ही हुआ है और वीर्य, स्थान, उत्साह, पराक्रम, चेष्टा, शक्ति एवं सामर्थ्य शब्द प्रकारान्तर से योग के अर्थ को ही व्यंजित करने वाले माने गए हैं।[2]

निष्कर्ष रूप से यह कहा जा सकता है कि महर्षि पतंजलि वह पहले व्यक्ति हैं, जिन्होंने वैदिक परम्परा में विशृंखल रूप में यत्र-तत्र प्राप्त साधना-पद्धतियों को अनुशासित कर एक व्यवस्थित साधना-प्रक्रिया का रूप दिया। पातंजल योगसूत्र दर्शन एवं प्रक्रिया दोनों का श्रेष्ठतम मिश्रण माना जा सकता है। इस प्रकार पतंजलि ने परम्परा से चली आती हुई अस्तव्यस्त योग-प्रक्रियाओं को सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक रूप में संगठित किया।

ईसा की तीसरी-चौथी शताब्दी के उपरान्त भारत के विभिन्न साधना-सम्प्रदायों में तन्त्र का प्रवेश हुआ है। कालान्तर में जैन, बौद्ध, शैव, वैष्णव आदि सम्प्रदाय तंत्र के प्रभाव से आक्रान्त हुए हैं। योग की पातंजल दृष्टि में भी तन्त्रप्रयोग से कुछ परिवर्तन लक्षित हुए। पतंजलि का राजयोग हठयोग एवं लययोग के रूप में विकसित हुआ है। तंत्र की पिंड-ब्रह्माण्ड ऐक्यवाली दृष्टि के परिणामस्वरूप शरीरस्थ नाड़ीचक्रों का प्रवेश राजयोग में हुआ है।

विभिन्न धार्मिक संप्रदायों में भी योग का प्रवेश हुआ है। बुद्ध एवं महावीर के धर्म में योग पहले से ही विद्यमान था। किन्तु तन्त्रप्रवेश के साथ बौद्धों एवं जैनों से योग में भी नाड़ीचक्रों का प्रवेश हुआ। वैष्णवों के पांचरात्रसाहित्य में भी इस नाडीचक्र, कुंडलिनी आदि का विस्तृत विवरण सुलभ होता है। अतः यह कहा जा सकता है कि विभिन्न धर्म-सम्प्रदायों में राजयोग अपने विकसित रूप में ही फल-फूल सका है।

किसी भी साधना-पद्धति को योग के लिए स्वीकार करने में किसी प्रकार की

1. योगविंशिका, 1. 2. योगभेदद्वात्रिंशिका, 30. .3.पंचसंग्रह, भा.2,4.

हिचक नहीं हुई। क्योंकि योग की यह विशेषता है कि वह किसी भी सम्प्रदाय की धार्मिक मान्यता से किसी भी प्रकार का विरोध नहीं प्रकट करता। कोई भी शैव, वैष्णव, शाक्त, बौद्ध और जैन होते हुए भी योगी हो सकता है। वह ईश्वर के स्वरूपादि के सम्बन्ध में कोई ऐसी मान्यता नहीं उपस्थित करता, जिसे मानने में किसी सम्प्रदाय के साधक को आपत्ति हो।

योग की अवधारणा -

भारतीय दर्शन की मूलचेतना आत्मसाक्षात्कार है। यह आत्मसाक्षात्कार अनुभव के अन्तरस् से उन्मिषित होता है और इसी से मानव अविद्या माया की पृथक्ता को संधानित करके आत्मविद्या का वरण करता है। दर्शन संकल्पनात्मक पुनर्निर्माण उतना नहीं है, जितना कि अन्तर्दृष्टि का प्रकटीकरण। संकल्पनात्मक ज्ञान के रूप में दर्शनशास्त्र अन्तर्ज्ञानात्मक बोध के लिए है और यह बोध हो जाने पर उसे प्रकट करने के लिए 'योग' साधन है। जब व्यक्ति जीवन की नश्वरता, भोगों की क्षणिकता आदि को जान लेता है तब अपने मूलस्वरूप को पहचानने के लिए उसका प्रयास योग की क्रिया से ही संपादित होता है।

यद्यपि संसार के बाह्य भौतिक स्वरूप में, संचार-साधनों, वैज्ञानिक आविष्कारों आदि की उन्नति से बहुत अधिक परिवर्तन हुआ है, किन्तु इससे आन्तरिक आध्यात्मिक पक्ष में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। जैसे क्षुधा-तृषा आदि एवं अनुराग की पुरातन शक्तियाँ और हृदयगत निर्दोष उल्लास एवं भय इत्यादि मानव-प्रकृति के सनातन गुण हैं; उसी प्रकार यम, नियम, आसन, प्राणायाम, ध्यान आदि को जीवन की मूल रूप आत्मा की स्वभावोक्ति कहा गया है।

भौतिकता की आपाधापी के बीच सुख व शान्ति के लिये ध्यान योग ही एकमात्र उपाय है। योग वस्तुत: भारतीय मनीषा का श्रेष्ठतम विकास है। भारतीय मनीषा के सभी क्षेत्र-उपक्षेत्रों को योग ने प्रेरित-प्रभावित किया है। वेद-वेदांग, उपनिषद्, पुराण और अन्य आर्य साहित्य ही नहीं, साधनापरक जैन, बौद्ध, शाक्त-शैव, वैष्णव आदि सम्प्रदायों के साहित्य को भी योग दीक्षा प्राप्त हुई है। योग क्रिया सभी दर्शनों में प्रतिष्ठित है। वह अपनी प्रतिष्ठा और महत्त्व के कारण योग को कई सम्प्रदायों ने अपने नाम के साथ जोड़ा है। जैसे कर्म, भक्ति और ज्ञान सभी के साथ योग जुड़ गया। यह बात अलग है कि अपने सिद्धान्तों एवं विचारों के अनुकूल विभिन्न सम्प्रदायों ने योग की किसी विशिष्ट प्रणाली अथवा रूप को अपने लिए उपयुक्त माना। यदि वैष्णवों ने नाम-स्मरण के माध्यम से जप

एवं मन्त्रयोग को महत्ता दी, तो नाथयोगियों ने हठयोग का समर्थन किया।

इस प्रकार विभिन्न दर्शनों ने अपने-अपने वैचारिक दृष्टिकोण और मान्यताओं के बीच योगसाधना के विभिन्न रूपों को प्रचलित किया। योग साधना, आसन, मुद्रा, प्राणायाम आदि बाह्य अंगों में प्रवाहित तो हुआ किन्तु इसमें सबसे अधिक मान्यता ध्यान प्रक्रिया को मिली। ध्यान साधना यद्यपि योग साधना का अंग मानी जाती है। किन्तु अपनी सर्वोत्कृष्टता एवं प्रचलित प्रतिष्ठा के कारण वह योग साधना का ही पर्याय बन गई। इसलिए कहीं-कहीं अन्य आने वाले साहित्यकारों ने योग साधना के लिए ही ध्यान शब्द प्रयुक्त किया। ध्यान का स्वरूप, उसके भेद-प्रभेद और सहायक सामग्री रूप आसन-प्राणायामादि अष्टांगयोग विषयक विवेचन तथा ध्यान की प्रक्रिया में ध्येय और ध्याता के बीच संबंधित क्रिया की व्याख्या व्यक्ति को ध्यान जैसी क्लिष्ट साधना का सरलतम रूप में लोगों के समक्ष व्यक्त करना है। ध्यान के महत्त्व एवं फल के विवेचन के साथ अन्य ग्रन्थों से तुलना आगे के अध्यायों की रूपरेखा है। जिसमें भारतीय योग परम्परा का वही रूप मिलता है जो सन्तों और साहित्यकारों की अनुभूति और अभिव्यक्ति है। जो युगों-युगों से भारतीय योग परम्परा को समृद्ध कर अविरल प्रवहमान किये हैं। क्योंकि भारतीय युग चेतना कभी विशृंखल नहीं हुई वह विभिन्न दर्शनों एवं सम्प्रदायों के माध्यम से भटकते मानव को जहाँ एक सूत्र में पिरोये हुए है वहीं मानव के चरम लक्ष्य अर्थात् आत्मदर्शन, आत्मानुभूति में अहम् भूमिका का निर्वाह कर रही है। क्योंकि सत्य एक है, किन्तु उसके अनेक पहलू हैं। संसार में वह नाना रूपों में व्यक्त होता है। उसकी अनुभूति भी विभिन्न प्रकार से होती है। यही कारण है कि कई दार्शनिक चिन्तनधाराएं चला करती हैं। किन्तु अन्ततोगत्वा वे सभी धाराएं सागर में समा जाती हैं। इसलिए कहा जाता है कि मनुष्य को प्राप्त ज्ञान के सारे साधनों से, अनुभव में आने वाली सारी सृष्टि को, समग्र रूप में समझने का प्रयत्न ही दर्शन है और उसका लक्ष्य आत्मिक सुख चिरन्तन आनन्द है। जिसे योग, ध्यान आदि के माध्यम से प्राप्त किया जा सकता है।

भारतीय योग परम्परा के विशाल प्रवाह में आचार्य शुभचन्द्र का योगदान ज्योतिर्मान् ध्रुवतारे की तरह अलग-थलग व सदा प्रकाशमान होते रहने वाला है। उनके द्वारा रचित ज्ञानार्णव भारतीय साहित्य भण्डार की वह अक्षय निधि है, जिसको पाकर किसी भी साधक को मात्र गौरव ही प्राप्त नहीं होता अपितु उसके मार्गदर्शन से अपने लक्ष्य को प्राप्त करने की वह सामर्थ्य प्रस्फुटित होती है, जिसके लिए वह जन्म-जन्मान्तर से साधनारत है।

द्वितीय अध्याय

ग्रन्थ एवं ग्रन्थकार

'भारतीय वाङ्मय उस महान् मानव संस्कृति की विजय-गाथा का इतिहास है जो विश्व के व्यापक क्षितिज-वक्षों तक प्रसारित हुई है, जिसने मानव-अखण्डता का अमूल्य दर्शन देकर सम्पूर्ण प्रबुद्ध जगत् को प्रभावित किया है। भारत-भूमि उन मन्त्रद्दष्टा कवियों की भूमि है जो अन्त:शक्ति और अन्तर्बोध द्धारा त्रैकालिक सत्य का साक्षात्कार करते थे।'[1] उसी सत्य का साक्षात्कार उन्हें दया, करुणा, प्रेम और परोपकार के चरमोत्कर्ष तक ले जाता था, तभी उनकी साधना व्यक्तिगत होती हुई भी सम्पूर्ण मानवजाति ही नहीं वरन् प्राणीमात्र के लिए हुआ करती थी। व्यष्टि के अन्तर्गत समष्टि की यह रूपाभिव्यक्ति भारतीय संस्कृति की अपनी अलग विशेषता है। क्योंकि 'अनुभव चाहे कितना भी व्यक्तिगत और विशिष्ट क्यों न हो, यथार्थ का भोग चाहे कितना ही निजी और स्वानुभूतिवादी क्यों न हो, वह मानवीय अनुभव और मानवीय यथार्थ का विरोधी नहीं हो सकता। उस अनुभव की प्रामाणिकता भी व्यापक सामाजिक और मानवीय सन्दर्भों में ही हो सकती है।'[2]

उच्चतम साधक की साधनागत अनुभूति जब करुणा और परोपकार आदि गुणों से प्रभावित होती है तो वह उत्तुंगस्रोत से नि:सृत होती नदी की तरह स्वत: और सहजगत्या काव्यात्मक होकर जनकल्याणार्थ प्रस्तुत हो जाती है। उसमें साधक की किसी भी तरह की अभिसंधि का अनुसंधान अनुसंधाता के आग्रह की परिधि के कारण तो हो सकता है, किन्तु तत्त्वत: नहीं। कारण, कृति मौलिक व ऊर्जस्वित अनुभूति के आवेग का ही परिणाम होती है।

ज्ञानार्णव शीर्षक का तात्पर्य -

आचार्य शुभचन्द्र ने 'ज्ञानार्णव' ग्रन्थ के प्रारम्भ में मङ्गलाचरण के पश्चात् '**ज्ञानार्णवमिमं वक्ष्ये सतामानन्दमन्दिरम्**'[3] वाक्य द्धारा ग्रन्थ आरम्भ करने की प्रतिज्ञा तथा ग्रन्थ के अन्त में ग्रन्थ के महत्त्व को '**ज्ञानार्णवस्य माहात्म्यं चित्ते को वेत्ति तत्त्वत:**'[4] श्लोक द्धारा निरूपित किया गया है।

आचार्य शुभचन्द्र की इस रचना का नाम मूलत: ज्ञानार्णव है। कारण, ज्ञान उसे

1. आधुनिक हिन्दी समीक्षा की प्रवृत्तियाँ, पृ. 166-7.
2. भक्तिकाव्य और मानवमूल्य, पृ. 25.
3. ज्ञानार्णव, 1/11.
4. वही, 2230.

कहा जाता है जो अविद्या का नाशक और वस्तु के यथार्थ स्वरूप का प्रकाशक होता है तथा अर्णव का अर्थ समुद्र है। इस तरह यह ग्रन्थ अज्ञान का नाशक और अनेकानेक विषयों का समावेश करने वाला होने से समुद्रवत् विशाल है। अथवा जो स्वरूपत: अगाध एवं विशाल ज्ञान से समृद्ध है या अनेकानेक पदार्थों के सन्दर्भों से युक्त है वही ज्ञानार्णव है।

अन्य नामों की सम्भावना –

आचार्य शुभचन्द्र द्वारा रचित ग्रन्थराज के नाम '**ज्ञानार्णव**' के अतिरिक्त और भी हैं। जिनकी सूचना स्वयं ग्रन्थकार ग्रन्थ में ही यत्र-तत्र देते हैं। एक नाम के विषय में ग्रन्थ का उपान्त श्लोक कहता है –

इति जिनपतिसूत्रात्सारमुद्धृत्य किञ्चित्
स्वमतिविभवयोग्यं ध्यानशास्त्रं प्रणीतम्।
विबुधमुनिमनीषाम्भोधिचन्द्रायमाणं
चरतु भवि विभूत्यै यावदीन्द्रचन्द्रान्॥[1]

अर्थात् मैंने अपनी बुद्धि के वैभव के अनुसार इस **ध्यानशास्त्र** की रचना की है। उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस कृति का एक अन्य नाम ध्यानशास्त्र भी है। इसका कारण स्पष्ट है कि इस ग्रन्थ में प्रमुखता से मोक्ष के साक्षात् कारणभूत ध्यान का विशद् विवरण प्रस्तुत किया गया है। प्रसङ्गोपात्त अन्य विषयों का विवेचन ध्यान की सहायक सामग्री के आधार पर हुआ है।

ग्रन्थ में ही उपलब्ध एक अन्य श्लोक है –

पुनात्याकर्णितं चेतो दत्ते शिवमनुष्ठितम्।
ध्यानतन्त्रमिदं धीर धन्य योगीन्द्रगोचरम्॥[2]

उपर्युक्त श्लोक से इसके **ध्यानतन्त्र** नाम होने की भी सम्भावना प्रकट होती है। चूंकि प्रस्तुत ग्रन्थ में ध्यान का जितनी सूक्ष्मता एवं प्राञ्जलता से व्याख्यान किया गया है, उससे इसके ध्यानतन्त्र जैसा नाम होने में सन्देह न होकर पुष्टि की ओर ही गति होती है।

ग्रन्थ के प्रत्येक प्रकरण की अन्तिम पुष्पिका वाक्य[3] से इस ग्रन्थ का एक अन्य नाम **योगप्रदीप** होने की सूचना मिलती है। यद्यपि योग और ध्यान कोशार्थतया समानार्थक हैं और यह ग्रन्थ विषय परिज्ञान के लिए दीपक जैसा भास्वत् है। अत:

1. वही, 39/81.
2. ज्ञानार्णव, 3/25.
3. इति ज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे आचार्यश्रीशुभचन्द्रविरचिते ब्रह्मव्रतविचारे कामप्रकोपप्रकरणम्॥ 11॥

योगप्रदीप नाम होने में किञ्चिदपि विस्मयता का कारण नहीं जान पड़ता। किन्तु जैसा कि उपर्युक्त पुष्पिका वाक्य में आचार्य शुभचन्द्र के नाम का स्पष्टोल्लेख है, जो इन पुष्पिकावाक्यों का मूल लेखक कृत होने में किञ्चित् संदेह पैदा करता है। और इसकी पुष्टि के लिए ज्ञानार्णव के ही टीकाकार द्वारा प्रयुक्त अपने पुष्पिका वाक्यों को लिया जा सकता है। फिर भी इन पुष्पिका वाक्यों का मूल ग्रन्थ से कितना सम्बन्ध है, इस विषय में निर्णयात्मक कुछ कह पाना अभी भी गहन अनुसन्धान की अपेक्षा रखता है। कारण, पुष्पिका वाक्यों के अनुरूप ग्रन्थ का विषयविभाजन मूलकर्त्ताकृत होने में अभी भी संदेह को जन्म देता है।

पं. नाथूराम प्रेमी के अभिप्रायानुसार ज्ञानार्णव का एक अन्य नाम **योगार्णव** भी है। इसमें योगीश्वरों के आचरण करने एवं जानने योग्य सम्पूर्ण जैन सिद्धान्त का रहस्य भरा हुआ है।[1] चूंकि इसमें योग का वर्णन अथाह एवं सूक्ष्म रीत्या हुआ है। इसलिए इसे योगार्णव कहना भी सार्थक ही है।

इस प्रकार इस ग्रन्थ के कम-से-कम पाँच नाम हो सकते हैं। इनमें ध्यानतन्त्र और ध्यानशास्त्र तो सार्थक नाम हो ही सकते थे। किन्तु ग्रन्थ कर्ता के द्वारा इन्हें प्रमुखरूपेण स्वीकार न करने का अन्यतम कारण यह भी हो सकता है कि यद्यपि ध्यान भी साधना का एक अवयव मात्र है और उसे बिना ज्ञान के प्राप्त नहीं किया जा सकता। ध्यान में भी वह ध्यान जो आचार्य शुभचन्द्र को अपेक्षित है शुक्लध्यान है। जिसे जैन परम्परा में **पूर्वविद्** ही प्राप्त कर सकते हैं। जैसा कि आचार्य उमास्वामी का कथन है -

शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः ।।[2]

सामान्य ज्ञान के द्वारा स्थिर ध्यान हो पाना संभव नहीं है। अतः ध्याता को कम-से-कम पूर्वविद् होना चाहिए। शायद इसी स्थिति का बोध कराने के लिए ज्ञानार्णव शब्द को चुना गया है। अर्थात् विशाल ज्ञान द्वारा किया जाने वाला ध्यान ही प्रशस्त ध्यान हो सकता है, अन्यथा वह कार्यक्षम नहीं होगा।

ग्रन्थ का नाम जहाँ एक ओर अपने अन्दर निहित कथावस्तु का संकेत कर रहा है, वहीं दूसरी ओर रचनाकार की विदग्धता को प्रमाणित भी। चूंकि रचना का नाम ही उसके अन्दर प्रतिपाद्य विषय को उद्घोषित करता है इसलिए लेखक के नामकरण का श्रम व योजना सार्थक है।

इस ग्रन्थ के अध्ययन से अध्येता उन सब विषयों का ज्ञान प्राप्त कर लेता है जो उसे अभीप्सित होते हैं।

---

1. ज्ञानार्णव, प्रस्तावना, पृ. 17.
2. तत्त्वार्थसूत्र, 9/37.

प्रतिपाद्य विषय -

किसी भी लेखक की कृति अपनी समग्रता में लेखक का जीवन के प्रति जो दृष्टिकोण है उसी को प्रतिबिम्बित करती है। हर एक कृति में मानव-जीवन के किसी-न-किसी पक्ष की सम्यक् अभिव्यक्ति रहा करती है। अत: साहित्यिक का व्यक्तिगत जीवन दर्शन का कृति में रूपायित होना अभिव्यक्ति की अनिवार्यता बन जाता है। फलस्वरूप किसी भी कृति का मूल्य निर्धारण उसमें अभिव्यक्त जीवन-दर्शन की उत्कृष्टता-निकृष्टता पर ही निर्भर हो जाता है।

ज्ञानार्णव एक ऐसी ही अनुपम कृति है, जिसमें जीवन का यथार्थ दिग्दर्शित है। इसलिए यह जीवनदर्शन का पर्याय रूप मानी जा सकती है। इसमें भारतीय संस्कृति में निहित मूल्यों का न केवल निर्वाह हुआ है वरन् व्यक्ति अपने जीवन का निर्माण कैसे कर सकता है इसकी शिक्षा भी प्रसारित हुई है। आचार्य शुभचन्द्र ने स्वयं अपने जीवन का निर्माण किया था। इसलिए उनके अनुभव की समग्रता सम्पूर्ण कृति में दिखाई देती है।

चूंकि आचार्य शुभचन्द्र स्वयं योगी थे, इसलिए उनके द्वारा जहाँ योग पर लिखा जाना अपेक्षाकृत ही नहीं अपितु अनिवार्य था, वहीं उनकी विषय की सूक्ष्मता और आत्मदर्शन के विश्लेषण के लिए प्रामाणिक भी। यह कृति कृतिकार की एकमात्र उपलब्ध रचना है। यद्यपि यह भी ज्ञात नहीं कि इनकी अन्य भी कोई रचना है। लेखक ने इसको महाकाव्यात्मक विधा के अनुसार सर्गों में विभाजित किया है। इससे संकेत मिलते हैं कि इनकी कई अन्य रचनाएँ और होना चाहिए, जो इसकी पूर्ववर्ती रही हों, तभी विकास के अन्तिम सोपान स्वरूप इस महाकाव्यात्मक रचना की पूर्ति की हो।

ग्रन्थ में कुल 42 सर्ग हैं। जिनमें वर्णित विषयवस्तु निम्नानुसार है -

जैसा कि सुप्रसिद्ध है ज्ञानार्णव ध्यान, योग आदि का विस्तार से वर्णन करता है। साथ ही व्यावहारिक जीवन में क्या उपादेय है, क्या हेय - जैसे विषयों पर भी प्रकाश डालता है। ग्रन्थ का आरम्भ मङ्गलाचरण से ही हुआ है। प्रथम सर्ग में 49 पद्य हैं। महाकाव्यों के अनुरूप आरम्भ में सज्जन प्रशंसा की गई है।

द्वितीय सर्ग में 12 भावनाओं का वर्णन है। प्रथम अनित्य भावना के लिए 47 पद्य हैं। इसमें इन्द्रियजन्य सुख और सांसारिक विभूति को क्षणविध्वंसी बतलाया गया है। द्वितीय भावना अशरण भावना है। इसमें कुल 19 पद्य हैं। जगत् में इस जीव को कोई शरण नहीं हो सकता, इसका विवेचन इन पद्यों में है। तीसरी संसार भावना है। इसमें 17 पद्य निबद्ध हैं। इनमें चारों गतियों के दु:खों का वर्णन है।

एकत्व भावना चौथी है और इसमें 11 पद्यों द्वारा आत्मा के अनन्तज्ञानादि स्वरूप

का अनेक अवस्थाओं के साथ निरूपण किया गया है। जीव के जन्म और मरण का कोई साथी नहीं। 12 पद्यों में निबद्ध अन्यत्व भावना बताती है कि आत्मा अनादिकाल से पर-पदार्थों को अपना मानकर उनमें रमता है, इसी कारण से संसार में परिभ्रमण किया करता है। अशुचि भावना में 13 पद्य हैं, जिनमें शरीर की अशुचिता का विचार किया गया है। आस्रवभावना में मात्र 9 पद्य हैं। संवर भावना में 12, जिनमें कहा गया है कि अपने स्वरूप में मन को निश्चल करना ही संवर भावना है। निर्जरा भावना में भी 9 पद्य हैं। जिनमें निर्जरा के उपायों का वर्णन है। धर्म भावना में 23 पद्य हैं और इनमें धर्म का स्वरूप तथा उसका महत्त्व प्रतिपादित किया गया है। लोक भावना कुल 7 पद्यों में निबद्ध है, जिनमें लोक के स्वरूप का विवेचन किया गया है। बोधिदुर्लभ भावना में 13 पद्य हैं, जिनमें बोधि अर्थात् रत्नत्रय की प्राप्ति की दुर्लभता निरूपित की गई है। अन्त में इन बारह भावनाओं के अभ्यास का महत्त्व बतलाया गया है।

तृतीय सर्ग में ध्यान का स्वरूप वर्णित है। इस सर्ग में 36 पद्य हैं। संसार में मनुष्य पर्याय का प्राप्त होना काकतालीयन्याय के समान दुर्लभ है। उसमें भी जो धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों का अविरोध भाव से सेवन कर मोक्ष पुरुषार्थ की ओर प्रवृत्त रहता है वही आत्मसिद्धि पा सकता है।

चतुर्थ सर्ग में 62 पद्य हैं। इसमें ध्यान के चार भेद - आर्त्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल बतलाएं हैं। ध्यान करने वाला ध्याता, ध्यान, ध्यान के दर्शन, ज्ञान, चारित्र सहित समस्त अंग, ध्येय तथा ध्येय के गुण-दोष, ध्यान के नाम, ध्यान का समय और ध्यान के फल का वर्णन किया गया है। ध्याता के स्वरूप का विवेचन करते हुए बताया है कि जो जितेन्द्रिय है, अप्रमादी है, कष्टसहिष्णु है, संसार से विरक्त है, क्षोभरहित है और शान्त है ऐसा व्यक्ति ही ध्याता हो सकता है। ध्याता को कान्दर्पी आदि पाँच भावनाओं का त्याग करना चाहिए। ध्याता को हास्य, कौतूहल, कुटिलता, व्यर्थ बकवाद आदि क्रियाओं का भी त्याग करना चाहिए। ध्यान का आशय मन को एकाग्र करना या चित्त की चंचलता को रोकना है।

पञ्च सर्ग में 29 पद्य हैं। इनमें ध्यान करने वाले योगीश्वरों का स्तवन हुआ है। षष्ठ सर्ग के 59 पद्यों में सम्यग्दर्शन का वर्णन किया गया है। सम्यग्दर्शन पापरूपी वृक्ष को काटने के लिए कुठार है और पवित्र तीर्थों में भी प्रधान है। सम्यग्दर्शन के विषय सप्ततत्त्व, नवपदार्थ और पञ्चास्तिकायादि का वर्णन भी सुन्दर रीति से किया गया है। सप्तम सर्ग 23 पद्यों में पूर्ण होता है। इसमें सम्यग्ज्ञान का स्वरूप, भेद एवं महिमा का वर्णन किया गया है। अष्टम सर्ग 59 पद्यों में अहिंसा महाव्रत के वर्णन में निबद्ध है। इसमें पाँच प्रकार के चारित्र, पाँच महाव्रत, पाँच समितियाँ एवं तीन गुप्तियों का कथन भी सुबोध शैली में हुआ है।

नवम सर्ग में 42 पद्य हैं, जिनमें सत्य महाव्रत का स्वरूप वर्णित है। दशम सर्ग में 20 पद्य हैं और अस्तेय महाव्रत का कथन इस सर्ग में हुआ है। एकादश सर्ग में 48 पद्यों द्वारा ब्रह्मचर्य महाव्रत का सुविस्तृत वर्णन हुआ है। द्वादश सर्ग के 59 पद्यों में विशेष रूप से स्त्री के स्वरूप का दिग्दर्शन कराया गया है। त्रयोदश सर्ग के 25 पद्य कामसेवन के दोषों का निरूपण करते हैं। चतुर्दश सर्ग में 45 पद्य हैं, जो स्त्रीसंसर्ग के निषेध में व्यापृत हैं। पञ्चदश सर्ग के 48 पद्य वृद्धसेवा की प्रशंसा में सार्थक हैं। जिसमें कहा गया है कि वृद्धसेवा करने से कषाय रूपी अग्नि शान्त होती है और रागद्वेष का उपशम हो चित्त प्रसन्न होता है। षोड़श सर्ग में 42 पद्य हैं, जो परिग्रहत्याग महाव्रत का वर्णन करते हैं। सत्तरहवें सर्ग में 21 पद्यों द्वारा आशा की निन्दा की गई है। अष्टादश सर्ग में पाँच समितियों का वर्णन 39 पद्यों में पूर्ण हुआ है। 77 पद्यों वाला एकोनविंश सर्ग कषाय के परिणामों को दिखाता है। बीसवाँ सर्ग 38 पद्यों द्वारा जितेन्द्रिय होने के उपाय दिखाता है।

इक्कीसवाँ सर्ग यद्यपि 27 पद्यों में निबद्ध है और इसमें बहुत कुछ गद्यांश भी सम्मिलित है। इसमें त्रितत्त्वयोग का प्रकरण निरूपित हुआ है। जिसमें क्रमशः पृथ्वीतत्त्व, जलतत्त्व, अग्नितत्त्व और वायुतत्त्व का सविस्तार वर्णन है। बाईसवें सर्ग में 35 पद्य हैं, जो मन के व्यापार को रोकने के लिए यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि इन आठ योगाङ्गों का उल्लेख करते हैं। इसमें भी कुछ गद्यांश द्रष्टव्य है। तेईसवें सर्ग में राग-द्वेष का निरोध करने के उपाय 38 पद्यों में व्याख्यायित हैं। साम्यभाव का विवेचन करने वाला चौबीसवाँ सर्ग 33 पद्यों का है। पच्चीसवें सर्ग में आर्त्तध्यान का निरूपण 43 पद्यों द्वारा किया गया है। छब्बीसवें सर्ग में रौद्र ध्यान का वर्णन 44 पद्यों में हुआ है। सत्ताईसवें सर्ग में ध्यान के योग्य व प्रतिकूल स्थान तथा ध्यान की वृद्धि के लिए उपयोगी मैत्री, करुणा, प्रमोद और माध्यस्थ्य जैसी भावनाओं का विवेचन 34 पद्यों में हुआ है।

अट्ठाईसवाँ सर्ग ध्यान के योग्य स्थान, आसन के भेद और ध्यान के योग्य आसनों की विवेचना 40 पद्यों में करता है। उनतीसवें सर्ग का विषय प्राणायाम है, जो 102 पद्य तक विस्तृत है। इसमें कहा गया है कि प्राणायाम करने से चित्त स्थिर हो जाता है, विषय-वासनाएँ नष्ट हो जाती हैं और आत्मशक्ति उद्बुद्ध हो जाती है। तीसवाँ सर्ग प्रत्याहार और धारणा के वर्णन में आया है। इसमें मात्र 14 पद्य हैं। इकतीसवें सर्ग में 42 पद्य हैं, जो सवीर्यध्यान का वर्णन करते हैं। बत्तीसवें सर्ग का विषय भेदविज्ञान है तथा यह 104 पद्यों में निबद्ध है। तेतीसवाँ सर्ग 22 पद्यों का है, जिसमें आज्ञाविचय धर्मध्यान का स्वरूप बतलाया गया है। 17 पद्यों वाला चौतीसवाँ सर्ग अपायविचय धर्मध्यान का स्वरूप वर्णित करता है। पैंतीसवें सर्ग में 31 पद्य विपाकविचय धर्मध्यान के निरूपण में सार्थक हैं और छत्तीसवें सर्ग के 186 पद्य संस्थानविचय धर्मध्यान का वर्णन लोकसंस्थान रूप में करते हैं। सैंतीसवें सर्ग में 33 पद्य हैं, जो पिण्डस्थध्यान का वर्णन करते हैं। इसमें धारणा के

विषय में विशेष विवेचन किया गया है।

अड़तीसवें सर्ग में 116 पद्य हैं और ये पदस्थध्यान का विस्तृत विवेचन करते हैं। इसमें मन्त्र-पदों के अभ्यास एवं उनके फल का सुन्दर कथन हुआ है। उनतालीसवें सर्ग के 46 पद्य रूपस्थ ध्यान का वर्णन करते हैं। इसमें विशेष रूप से अर्हन्त भगवान का ध्यान करने की प्रेरणा दी गई है। चालीसवाँ सर्ग 31 पद्यों का है, जो रूपातीतध्यान का वर्णन करता है। जिसमें सिद्धत्व के ध्यान और उसकी प्राप्ति का कथन किया गया है। इकतालीसवाँ सर्ग 27 पद्यों में समाप्य है और यह धर्मध्यान के फल का वर्णन करता है। बयालीसवाँ सर्ग 88 पद्यों में निबद्ध है, जो शुक्लध्यान का विस्तृत विवेचन करता है। इसी के अन्त में ज्ञानार्णव का महत्त्व बतलाते हुए ग्रन्थ की समाप्ति की गई है।

जैन आध्यात्मिक योग साधना की परम्परा का जो क्रम आचार्य शुभचन्द्र ने प्रस्तुत किया है वह परम्परित होते हुए भी सर्वथा मौलिक रूप से लिपिबद्ध हुआ है और उसका प्रभाव स्पष्टत: दीर्घकालीन दिखाई देता है। उन्होंने इन सब विषयों पर पूर्वपक्ष का उपस्थापन करके जैन दृष्टिकोण का विवेचन किया और आत्मोज्ज्वल्य की दृष्टि से कहाँ-कहाँ किसकी उपयोगिता है उसका बड़े ही स्पष्ट, तटस्थ और निर्भीक शब्दों में आख्यान किया है।

रचनातत्त्व -

डॉ. दर्शनलता की दृष्टि से ज्ञानार्णव के रचनातत्त्वों में जो प्रमुख उद्देश्य रहा है वह है - 'आचार्य शुभचन्द्र की दृष्टि में एक ऐसे साधक का जीवन उद्दिष्ट था जो लौकिक जीवन से सर्वथा पराङ्मुख हो। बात सही भी है कि जब तक ऐसा नहीं हो पाता तब तक व्रत-अव्रत के मिले-जुले जीवन से साध्योपलब्धि बहुत दूर रहती है। किन्तु धीरे-धीरे गृही भी अव्रतमय जीवन का परित्याग करता हुआ व्रतमय जीवन को स्वीकार करे, यह अपेक्षित ही है। इसीलिए ग्रन्थ की विषयवस्तु श्रमणों या संन्यासियों के लिए ही उपयोगी हो ऐसा नहीं माना जा सकता। गृहस्थों को भी उस श्रेणी तक पहुँचाने का उद्देश्य है। क्रमिक अभ्यास चलेगा तभी तो यह सध पाएगा।'[1]

आचार्य शुभचन्द्र के समकक्ष पातंजलयोग, सिद्धयोग, हठयोग आदि सभी योग परम्पराएँ थीं। इसलिए उन्होंने नाम संकेत न करते हुए भी उन द्वारा स्वीकृत विधाओं की भी स्थान-स्थान पर चर्चा की है। अत: निष्कर्ष रूप में उपयोगकर्त्ता को उपादेय तत्त्व से अवगत कराकर हेय से बचने का संकेत किया है। तत्त्वज्ञान में निष्णात तथा शब्दशिल्प

1. ज्ञानार्णव एक समीक्षात्मक अध्ययन, पृ. 114.

में अति कुशल होने के कारण प्रतिपाद्य विषयवस्तु के उपस्थापन में आचार्य पूर्णत: सफल रहे हैं, यह नि:संकोच कहा जा सकता है।

ज्ञानार्णव का स्रोत -

आचार्य शुभचन्द्र दिगम्बर जैन परम्परा से सम्बद्ध थे इन्हें पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा प्रणीत विशाल साहित्य प्राप्त था। जिसका इन्होंने ज्ञानार्णव ग्रन्थ की रचना में भरपूर उपयोग किया। जिनमें आध्यात्मिक और दार्शनिक विषयों पर रचे गए आचार्य कुन्दकुन्द, उमास्वामी, समन्तभद्र, पूज्यपाद, अकलंक और जिनसेन के ग्रन्थ मुख्य हैं। इनमें से समन्तभद्र, देवनन्दी, अकलंक और जिनसेन स्वामी आदि के नामों का उल्लेख भी किया है।

विषय-विवेचन के सन्दर्भ में जब विचार करते हैं तो ज्ञानार्णव ग्रन्थ की रचना में इन पूर्ववर्ती आचार्यों की रचनाओं का प्रभूत प्रभाव परिलक्षित होता है। यथा - ध्यान के तीन भेदों के वर्णन का मूल स्रोत आचार्य कुन्दकुन्द के प्रवचनसारादि में निहित है। आचार्य देवनन्दी के समाधितन्त्र और इष्टोपदेश का प्रभाव भी ज्ञानार्णव पर दृष्टिगोचर होता है। जिनसेन के आदिपुराण के 21 वें सर्ग में जो ध्यान का विवेचन उपलब्ध है उसका प्रभाव ज्ञानार्णव के सवीर्यध्यान और आसनजय प्रकरणों में स्पष्ट है। संक्षिप्तत: ज्ञानार्णव रचना से पूर्ववर्ती कतिपय उन आचार्यों और उनके ग्रन्थों का उल्लेख किया जा सकता है, जिनका कि प्रभाव स्पष्ट है। वे हैं - आचार्य गुणधर - कषायपाहुड, पुष्पदन्त-भूतबली - षट्खण्डागम, यतिवृषभ- तिलोयपण्णत्ती, कुन्दकुन्द - प्रवचनसार, समयसार, नियमसार, मोक्षपाहुड आदि, अकलंक - तत्त्वार्थवार्तिक, स्वरूपसम्बोधन, जिनसेन - आदिपुराण, रामसेन - तत्त्वानुशासन, वट्टकेर - मूलाचार, अमितगति - योगसारप्राभृत, पद्मसिंह - णाणसार, आचार्य शिवार्य- भगवती आराधना, गुणभद्र - आत्मानुशासन और गुरुदास - योगसार आदि।

रचना शैली -

आचार्य शुभचन्द्र में कवित्व की अद्भुत रचनाधर्मिता थी। वे प्रतिपाद्य विषय को अभीप्सित छन्दों और शब्दों में पिरोने में कुशल थे। वे उन शाब्दिकों में से थे, जिनको शब्द प्रयुक्त होने के लिए स्वयं खोजा करते हैं। उनके द्वारा अनुपयुक्त मान हटाए जाने पर वे अर्थहीन-से कोशस्थ हो गए होते हैं। आपने ज्ञानार्णव में वर्णिक और मात्रिक छन्दों का प्रयोग जिस सरल एवं सफल शैली में किया है उससे आपके परिनिष्ठित रचनाकर्मी होने की जानकारी मिलती है। आपके द्वारा प्रयुक्त वर्णिक छन्दों को निम्न पद्यों में देखा जा सकता है-

मालिनी - जिसके प्रत्येक पाद में दो नगण, एक मगण और दो यगण होते हैं[1]

1. वृत्तरत्नाकर, 3/87

वह मालिनी छन्द है।[1] ज्ञानार्णव में निम्न छन्द मालिनी हैं - 2/47, 118, 139, 177, 190, 6/58, 7/22, 8/34, 10/20, 11/48, 12/55, 13/24, 14/37, 15/40-42, 46, 16/39, 17/21, 18/20, 84, 142, 146, 19/10, 20/34, 23/23, 24/8, 11, 30, 42; 29/103, 31/17, 32/29, 33/179, 35/10, 84, 37/31, 38/21, 39/74, 81।

स्रग्धरा - जिसके प्रत्येक पाद में मगण, रगण, भगण, नगण और तीन यगण हों तो, उसे स्रग्धरा छन्द माना जाता है।[1] इसमें सात-सात पर यति होती है। प्रस्तुत ग्रन्थ के निम्न छन्द स्रग्धरा हैं - 2/62, 65, 5/22, 27, 7/23, 8/57, 14/38, 39, 45, 18/149, 20/33, 22/26, 29, 23/32, 33, 24/7, 26/16, 34/32, 36/46, 39/79।

वंशस्थ -जिसके प्रत्येक पाद में जगण और तगण पाए जाते हैं और अन्त में जगण और रगण होता है वह वंशस्थ छन्द है।[2] यथा - 1/14, 4/11, 12, 13, 9/11, 41, 18/67, 68, 18/109, 118, 24/20, 38/1।

शिखरिणी - जिसके प्रत्येक पाद में यगण, मगण, नगण, सगण और भगण तथा एक लघु तथा एक गुरु होता है वह शिखरिणी छन्द है।[3] ज्ञानार्णव के निम्न छन्द शिखरिणी हैं - 1/49, 2/127, 148, 3/35-41, 5/23, 18/83, 28/37।

शार्दूलविक्रीड़ित - जिसके प्रत्येक पाद में मगण, सगण, जगण, सगण, दो तगण एवं एक गुरु होता है वहाँ शार्दूलविक्रीड़ित छन्द होता है।[4] यथा - 2/1, 63, 64, 66, 83, 105, 169, 193, 4/4, 59, 60, 5/20, 21, 24-26, 28-29, 42, 12/54, 59, 15/43-45, 16/40, 41, 18/36, 37, 82, 84, 147, 148, 22/24, 28, 33, 23/27, 30, 41, 24/6, 23, 27, 28/17, 30/19-21, 32/3, 5, 30, 35/116, 37/10, 38/15।

मन्दाक्रान्ता - जिसके प्रत्येक चरण में मगण, भगण, नगण और दो तगण तथा अन्त में दो गुरु हों तो वह मन्दाक्रान्ता छन्द है।[5] ज्ञानार्णव के निम्न पद्य इसके अन्तर्गत हैं - 2/93, 5/28, 22/25, 27, 27/3।

आर्या - आर्या छन्द के पूर्वार्ध में गुरु सहित सात गण होते हैं। विषम स्थान में तृतीय, पञ्चम प्रभृति स्थान में जगण नहीं होता है। छठे स्थान में जगण अथवा नगण और एक लघु होना विकल्प से जानना चाहिए।[6] यथा - 2/117, 192, 8/55, 56, 10/19,

1. वही, 3/104
2. वृत्तरत्नाकर, 3/46.
3. वही, 3/98.
4. वही, 3/101.
5. वही, 3/97.
6. वृत्तरत्नाकर, 2/1.

11/46, 12/25, 57, 13/8, 16/5, 18/6, 9, 107, 143, 21/38, 24/25, 26/107-8, 110-127, 34/31, 35/58, 82-3, 89-90, 92।

इन्द्रवज्रा - जिसके प्रत्येक चरण में दो तगण तथा दो गुरु हों तो उसे इन्द्रवज्रा समझना चाहिए।[1] ज्ञानार्णव के निम्न छन्दों में इसके लक्षण प्राप्त होते हैं - 19/12, 24/29, 33।

उपजाति - जिस छन्द का एक चरण इन्द्रवज्रा और एक चरण उपेन्द्रवज्रा का होता है उसे उपजाति छन्द कहा जाता है।[2] यथा - 4/7, 24/16-18, 24, 26, 28, 31, 32, 39, 28/16, 32/19, 37/4, 38/14, 16, 39/39।

उपेन्द्रवज्रा - जिसके प्रत्येक पाद में जगण, तगण और जगण के साथ दो गुरु हों वह उपेन्द्रवज्रा वृत्त कहा जाता है।[3] निम्न छन्दों में इसके लक्षण मौजूद हैं - 18/1, 24/5, 32/20, 27, 37/5।

इन छन्दों के अतिरिक्त जो छन्द हैं वे अनुष्टुप् छन्द हैं। प्राकृत में गाहा और अपभ्रंश में दोहा का जो महत्त्व है वही महत्त्व संस्कृत में अनुष्टुप् छन्द का है। इसमें अल्पाक्षरों में किसी विषय का निरूपण कर पाना आसान होता है। शार्दूलविक्रीड़ित या मन्दाक्रान्ता जैसे लम्बे छन्दों की अपेक्षा इन छन्दों के अधिक प्रयोग होने का कारण भी यही है कि इसकी रचना सौकर्य एवं प्रभावपूर्ण भी होती है। विशिष्ट सम्प्रेषणीयता होने पर ही विशिष्ट छन्दों का प्रयोग किया जाता है तो उनमें भी सुन्दरता परिलक्षित होती है। आचार्य शुभचन्द्र ने जिस मञ्जुल एवं माधुर्य शैली के साथ विविध छन्दों का स्वाभाविक प्रयोग किया है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। विषय की दुरूहता होने पर भी उन्हें प्रयोग में किसी भी प्रकार की मुश्किल हुई हो, ऐसा नहीं दिखाई देता।

सम्पूर्ण ग्रन्थ की भाषा प्रसादगुणोपेत है। समासान्त पदों के किञ्चित् प्रयोग होने पर भी वे न तो कर्णकटु हैं और न उनमें अर्थावबोध कर पाने में कठिनाई का अनुभव होता है। उसे पाठ के साथ ही हृदयंगम करने में कुछ भी जटिलता नहीं होती। जहाँ पद्य को छोड़कर गद्य का प्रयोग ग्रन्थकर्त्ता ने किया है, वहाँ भी विवरणात्मक विषय होने से सरल एवं सहजता प्रकट होती है। इससे ग्रन्थकर्त्ता के गद्य एवं पद्य दोनों में लिख सकने की सामर्थ्य का तो पता मिलता ही है, साथ ही कुशल शब्दशिल्पी होने की भी पुष्टि होती है। इसीलिए उन्होंने जहाँ जैसा उचित लगा, वहाँ वैसी गद्य या पद्य शैली को अपनाया है।

आचार्य शुभचन्द्र की लेखनी के विषय में डॉ. दर्शनलता के विचार मननीय हैं - 'आचार्य शुभचन्द्र की लेखनी यदि वे उसका पर्याप्त उपयोग करते तो उपमिति भवप्रपंचकथा के रचनाकार सिद्धर्षि की लेखनी से टक्कर ले सकती थी। लम्बे-लम्बे

1. वही, 3/28.
2. वही, 3/30.
3. वही, 3/29.
4. ज्ञानार्णव एक समीक्षात्मक अध्ययन, पृ. 117.

वाक्य और सरिता के प्रवाह पर चलती लहरों जैसे सुन्दर पेशल शब्द उनके वैदग्ध के परिचायक हैं।'[4]

सार्थक शब्दयोजना –

शब्द और अर्थ का सम्बन्ध अन्योन्याश्रित है। अर्थ के बिना शब्द का प्रयोग कर पाना संभव नहीं और शब्द के बिना अर्थ की पूरी संप्रेषणीयता आ पाना भी संभव नहीं है। महाकवि कालिदास ने कभी ईश्वर की स्तुति करते हुए उन्हें शब्द और अर्थ की उपमा से ही उल्लेखित किया था, जो उनका परिपूर्ण मत बन गया है। यथा –

वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ ।।[2]

जबकि साहित्यदर्पणकार ने शब्द और अर्थ को काव्य का शरीर माना है।[1] काव्य के द्वारा संप्रेषणीय भावाभिव्यक्ति काव्य की आत्मा है और अभिव्यक्ति के लिए प्रयुक्त होने वाले शब्द और उनकी अर्थयुति, दोनों शरीर हैं। साहित्यिक जगत् में शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को तादात्म्य रूप में ही स्वीकारा गया है।

शब्द और अर्थ के सम्बन्ध में विचार करते हुए मुनि दुलहराज भी उन दोनों में तादात्म्य स्वीकारते हुए भी अपेक्षा की अपेक्षा अवश्य रखते हैं। उनके ही शब्दों में –

'शब्द और अर्थ का वाच्य-वाचकभाव सम्बन्ध है। वाच्य से वाचक न सर्वथा भिन्न है और न सर्वथा अभिन्न। सर्वथा भेद होता तो शब्द के द्वारा अर्थ का ज्ञान नहीं होता। वाच्य को अपनी सत्ता के ज्ञापन के लिए वाचक चाहिए और वाचक को अपनी सार्थकता के लिए वाच्य चाहिए। शब्द की वाचकपर्याय वाच्य के निमित्त से बनती है और अर्थ की वाच्यपर्याय शब्द के निमित्त से बनती है, इसलिए दोनों में कथञ्चित् तादात्म्य है। सर्वथा अभेद इसलिए नहीं कि वाच्य की क्रिया वाचक की क्रिया से भिन्न है। वाचक बोध कराने की पर्याय में होता है और वाच्य ज्ञेय पर्याय में।'[2]

ज्ञानार्णव के कर्त्ता ने इन सम्बन्धों के प्रयोग में जिस कुशलता का परिचय दिया है, वह अद्भुत है। उन्होंने शब्दों के चयन में अपनी प्रतिभा का उपयोग भी कुशलता से किया है। ज्ञानार्णव जैसे विविध विषय वाले तथा सिद्धान्त के विषय की प्रचुरता को अवगाहित करने वाले ग्रन्थ में भी भावों की अभिव्यंजना जिस सहज एवं सरल रूप में हुई है, वह अन्यत्र कृच्छ्रसाध्य है। ज्ञानार्णव के एक-एक छन्दोगत शब्दों में इसके निदर्शन होते हैं।

मर्मज्ञ मनीषी और सन्त भावों की अभिव्यक्ति के लिए जिन शब्दों का तथा जिस तरह से प्रयोग करते हैं, उससे उन शब्दों में जो स्वतः अर्थयोजना होती है वह तो होती ही है, किन्तु उनमें अतिरिक्त कुछ और कह पाने की सामर्थ्य पैदा हो जाती है। उनके शब्द

1. रघुवंश, सर्ग 1, श्लोक 1. 2. साहित्यदर्पण, परि. 1 पृ. 11.

हृदयस्पर्शी एवं प्रभावक हो उठते हैं। उनकी कथन पद्धति ही इस तरह की होती है। तब ज्ञान के समुद्र को अवगाहित करने वाले आचार्य शुभचन्द्र की शब्दयोजना का मूल्यांकन कर पाना दुष्कर कार्य है। जबकि उन-जैसे कवि एवं सिद्धान्तपारगामी के लिए यह सब स्वत:स्फूर्त था। उनके द्वारा प्रयुक्त शब्द अपने अर्थ की स्वयं मूर्ति निर्मित कर पाठक और श्रोता के समक्ष उपस्थित हो जाते हैं। यही कारण है कि ज्ञानार्णव का गद्य भाग हो या पद्य, दोनों के अर्थावबोध में परिश्रम नहीं करना होता। उनके शब्द प्राञ्जल और मञ्जुल दोनों होते हैं, जो नि:सन्देह काव्य में वैशिष्ट्य का निर्माण कर देते हैं।

उपर्युक्त कथन की पुष्टि के लिए ज्ञानार्णव में पढ़े-पढ़े सन्दर्भ उपस्थित हैं, किन्तु विस्तारभय के कारण यहाँ मात्र एक ही सन्दर्भ उपस्थित करना चाहेंगे। वह है -

सङ्गै: किं न विषाद्यते वपुरिदं किं छिद्यते नामयै:
मृत्यु: किं न विजृम्भते प्रतिदिनं द्रुह्यन्ति किं नापद:।
श्वभ्रा: किं न भयानका: स्वपनवद्भोगा न किं वञ्चका:
येन स्वार्थमपास्य किन्नरपुरप्रख्ये भवे ते स्पृहा ॥ 1 ॥[1]

अर्थात् हे आत्मन्! इस संसार में संग कहिए धन-धान्य, स्त्री-कुटुम्बादिक के मिलाप रूप जो परिग्रह हैं, वे क्या तुझे विषाद रूप नहीं करते? तथा यह शरीर है, सो रोगों के द्वारा छिन्न रूप वा पीड़ित नहीं किया जाता है? तथा मृत्यु क्या तुझे प्रतिदिन ग्रसने के लिए मुख नहीं फाड़ती है? और आपदायें क्या तुझसे द्रोह नहीं करती हैं? क्या तुझे नरक भयानक नहीं दिखते? और ये भोग हैं सो क्या स्वप्न के समान तुझे ठगने वाले (धोखे देने वाले) नहीं हैं? जिससे कि तेरे इन्द्रजाल से रचे हुए किन्नरपुर के समान इस असार संसार में इच्छा बनी हुई है?

अलङ्कार योजना

आचार्य शुभचन्द्र तत्त्वद्रष्टा एवं शाब्दिक प्रतिभा के अनुपम धनी थे। वे योगतत्त्व को स्वयं ही आत्मसात् कर रहे थे। अत: उनकी शाब्दिक अभिव्यक्ति ऐसी मनोज्ञ, मृदुल और मनोहर रूप लिए नि:सृत होती कि अलङ्कारमूलक उपादान तो स्वयं ही उनके साथ आकर जुड़ जाते। इस विषय में एक सन्दर्भ दे देना उचित होगा। यथा -

भुवनाम्भोजमार्तण्डं धर्मामृतपयोधरम्।
योगिकल्पतरुं नौमि देवदेवं वृषध्वजम् ॥[2]

वृष के चिह्न को धारण करने वाला जो देवों का देव ऋषभ जिनेन्द्र समस्त लोकरूप कमल को विकसित करने के लिए सूर्य के समान है, धर्मरूप अमृत की वर्षा करने के लिए मेघ के समान है, तथा योगी जनों के मनोरथ को पूर्ण करने के लिए कल्पवृक्ष के समान है, उसे मैं नमस्कार करता हूँ।

1. जैनदर्शन : मनन और मीमांसा, पृ. 630-1. 2. ज्ञानार्णव, 2/1.

इस सन्दर्भ में निम्न अभिप्राय ध्यान देने योग्य है - 'ग्रन्थकार ने भावात्मक तत्त्वों की मूर्तरूप में अभिव्यंजना देने हेतु जिस भाषा और शैली का प्रयोग किया है उसमें रूपक तथा उपमा जैसे अलङ्कार स्वयं ही आ उपस्थित होते हैं। रूपकों का तो इस ग्रन्थ में विस्तृत, सुन्दर और मनोरम प्रयोग है जिसे देखकर हम उन्हें रूपकों का सम्राट् कहें तो अत्युक्ति नहीं होगी।'[1]

मङ्गलाचरणगत श्लोकों में भी रूपकों का जो अत्यन्त सुन्दर प्रयोग हुआ है, वह श्लाघनीय है। ज्ञानार्णवकार ने उपमा का भी अनेक स्थानों पर सुन्दरतम एवं सफल प्रयोग किया है जो कि प्रयत्नसाध्य न होकर सहजतया प्रयुक्त है।

रसोद्भूति -

मानव चेतना वस्तुत: मानव सम्बन्धों से निर्मित होती है। जिनके आधार पर कला, दर्शन, धर्म तथा साहित्य की सृष्टि होती है। इन्हीं सम्बन्धों की अवस्थाविशेष के अनुसार मानव की विश्वदृष्टि निर्मित होती है। विश्वदृष्टि सम्पन्न कलाकार का काव्य महत्त्वपूर्ण हो उठता है। आचार्य शुभचन्द्र की कविता, जिसे उन्होंने महाकाव्यत्व के रूप में प्रस्तुत किया है, काव्यशास्त्रीय दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है। यद्यपि यह विषयप्रधान ग्रन्थ है फिर भी कवित्वप्रतिभा के निदर्शन का अवसर कवि को सहज ही उपलब्ध होता रहा है। जिसके कारण इसमें प्रयुक्त मनोरम शब्दावली रुचिर एवं सरस रूप में संयोजित होने से काव्यगत आकर्षण एवं सुग्राह्यता को विकसित करती है। यद्यपि इसमें सभी प्रकार के रसों की योजना है, किन्तु प्रधान रूप से शान्त रस मुखरित होता है। जैसा कि डॉ. दर्शनलता का मत है -

'आचार्य शुभचन्द्र के ग्रन्थ का लक्ष्य बहिरात्म भाव से अन्तरात्म भाव को प्राप्त करते हुए परमात्म भाव में अधिष्ठित होना है। अत: सहज ही यह शान्त रस से जुड़ जाता है। कथानक में वैयक्तिक चरित्र का आलम्बन न होते हुए भी ग्रन्थकार ने प्रतिपाद्य विषय को निर्वेदसंपृक्त भावों के साथ बड़े ही कौशल से उपस्थित किया है। ..... शान्त रस ने उसमें संपृक्त होकर उसे अध्यात्म मन्दाकिनी का रूप प्रदान कर दिया है।'[2]

विविध विषयगत प्रसङ्गों में विविध रसों की छटा दृष्टव्य है। पाठक रचना का आस्वाद करते हुए निश्चयत: संवेग और निर्वेद का अनुभव करता है। कभी-कभी तो ग्रन्थ से इतना अधिक जुड़ जाता है कि अपने को दृष्ट संसार से ऊपर अनुभूत करता है और यही सार्थकता ग्रन्थकार के श्रम को अपेक्षित होती है, जिसे ज्ञानार्णवकार ने पा लिया है।

ज्ञानार्णव की टीकायें एवं टीकाकार -

अध्यात्मयोग के इस ग्रन्थ ज्ञानार्णव का सर्वप्रथम प्रकाशन जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर से सन् 1977 में हुआ था। इसमें मूल श्लोकों के साथ संस्कृत की टीका भी

1. ज्ञानार्णव, 1/2.
2. ज्ञानार्णव : एक समीक्षात्मक अध्ययन, पृ. 119.

है। इस टीका के कर्त्ता पं. नयविलास हैं। टीका खण्डान्वय शैली की है। जहाँ टीकाकार ने श्लोकों का पदच्छेद करते हुए उनका अर्थ किया है, वहाँ उसमें टीका-जैसी गहराई या विषय स्पष्टीकारण की बात नहीं है। पं. नयविलास जी आगरा के निवासी थे। आप सुप्रसिद्ध अध्यात्मवेत्ता पं. राजमल्ल के समकालीन विद्वानों में से एक हैं। प्रशस्ति से विदित होता है कि आपने यह टीका साहू टोडर के पुत्र ऋषिदास के अनुरोध पर निर्मित की है।[1] जिसका निर्माण जलालुद्दीन अकबर के काल में हुए कृष्ण नामक क्षत्रिय राजा के समय हुआ। इसी राजा का मंत्री साहू टोडर था।

जैसा कि पं. नाथूराम प्रेमी ने लिखा है कि 'ज्ञानार्णव की एक दो संस्कृत टीकाएँ सुनी हैं परन्तु अभी तक देखने में नहीं आई। केवल इसके गद्यभाग की एक छोटी सी टीका श्रीश्रुतसागरसूरिकृत प्राप्त हुई है।'[2]

इसे डॉ. दर्शनलता ने टीका के रूप में स्वीकार कर लिया है। जैसा कि वे लिखती हैं - '.... उस गद्य भाग पर श्रुतसागरसूरि नामक विद्वान् ने संस्कृत में तत्त्वत्रय प्रकाशिनी नामक टीका की रचना की है।'[3]

किन्तु इस सन्दर्भ में कहा जा सकता है कि इसको टीका के बजाय टिप्पण कहना अधिक उचित होगा। यह किञ्चित् अंशमात्र को स्पष्ट करने वाली होने से टिप्पण ही है। इसके कर्त्ता श्रुतसागरसूरि हैं, जो 16 वीं सदी के विद्वान् हैं। टिप्पण के अन्त से ज्ञात होता है कि इसकी रचना आचार्य सिंहनन्दी के अनुरोध पर तथा गुरु विद्यानन्दी के प्रसाद से सम्पन्न हुई।[4] श्रुतसागरसूरि जैनधर्म एवं संस्कृति के मर्मज्ञ विद्वान् थे। उनसे यह अपेक्षा होना उचित थी कि वे ज्ञानार्णव पर सम्पूर्ण टीका की रचना करते। जैसा कि उन्होंने षट्प्राभृत, तत्त्वार्थसूत्र एवं सहस्रनाम आदि पर की है।

झालरा पाटन राजस्थान के श्री शान्तिनाथ दिगम्बर जैन मंदिर के प्राचीन शास्त्र भण्डार की ग्रन्थ सूची में सिंहनन्दी द्वारा रचित एक अन्य ज्ञानार्णव ग्रन्थ पर संस्कृत टीका उल्लेख प्राप्त हुआ है। अभी यह टीका अन्वेषणीय है।

---

1. ज्ञानार्णव : एक समीक्षात्मक अध्ययन, पृ. 120.
2. नाम्ना कृष्ण इति प्रसिद्धिरभवत् सत्क्षात्रधर्मोन्नते-
   स्तन्मन्त्रीश्वर टोडरो गुणयुतः सर्वाधिकारोद्यतः।
   श्रीमत्तोडरसाहपुत्र निपुणः सद्दानचिन्तामणिः,
   श्रीमच्छ्री ऋषिदास धर्मनिपुणः प्राप्तोन्नतिः स्वश्रिया॥
   तेनाहं समवादी वादिनिपुणो न्यायाद्यलीलाह्वयः।
   श्रोतुं वृत्तिमतः परं सुविषयां ज्ञानार्णवस्य स्फुटम्॥ पीठिका, 6/7.
3. ज्ञानार्णव, प्रस्तावना, पृ. 18.
4. ज्ञानार्णव : एक समीक्षात्मक अध्ययन, पृ. 112.

हिन्दी टीकाओं में लब्धिविनयगणि की टीका सर्वाधिक प्राचीन है, जो कि विक्रम संवत् 1728 में हुई थी। यह पद्यमय है। दूसरी हिन्दी टीका पं. जयचन्द छाबड़ा की है। यह वचनिका ढूंढारी भाषा में है। इसका ही हिन्दी रूपान्तरण पं. पन्नालाल बाकलीवाल ने किया है, जो पं. नाथूराम प्रेमी के सम्पादकत्व में प्रकाशित हुई है।

ज्ञानार्णव पर देवचन्द जी का राजस्थानी भाषा में पद्यानुवाद उपलब्ध है। जिसका नाम ध्यानदीपिका चौपाई है जो ढालबद्ध है। जिसकी रचना संवत् 1766 वैशाख वदी 13 रविवार को मुल्तान में की गई है।[1]

हिन्दी की अन्य टीकाओं में क्षु. मनोहरलाल जी वर्णी के द्वारा प्रदत्त ज्ञानार्णव प्रवचन 21 भागों में विशद व्याख्या के साथ प्रकाशित हैं। साथ ही साध्वी डॉ. दर्शनलता के द्वारा लिखित 'ज्ञानार्णव : एक समीक्षात्मक अध्ययन' शोधप्रबन्ध भी उपलब्ध है। ज्ञानार्णव पर सुबोध चन्द्रिका नामक पद्यमय रचना भी प्रकाशित हुई है, जिसके रचयिता सागरचन्द्र बड़जात्या हैं। इसका प्रकाशन ग्वालियर से हुआ है।

ज्ञानार्णव के प्रथम एवं द्वितीय सर्ग का पद्यानुवाद दिग. मुनि श्री मार्दवसागर जी के द्वारा वी. नि. 2515 में असोज मास की अष्टमी को श्री दिगम्बर जैन सिद्धक्षेत्र, कुण्डलपुर में सम्पन्न किया गया। जिसकी रचना विविध छन्दों में हुई है। यह अभी अप्रकाशित है। आप दिगम्बर जैनाचार्य विद्यासागर जी के शिष्य हैं।

इसके अतिरिक्त किसी अन्य टीकाओं की न तो जानकारी है और ना ही कहीं कोई सन्दर्भ उपलब्ध होते हैं।

समय निर्धारण -

आचार्य शुभचन्द्र का समय निर्धारण करते हुए जैनसिद्धान्त के मर्मज्ञ विद्वान् पं. बालचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री ने अनेक ग्रन्थों के उद्धरण देते हुए उन्हें सोमदेवसूरि से परवर्ती एवं आचार्य प्रभाचन्द्र के पूर्ववर्ती माना है। जैसा कि उनका वक्तव्य है - ''प्रस्तुत ग्रन्थ के रचयिता आचार्य शुभचन्द्र ने इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ को रचकर अपना कहीं कोई परिचय नहीं दिया। यह उनकी निरभिमानता का द्योतक है। इस अभिप्राय को उन्होंने स्वयं व्यक्त भी कर दिया है। जिसे केवल शिष्टता न समझकर उनकी आन्तरिक भावना ही समझना चाहिए। ग्रन्थ के परिशीलन से यह तो ज्ञात हो ही जाता है कि सिद्धान्त के मर्मज्ञ आचार्य शुभचन्द्र बहुश्रुत विद्वान् एवं प्रतिभासम्पन्न कवि भी रहे हैं। ग्रन्थ की भाषा सरस, सरल व सुबोध है। कविता मधुर व आकर्षक है। ग्रन्थ में जो अनेक विषयों के साथ इतर सम्प्रदायों की भी चर्चा व समीक्षा की गई है उसी से उनकी बहुश्रुतता का पता लग जाता है। उनके

1. ज्ञानार्णव : एक समीक्षात्मक अध्ययन, पृ. 113.
2. जिनवाणी (ध्यान-योग : रूप और दर्शन), पृ. 237.

समय में जो भी योगविषयक साहित्य प्रचलित रहा है उसका उन्होंने गम्भीरतापूर्ण अध्ययन किया है तथा अपनी इस कृति में उसका समुचित उपयोग भी किया है। इसके उदाहरण प्राणायाम, पिण्डस्थ, पदस्थ आदि ध्यानों के विस्तृत वर्णन में पाए जाते हैं।

ग्रन्थकार के समय का विचार करने के लिए यह देखना होगा कि उन्होंने इस ग्रन्थ की रचना में पूर्ववर्ती किन ग्रन्थों का आश्रय लिया है। प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना में उन्होंने आचार्य पूज्यपाद (वि. 5-6 वीं शती) विरचित समाधितन्त्र व इष्टोपदेश, भट्टाकलङ्कदेव (8 वीं शती) विरचित तत्त्वार्थवार्तिक, आचार्य जिनसेन (9 वीं शती) विरचित आदिपुराण (21 वाँ पर्व), अमृतचन्द्रसूरि (10 वीं शती) विरचित पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, रामसेनाचार्य (10 वीं शती) विरचित तत्त्वानुशासन, सोमदेवसूरि (11 वीं शती) विरचित उपासकाध्ययन तथा आचार्य अमितगति (प्रथम) (10-11 वीं शती) विरचित योगसारप्राभृत आदि ग्रन्थों का आश्रय लिया है। इनके अतिरिक्त अमितगति श्रावकाचार के कर्त्ता आचार्य अमितगति (द्वितीय) भी यदि आचार्य शुभचन्द्र के पूर्ववर्ती या समकालीन हो सकते हैं तो सम्भव है उनके श्रावकाचार का भी उन्होंने प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना में उपयोग किया हो। इसका कारण यह है कि ज्ञानार्णव में जिन पिण्डस्थ, पदस्थ आदि ध्यानों का विस्तृत वर्णन किया गया है। उनका विशेष वर्णन अमितगति श्रावकाचार के 15 वें परिच्छेद में उपलब्ध होता है। पर वर्णनशैली दोनों की कुछ भिन्न प्रतीत होती है।

भट्टारक शुभचन्द्र के परवर्ती पं. आशाधर (13 वीं शती) ने अपनी भगवती आराधना की गाथा 1887 की टीका में 'उक्तं च ज्ञानार्णवे विस्तरेण' ऐसा कहकर ज्ञानार्णव के क्रम से 2186-7, 2189-91, 2193-4 श्लोकों को उद्धृत किया है।

पं. आशाधर के पूर्ववर्ती पद्मप्रभ मलधारीदेव (13 वीं शती) ने नियमसार गाथा 39 की टीका में 'तथा चोक्तं' कहकर निम्न पद्य को उद्धृत किया है जो ज्ञानार्णव में 2144 संख्या पर उपलब्ध है -

निष्क्रियं करणातीतं ध्यान-धारणवर्जितम्।
अन्तर्मुखं च यच्चित्तं तच्छुक्लमिति पठ्यते॥

नियमसार की टीका में 'धारण' के स्थान पर 'ध्येय' और 'इति पठ्यते' के स्थान पर 'योगिनो विदुः' इतना पाठ भेद है। पर यह श्लोक स्वयं ज्ञानार्णवकार के द्वारा रचा गया नहीं दिखता। इसका कारण यह है कि उसके पूर्व में ज्ञानार्णव की अन्य प्रतियों में यद्यपि 'उक्तं च' ऐसी सूचना नहीं उपलब्ध होती है, पर उसकी प्राचीनतम पाटण प्रति में 'उक्तं च' ऐसा निर्देश उसके पूर्व में किया गया है। इससे यह निश्चित नहीं कहा जा सकता कि उक्त श्लोक ज्ञानार्णव से ही नियमसार की उक्त टीका में उद्धृत किया गया है। सम्भव

1. ज्ञानार्णव, प्रस्तावना, पृ. 17.

है वह ज्ञानार्णव से पूर्व अन्य किसी प्राचीन ग्रन्थ में भी रहा हो।

आचार्य प्रभाचन्द्र (11-12 वीं शती) ने रत्नकरण्डक श्रावकाचार के श्लोक 5-24 की टीका में 'क्षेत्रं वास्तु धनं' आदि एक श्लोक को उद्धृत किया है। यह श्लोक 'वास्तुक्षेत्रं' जैसे कुछ साधारण शब्दभेद के साथ ज्ञानार्णव में 822 नम्बर पर पाया जाता है। इन प्रमाणों से आचार्य शुभचन्द्र सोमदेवसूरि और आचार्य प्रभाचन्द्र के मध्यवर्ती सिद्ध होते हैं।'[1]

सोमदेवसूरि के परवर्ती तथा 11 वीं शती में ही आचार्य शुभचन्द्र के काल को अनुमानित करने वाले एवं जैन इतिहास पर प्रामाणिक एवं परिपूर्ण सामग्री प्रस्तुत करने वाले डॉ नेमिचन्द्र शास्त्री ज्योतिषाचार्य का निम्न सन्दर्भ भी द्रष्टव्य है। जो कि उन्होंने ज्ञानार्णव की दूसरी प्रति एवं पं. नाथूराम प्रेमी के मत के आधार पर व्यक्त किया है -

"नृपुरी में अरहन्त भगवान् के चरणकमलों का भ्रमर, सज्जनों के हृदय को आनन्द देने वाला, माथुर संघ रूप समुद्र को उल्लसित करने वाला भव्यात्मा श्रीनेमचन्द्रनामक परमश्रावक हुआ, जिसकी पत्नी का नाम स्वर्णा था, जो अखिल विज्ञान-कलाओं में कुशल सती, पातिव्रत्यादि गुणों से भूषित और परम शीलवती थी। धर्म, अर्थ और काम को सेवन करने वाले इन दोनों के जाहिणी नामक पुत्री हुई, जो अपने कुल रूप कुमुदवन की चन्द्ररेखा, निज वंश की वैजयन्ती और सर्व लक्षणों से सुशोभित थी।

इसके पश्चात् इस दम्पत्ति के राम और लक्ष्मण के समान गोकर्ण और श्रीचन्द्र नाम दो सुन्दर गुणी और भव्य पुत्र उत्पन्न हुए। अनन्तर नेमिचन्द्र की वह पुत्री जाहिणी संसार की विचित्रता और नरजन्म की निष्फलता को जानकर आत्मशुद्धि के लिए प्रेरित हुई। उसने मुनियों के चरणों के निकट आर्यिका के व्रत ग्रहण कर लिए और मन की शुद्धि से अखण्डित रत्नत्रय को स्वीकार किया। उस विरक्ता ने युवावस्था में ऐसा कठिन तपश्चरण किया, जिससे सभी उसकी प्रशंसा करने लगे। इस जाहिणी आर्यिका ने कर्मों के क्षय के लिए यह ज्ञानार्णव नामक पुस्तक ध्यान-अध्ययनशाली, तप और शास्त्र के निधान, तत्त्वों के ज्ञाता और रागादि रिपुओं के पराजित करने वाले मल्ल जैसे शुभचन्द्र योगी को लिखाकर दी।

वैशाख सुदी दशमी शुक्रवार वि. सं. 1284 को गोमण्डल (काठियावाड़) में दिगम्बर राजकुल (भट्टारक) सहस्रकीर्ति के लिए पं. केसरी के पुत्र बीसन ने एक प्रशस्ति लिखी। प्रशस्ति के अध्ययन से ऐसा ज्ञात होता है कि इस ग्रन्थ में लिपिकर्त्ताओं की दो प्रशस्तियाँ हैं। प्रथम प्रशस्ति में तो लिपिकर्त्ता का नाम और लिपि करने का समय नहीं दिया है। केवल लिपि कराने वाली जाहिणी का परिचय और जिन्हें प्रति भेंट की गई है,

1. ज्ञानार्णव, (सोलापुर) प्रस्तावना, पृ. 17-9.

उनका नाम दिया है। श्री प्रेमी जी का अनुमान है कि आर्यिका जाहिणी ने जिस लेखक से उक्त प्रति लिखाई होगी उसका नाम और समय भी अन्त में अवश्य दिया गया होगा। परन्तु दूसरे लेखक ने उक्त पहली प्रति का वह अंश अनावश्यक समझकर छोड़ दिया होगा और अपना नाम एवं समय अन्त में जोड़ दिया होगा। इस दूसरी प्रति के लेखक पण्डित केसरी के पुत्र बीसल हैं और उन्होंने गोमण्डल में सहस्रकीर्ति के लिए इसे लिखा था, जबकि पहली प्रति नृपुरी में शुभचन्द्र योगी के लिए लिखाकर दी गई थी।

दूसरी प्रति का लेखनकाल वि. 1284 है, तब पहली प्रति का इससे पहले लेखनकाल रहा होगा। श्री प्रेमी जी ने यह भी निष्कर्ष निकाला है कि प्रति का लेखन स्थान नृपुरी ग्वालियर का नरवर सम्भव है। नृपुर से नरपुर, नरपुर से नरउर और नरउर से नरवर का होना सम्भव है। अत: पाटण की इस प्रति के आधार पर ज्ञानार्णव की रचना वि. सं. 1284 के पूर्व अवश्य हुई है। अतएव सोमदेव के पश्चात् और हेमचन्द्र के पूर्व शुभचन्द्र का समय होना चाहिए।''[1]

इस मत का समर्थन डॉ. हीरालाल जैन भी स्पष्ट रूप से करते हैं - 'शुभचन्द्र और हेमचन्द्र के काल की दृष्टि से पूर्वापरत्व और एक पर दूसरे की छाप इतनी सुस्पष्ट है कि हेमचन्द्र को शुभचन्द्र का इस विषय में ऋणी न मानने का कोई अवकाश ही नहीं।'[2]

मुंज और शुभचन्द्र - परमारवंशावतंस महाराज मुंजराज का समय शोधने में हमको कुछ भी कठिनाई नहीं होती। क्योंकि धर्मपरीक्षा श्रावकाचार, सुभाषितरत्नसंदोह आदि ग्रन्थों के सुप्रसिद्ध रचयिता आचार्य अमितगति उन्हीं के समय में हुए हैं। सुभाषितरत्नसंदोह की प्रशस्ति में लिखा है -

अर्थात् विक्रम राजा के स्वर्गगमन के 1050 वर्ष के पश्चात अर्थात् विक्रम संवत् 1050 (ईस्वी सन् 994) में पौष शुक्ला पंचमी को मुंजराजा की पृथ्वी पर विद्वानों के लिए यह पवित्र ग्रन्थ बनाया गया था, इसलिए मुंज का राज्यकाल विक्रम संवत् 1050 मान लेने में किसी प्रकार का संदेह नहीं रह सकता। इसके सिवाय श्रीमेरुतुंगसूरि ने भी अपने प्रबन्धचिन्तामणि ग्रन्थ में, जो कि विक्रम संवत् 1361 (ईस्वी सन् 1305) में रचा गया है, इस समय को शंकारहित कर दिया है। प्रबन्धचिन्तामणि में लिखा है -

विक्रमाद्धासराद्धष्टमुनिव्योमेन्दुसम्मिते।
वर्षे मुञ्जपदे भोजभूप पट्टे निवेशित:॥

अर्थात् वि. सं. 1078 (ई. सन् 1022) में राजा मुंज के सिंहासन पर महाराज

1. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग 3, पृ. 152-3.
2. भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान, पृ. 122.

भोज बैठे। अर्थात् अमितगतिसूरि के लिखे हुए संवत् 1050 से 1078 तक मुंज महाराज का राज्य रहा, पश्चात् भोज को राजतिलक हुआ। और विश्वभूषणसूरि के कथानक के अनुसार यही समय श्रीशुभचन्द्राचार्य का था।

हेमचन्द्र के योगशास्त्र पर ज्ञानार्णव का पर्याप्त प्रभाव दिखलाई पड़ता है। कई पद्य तो प्राय: ज्यों-के-त्यों मिलते-जुलते हैं, दो चार शब्दों में ही भिन्नता है। अतएव हमारा अनुमान है कि शुभचन्द्र का समय वि. सं. की 11 वीं शती होना चाहिए। इससे भोजन और मुंज की समकालीनता भी सुघटित हो जाती है।''[1]

भोज और शुभचन्द्र - मुंज का समय निर्णीत हो जाने पर भोज के समय के विषय में कुछ भी शंका नहीं रहती। क्योंकि मुंज के सिंहासन के उत्तराधिकारी महाराज भोज ही हुए थे। अतएव प्रबन्धचिन्तामणि के आधार से संवत् 1078 के पश्चात् भोज का राज्यकाल समझना चाहिए। अनेक पाश्चात्य विद्धानों का भी यही मत है कि ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में राजा भोज जीवित थे। भोजराज का दिया हुआ एक दानपत्र एपिग्राफिका इंडिका के तीसरे भाग में छपा है, जो विक्रम सं. 1078 (ई. 1022) में लिखा गया था। उससे भी भोजराज का समय ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी का पूर्वार्ध निश्चित होता है।

बृहद् द्रव्यसंग्रह की संस्कृत टीका की प्रस्तावना में श्री ब्रह्मदेवसूरि के एक उल्लेख से विदित होता है कि भोजदेव के समय में ही श्रीनेमिचन्द्र सिद्धान्तीदेव हुए हैं। जिसका सारांश है कि मालवदेश धारानगरी के कलिकालचक्रवर्ति राजा भोजदेव के सम्बन्धी, मण्डलेश्वर राजा ीपाल के राज्यान्तर्गत आश्रमनामक नगर के मुनिसुव्रत भगवान् के चैत्यालय में सोम राजश्रेष्ठी के निमित्त श्री नेमिचन्द्र सैद्धान्तिक देव ने द्रव्यसंग्रह ग्रन्थ बनाया था। इससे नेमिचन्द्र और भोज की समकालीनता प्रकट होती है।

इसी प्रसंग से यह भी स्पष्ट होता है कि आचार्य शुभचन्द्र एवं भोजराज भाई-भाई थे। इनमें शुभचन्द्र अग्रज थे और भोजराज अनुज।[2]

भर्तृहरि और शुभचन्द्र - भर्तृहरि का नाम सुनते ही शतकत्रय के कर्त्ता राजर्षि भर्तृहरि का स्मरण हो आता है और आचार्य विश्वभूषण की कथा का आशय प्राय: इन्हीं की ओर झुकता है। परन्तु शुभचन्द्र के समय से भर्तृहरि का समय मिलाने में बड़ी-बड़ी झंझटे हैं। सबसे पहली बात तो यह है कि प्रसिद्धि के अनुसार भर्तृहरि विक्रमादित्य के बड़े भाई हैं और विश्वभूषण उन्हें भोज का भाई बतलाते हैं। जमीन-आसमानजैसा अन्तर दोनों में है। क्योंकि भोज ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी में हुए हैं और विक्रमादित्य संवत् के प्रारम्भ में अर्थात् ईसा से 57 वर्ष पहले हुए हैं। लोक में जो किंवदन्तियाँ प्रसिद्ध हैं और

1. ज्ञानार्णव, (अगास) प्रस्तावना, पृ. 12-3.
2. ज्ञानार्णव, (अगास) प्रस्तावना, पृ. 13.

भर्तृहरि सम्बन्धी दो - एक कथाग्रन्थ हैं, उनसे जाना जाता है कि भर्तृहरि विक्रम के ज्येष्ठ भ्राता थे। उन्होंने बहुत समय तक राज्य किया है। एक बार अपनी प्रियतमा स्त्री का दुश्चरित्र देखकर वे संसार से विरक्त होकर योगी हो गए थे। स्त्री के विषय में उस समय उन्होंने यह श्लोक रचा था -

यां चिन्तयामि सततं मयि सा विरक्ता,
साप्यन्यमिच्छति जनं स जनोऽन्य सक्तः।
अस्मत्कृते च परितुष्यति काचिदन्या,
धिक् तां च तं च मदनं च इमां च मां च ॥[1]

यद्यपि इतिहास में विक्रम नाम के कई राजा हो गए हैं, उसी प्रकार भर्तृहरि भी कई हो गए हैं। एक भर्तृहरि को वाक्यपदीय तथा राहतकाव्य का कर्त्ता गिना जाता है। किसी के मत में शतकत्रय और वाक्यपदीय दोनों का कर्त्ता एक है। इट्सिंग नाम का एक चीनीयात्री भारत में ईसा की सातवीं सदी में आया था। उसने भर्तृहरि की मृत्यु सन् 650 ईस्वी में लिखी है।

इन सब बातों से यह कुछ भी निश्चय नहीं हो सकता कि शुभचन्द्राचार्य के भाई भर्तृहरि उपर्युक्त दोनों-तीनों में से कौन हैं। अथवा कोई पृथक् ही हैं। विद्वान् ग्रन्थकार विद्यावाचस्पति ने तत्त्वबिन्दु ग्रन्थ में भर्तृहरि को धर्मबाह्य लिखा है। और उपरिलिखित भर्तृहरि वैदिकधर्म के अनुयायी माने जाते हैं। इसलिए आश्चर्य नहीं कि इस धर्मबाह्य से जैन का ही तात्पर्य हो और शुभचन्द्र के भाई भर्तृहरि को ही यह धर्मबाह्य संज्ञा दी गई हो। क्योंकि उन्होंने जैनधर्म की दीक्षा ले ली थी। शतकत्रय के अनेक श्लोक ऐसे हैं, जिनमें जैनधर्म के अभिप्राय स्पष्ट व्यक्त होते हैं।[2]

इस सन्दर्भ पर यह कह देना आवश्यक होगा कि आचार्य शुभचन्द्र के ज्ञानार्णव और भर्तृहरि के वैराग्यशतक के अनेक प्रसंग भाव और शब्द की दृष्टि से साम्य रखते हैं किन्तु इन दोनों के बीच में जो ऐतिहासिक अन्तर ऊपर दिखाया गया है, उसके अनुसार विश्लेषण करने पर दोनों की समीपता किञ्चित् भी नहीं सध पाती। यद्यपि भर्तृहरि का झुकाव भी त्याग और वैराग्य की ओर दिखाई देता है, जिससे दोनों की रचनाओं में शाब्दिक और भावात्मक समानता है, लेकिन आज भी दोनों की कालसीमा अनिश्चित ही है।

इसी प्रकार आचार्य मानतुंग ने भक्तामर स्तोत्र की रचना की। जिसके सम्बन्ध में एक कथा प्रचलित है। उसके अनुसार आचार्य शुभचन्द्र का मानतुंग, कालिदास आदि के समसामयिक होना प्रकट होता है। किन्तु कालिदास के साथ शुभचन्द्र की समसामयिकता मात्र इतनी ही सध सकती है कि भोज के समय में कालिदास नामक कोई विशिष्ट

1. वैराग्यशतक 2.
2. ज्ञानार्णव, (अगास) प्रस्तावना पृ. 14-5.

कवि थे। साथ ही, यह नाम अलंकारोपेत उपाधि रूप में प्रयुक्त होने कारण भी भ्रमकारक बन गया है।

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आचार्य शुभचन्द्र का समय 10-11 वीं ईस्वी शताब्दी के मध्य रहा है। उन ऐतिहासिक प्रमाणों के अनुसंधित्सुओं को अब भी प्रतीक्षा है कि इन महान् आचार्यों की समयावधि को यथार्थत: रेखांकित कर सकें।

इतिहास के आलोक में आचार्य शुभचन्द्र

इतिहास कभी भी केवल अतीत की घटना मात्र नहीं होता, उनमें भविष्य की संभावनाएं भी बीज रूप में देखी जाती हैं। वर्तमान इन संभावनाओं का ही व्यक्त रूप होता है। आचार्य शुभचन्द्र ने जीवन और जगत् की वास्तविकता को पहचाना था। उनका युगबोध और आत्मबोध दोनों अत्यन्त सूक्ष्म, तत्त्वपूर्ण और विस्तृत था। उन्होंने जो भी उपदेश दिए हैं वे दूसरों के लिए नहीं अपितु उनके अपने जीवन की सारभूत अनुभूतियाँ हैं। जो उस समय भी उपादेय थीं और उनका मूल्य आज भी कम नहीं। पर ऋषि-मुनियों ने संस्कृति के क्षेत्र में अपना अमूल्य योगदान देने के बाबजूद भी कभी नाम की आकांक्षा नहीं की। यही कारण है कि उनके ग्रन्थों व रचना आदि में उनका नाम नहीं मिलता। लोकैषणा से दूर उनके आदर्श मात्र कर्त्तव्यनिर्वाह को ही महत्त्व देते थे। आज जहाँ व्यक्ति मरने के बाद भी जीने के लिए पत्थरों का सहारा लेने बैचेन है। उन्होंने तो जीते जी अपने को बेनाम रखकर जैसे अमरत्व का रस लिया। लोक-कल्याणार्थ उनकी सेवाएँ चिरन्तन हैं, इसलिए आज जब इतिहास के परिप्रेक्ष्य में उनका अवलोकन करना चाहते हैं तब अनेक भ्रान्तियाँ उत्पन्न होती हैं। तब ऐसे में रचनाकार का समय निर्धारण, सामाजिक और देशीय स्थिति में परिचय प्राप्त करना दुष्कर कार्य होता है।

जीवन-परिचय -

श्रीविश्वभूषण आचार्य द्वारा निर्मित भक्तामर चरित्र नामक संस्कृत कथा ग्रन्थ में आचार्य शुभचन्द्र और भर्तृहरि के विषय में एक कथा दी गई है, जो अविकल निम्नानुसार है-

"आचार्य शुभचन्द्र तथा भर्तृहरि उज्जयिनी के राजा सिन्धुल के पुत्र थे और सिन्धुल के पैदा होने के पहले उनके पिता सिंह ने मुंज को एक मूंज के खेत में पड़े हुए पाकर उसे पाल लिया था। सिंह को बहुत दिनों तक सन्तान न हुई, जिससे वह चिन्तित रहने लगा। एक दिन मन्त्री ने राजा की चिन्ता को अवगत कर उसे धर्माराधन करने का परामर्श दिया। राजा सावधान होकर धर्मकृत्यों को सम्पन्न करने लगा।

एक दिन वह रानी और मन्त्रियों के साथ वन-क्रीडा के लिए गया और वहाँ मूँज के खेत में पड़े हुए एक बालक को पाया। उस बालक को देखते ही राजा के हृदय में प्रेम का

संचार हुआ और उसने उठा लिया तथा लाकर रानी को दे दिया रानी उस पुत्र को गोद में बैठाकर अत्यधिक प्रसन्न हुई। मन्त्री ने राजा से निवेदन किया कि नगर में चलकर रानी को गूढगर्भवती घोषित किया जाए और पुत्रोत्सव मनाया जाए। मन्त्री की सम्मति के अनुसार राजा ने पुत्रोत्सव सम्पन्न किया।

सिंह ने उस पुत्र का नाम मुंज रखा। मुंज ने वयस्क होकर थोड़े ही दिनों में सकल शास्त्र और कलाओं का अध्ययन कर लिया। तदनन्तर महाराज ने रत्नावली नामक कन्या के साथ उसका विवाह कर दिया। कुछ दिनों के अनन्तर महाराज सिंह की रानी ने गर्भ धारण किया और दशवें माह में एक पुत्र को जन्म दिया, जिसका नाम सिंहल (सिन्धुराज) रखा गया। इस पुत्र का भी जन्मोत्सव सम्पन्न किया गया तथा वयस्क होने पर मृगावती नामक कन्या से विवाह कर दिया गया। मृगावती कुछ दिनों में गर्भवती हुई। शुभ मुहूर्त में उसने दो पुत्रों को जन्म दिया, जिनमें ज्येष्ठ का नाम शुभचन्द्र और कनिष्ठ का नाम भर्तृहरि रखा गया। बचपन से ही इन बालकों का चित्त तत्त्वज्ञान की ओर विशेष रूप से आकृष्ट था। अतएव वय प्राप्त होने पर तत्त्वज्ञान में अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली। एक दिन मेघों के पटल को परिवर्तित होते हुए देखकर सिंह को वैराग्य हो गया और उसने मुंज एवं सिंहल को राजनीति सम्बन्धी शिक्षा देकर जिनदीक्षा ग्रहण कर ली। राजा मुंज अपने भाई के साथ सुखपूर्वक राज्य करने लगा। एक दिन मुंज वनक्रीडा से लौट रहा था कि उसने मार्ग में एक तेली को कन्धे पर कुदाल रखे हुए खडे देखा, उसे गर्वोन्मत्त देखकर मुंज ने पूछा - इस तरह क्यों खड़े हो ? उसने कहा - मैंने एक अपूर्व विद्या सिद्ध की है, जिसके प्रभाव से मुझमें इतनी शक्ति है कि मुझे कोई परास्त नहीं कर सकता। यदि आपको विश्वास न हो, तो अपने किसी सामन्त को मेरे इस लौहदण्ड को उखाड़ने का आदेश दीजिए। इतना कहकर उसने लौहदण्ड भूमि में गाड़ दिया। संकेत पाते ही सभी सामन्त उस लौहदण्ड को उखाड़ने में प्रवृत्त हुए, पर किसी ने उस लौहदण्ड को उखाड़ने में सफलता प्राप्त नहीं की। सामन्तों की इस असमर्थता को देखकर शुभचन्द्र और भर्तृहरि ने मुंज से निवेदन किया, कि यदि आदेश हो तो हम दोनों इस लौहदण्ड को उखाड़ सकते हैं। मुंज ने उन दोनों बालकों को समझाया, पर जब अधिक आग्रह देखा तो उसने लौहदण्ड उखाड़ने का आदेश दे दिया। उन दोनों बालकों ने चोटी के बालों का फन्दा लगाकर देखते-देखते एक ही झटके में लौहदण्ड को निकाल फेंका। चारों ओर से धन्य-धन्य की ध्वनि गूँज उठी। तैली निर्मद होकर अपने घर चला गया।

बालकों के इस अपूर्व बल को देखकर मुंज आश्चर्यचकित हो गया और वह सोचने लगा कि ये बालक अपूर्व शक्तिशाली हैं और जब ये बड़े हो जाएंगे, तो किसी भी क्षण मुझे राज्यसिंहासन से च्युत कर देंगे, अतएव इनको किसी उपाय से मृत्यु के मुख में पहुँचा देना ही राजनीतिज्ञता है। उसने मन्त्री को बुलाकर अपने विचार प्रकट किये और कहा कि शीघ्र ही इन दोनों का वध हो जाना चाहिए। मन्त्री ने राजा को पूर्णतया समझाने का प्रयास

किया, पर मुंज को मन्त्री की बातें अच्छी नहीं लगीं। फलत: मन्त्री राजाज्ञा स्वीकार कर चला गया। मन्त्री ने एकान्त में बैठकर ऊहापोह किया। और अन्त में वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि कुमारों को इस समाचार से अवगत करा देना चाहिए, अन्यथा बड़ा भारी अनर्थ हो जाएगा। उसने शुभचन्द्र और भर्तृहरि को एकान्त में बुलाया और राजा के निन्द्य विचार कह सुनाए। साथ ही यह भी कहा कि आप लोग उज्जयिनी छोड़कर चले जाइए अन्यथा प्राणरक्षा नहीं हो सकेगी।

राजकुमार अपने पिता सिंहल के पास गए और राजा मुंज की गुप्त मन्त्रणा प्रकट कर दी। सिंहल को मुंज की नीचता पर बड़ा क्रोध आया और उसने पुत्रों से कहा मुंज द्वारा षड्यन्त्र पूरा करने के पहले ही तुम उसे यमराज के यहाँ पहुँचा दो। कुमारों ने बहुत विचार किया और वे संसार से विरक्त हो वन की ओर चले गए।

महामति शुभचन्द्र ने किसी वन में जाकर जैन मुनिराज के समक्ष दैगम्बरी दीक्षा धारण कर ली और तेरह प्रकार के चारित्र का पालन करते हुए घोर तपश्चरण करने लगे। पर भर्तृहरि एक कौल तपस्वी के निकट जाकर उसकी सेवा में संलग्न हो गया। उसने जटाएँ बढ़ा लीं, तन में भस्म लगा ली, कमण्डलु, चिमटा लेकर कन्दमूल भक्षण द्वारा उदर पोषण करने लगा। बारह वर्ष तक भर्तृहरि ने अनेक विद्याओं की साधना की। उसने योगी द्वारा शतविद्या और रसतुम्बी प्राप्त की। इस रस के संसर्ग से ताँबा सुवर्ण हो जाता था। भर्तृहरि ने स्वतन्त्र स्थान में रस तुम्बी के प्रभाव से अपना महत्त्व प्रकट किया।

एक दिन भर्तृहरि को चिन्ता हुई कि उसका भाई शुभचन्द्र किस स्थिति में है। अत: उसने अपने एक शिष्य को उसका समाचार जानने के लिए भेजा। शिष्य जंगलों में घूमता हुआ उस स्थान पर आया, जहाँ शुभचन्द्र तपस्या कर रहे थे। देखा कि उनके शरीर पर अंगुल भर भी वस्त्र नहीं है और न पिच्छी-कमण्डलु के अतिरिक्त अन्य कुछ भी परिग्रह ही है। शिष्य दो दिन निवास कर वहाँ से लौट आया और भर्तृहरि को समस्त समाचार आकर सुना दिया। भर्तृहरि ने अपनी तुम्बी का आधा रस दूसरी तुम्बी में निकालकर शिष्य को दिया और कहा कि इसे ले जाकर शुभचन्द्र को दे आओ, जिससे उसकी दरिद्रता दूर हो जाए और वह सुखपूर्वक अपना जीवन-यापन करे। जब शिष्य रसतुम्बी लेकर मुनिराज शुभचन्द्र के समक्ष पहुँचा, तो उन्होंने उसे पत्थर की शिला पर ढलवा दिया।

शिष्य ने वापस लौटकर भर्तृहरि को रसतुम्बी की घटना सुनाई, तो वे स्वयं भाई की ममतावश शेष रसतुम्बी को लेकर शुभचन्द्र के निकट आए। शुभचन्द्र ने शेष रस को भी पाषाण शिला पर ढलवा दिया, जिससे भर्तृहरि को बहुत दु:ख हुआ। शुभचन्द्र ने भर्तृहरि को समझाते हुए कहा - भाई, यदि सोना बनाना ही अभीष्ट था, तो क्यों घर छोड़ा, घर में क्या सोना-चाँदी, मणि-माणिक्य की कमी थी। इन वस्तुओं की प्राप्ति तो गृहस्थी में सुलभ थी। अत: सांसारिक वस्तुओं की प्राप्ति के लिए इतना प्रयास करना व्यर्थ है।

शुभचन्द्र के उपदेश से भर्तृहरि भी दीक्षित हो गया। भर्तृहरि को मुनिमार्ग में दृढ़ करने और सच्चे योग का ज्ञान कराने के लिए शुभचन्द्र ने योगप्रदीप अथवा ज्ञानार्णव की रचना की।''[1]

आचार्य शुभचन्द्र के जीवनवृत्त के विषय में उपर्युक्त कथानक के अतिरिक्त और कोई ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध नहीं होती। कथा का उत्तरार्ध कालिदास, वररुचि, धनंजय और मानतुंगसूरि की समकालीनता को भी दिखलाता है। किन्तु इन सबकी प्राचीनता एवं तथ्यात्मकता का परीक्षण होना अभी अवशिष्ट है।

उपर्युक्त कथा से इतना तो जाना ही जाता है कि भर्तृहरि, भोज, शुभचन्द्र और मुंज समकालीन पुरुष थे। इसके सिवाय भक्तामर स्तोत्र के बनने[2] की एक कथा से, जिसका कि इससे घनिष्ठ सम्बन्ध है, यह भी प्रकट होता है कि मानतुंग, कालिदास, वररुचि और धनंजय भी शुभचन्द्र के समसामयिक हैं। किन्तु इनकी तथ्यता पर अवश्य सन्देहात्मक चिह्न लगा हुआ है।

शोध की दृष्टि से महत्व -

चिन्तन का वैविध्य कोई आज की बात नहीं है वह तो शाश्वत तत्त्व है जो अनादि काल से चला आ रहा है। चिन्तनधारा के विश्लेषण पर जब उतरें तो पाएँगे कि धर्म, दर्शन, अध्यात्म का विकास उसके अन्तर्गत होने वाले सात्त्विक मानवीय उद्वेलनों का परिणाम है। चूँकि आज व्यक्ति भौतिकता की आपाधापी में अपने मन की सात्त्विक वृत्तियों को भूलता जा रहा है। इसलिए शान्ति और सुख की लकीरें इनके हृदय में धूमिल हो रही हैं। तब आवश्यकता होती है कि किसी ऐसे मार्गदर्शन की जो दिशा दे मानव को उसकी अपनी मंजिल प्राप्ति की। 'ज्ञानार्णव' ग्रन्थ में आचार्य शुभचन्द्र ने मानव मन की अन्त:वृत्तियों को विश्लेषित किया है। क्योंकि अन्तर्दृष्टि तब तक पैदा नहीं हो सकती, जब तक कि हम सम्बद्ध मामले के तथ्य, व्याघातों और बुद्धि से उद्भूत विचारों से परिचित न हो। अन्तर्ज्ञान के सफल उपयोग के लिए बहुत बडी संख्या में तथ्यों और नियमों का पहले से अध्ययन करना और उन्हें आत्मसात् करना पडता है। उन नियमों का अध्ययन अर्थात् जानकारी प्राप्त करके ही व्यक्ति आत्मबोध द्वारा सुख और शान्ति को प्राप्त कर सकते हैं। उन नियमों की जानकारी के लिये 'ज्ञानार्णव' ग्रन्थ बहुत सहायक है।

प्राचीन समय से ही योग, ध्यान विषयक ग्रन्थों की रचना हुई है। उन रचनाओं का अपना अलग-अलग महत्त्व भी है। किन्तु ज्ञानार्णव शोध की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि ''सन्तों की भाषा जैसी सहज और सर्वजनबोधगम्य है, वैसी ही

1. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग 3, पृ. 148-50.

2. ज्ञानार्णव (अगास), प्रस्तावना पृ. 12.

उनकी अन्य अभिव्यंजना की भंगिमाएँ भी सहज हैं। सन्तों ने कहीं पर भी सायास अभिव्यक्ति उपादानों का प्रयोग नहीं किया है। अभिव्यक्ति से सारे माध्यम लोक और वह भी सहज-सामान्य ग्राम्य लोक से संगृहीत किए गए हैं। सन्तों का अप्रस्तुत विधान और प्रतीक-योजना सीधे लोक-जीवन और लोकज्ञान से अनुप्राणित है।''[1] यही कारण है कि जहाँ आचार्य शुभचन्द्र की अभिव्यक्ति सामान्यजन के बहुपयोगी है वहीं उसमें योग विषयक विपुल सामग्री प्राप्ति होती है।

आज नैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, आध्यात्मिक आदि मूल्यों के विघटन के इस दौर में आचार्य शुभचन्द्र की रचना बहुत मूल्यवान् है। क्योंकि आज वैज्ञानिक एवं औद्योगिक क्रांति ने मानव के न केवल भौतिक उत्पादन एवं साधनों को बदल दिया है। अपितु उसकी मानसिक प्रवृत्तियों को भी परिवर्तित कर दिया है। और मानसिक प्रवृत्तियों के उद्वेलन को शान्त करने के लिए योग और ध्यान से बढ़कर और क्या प्रक्रिया हो सकती है।

आचार्य शुभचन्द्र ने यौगिक क्रियाओं का वर्णन अत्यन्त वैज्ञानिक ढंग से किया है। जैनदर्शन में आन्तरिक तप के रूप में ध्यान का स्थान सर्वोपरि है। आज योग का एक लक्ष्य चित्त की चंचलता को नियंत्रित करना है। ध्यान, धारणा और समाधि योग के अन्तरंग साधन हैं। आसन, यम, नियम और प्रत्याहार योग के बहिरंग साधन हैं। इनमें जैन परम्परा की यह विशेषता है कि वह यमों पर अन्य सभी परम्पराओं की अपेक्षा अधिक बल देती है। अतएव जैन योग अहिंसा, अपरिग्रह आदि पर बल देने के कारण व्यावहारिक जीवन की शुद्धता को योग के लिए अनिवार्य मानता है। इस पृष्ठभूमि में ध्यान तथा योग का जो विस्तार जैन परम्परा में हुआ उसका ज्ञानार्णव को आधार बनाकर शोध ग्रन्थ प्रस्तुत करना उसकी विशिष्टता को दर्शित करता है।

आचार्य शुभचन्द्र का अपना वैशिष्ट्य है कि वे प्रखर तत्त्वज्ञानी थे, महान् साधक थे और साथ-ही-साथ कवित्व प्रतिभा के धनी थे। उनके द्वारा रचित 'ज्ञानार्णव' एक ऐसा महान् ग्रन्थ है, जिसमें दर्शन, योग और काव्य तीनों की बड़ी हृद्य समन्विति है। जहाँ इस ग्रन्थ में दर्शन के योग्य सामग्री उपलब्ध होती है, वहीं साहित्यिक दृष्टि से भी इसका अपना अलग महत्त्व है। चाहे, छन्द, अलंकार, रस की बात हो ज्ञानार्णव में सभी कुछ विद्यमान है। आचार्य शुभचन्द्र ने अपने ग्रन्थ में आर्हत दर्शन स्वीकृत आत्माभ्युदयमूलक उपक्रमों को योग के ढाँचे में ढालकर काव्यात्मक शैली में उपस्थापित करने में जो उद्यम किया है वह स्तुत्य है।

भारतीय इतिहास की परम्परा में ऐसे अनेक मनीषियों के उल्लेख हैं जिनके परिचय के नाम पर आज तक समृद्धि एवं विकास के बावजूद भी दो शब्द तक उपलब्ध नहीं हैं। किन्तु उसके अभाव में भी यहाँ की परम्परा निष्प्रभ नहीं होती। चूंकि ये ऐसे आभावन्त

1. सन्तों की सांस्कृतिक संसृति, पृ. 364.

नक्षत्र हैं जो शब्दों से नहीं अपितु स्वकीय दिव्याभा से अन्तस्तत्त्व का परिचय प्रकट करते हैं और उस परिचय से आलोकित होते हुए हजारों-हजारों साधक/पाठक उनके द्वारा निर्धारित/प्ररूपित मार्ग के माध्यम से साधना की अतल गहराइयों और उत्कृष्ट उँचाइयों, दोनों को समुपलब्ध हो पाने में सक्षम हो जाते हैं।

वे किसी शिलालेख, ऐतिह्य साक्ष्य, पट्टावलियों या डायरियों की अपेक्षा किए बिना ही अपने अस्तित्व को अपनी रचनाओं से सिद्ध करते प्रतिबद्ध प्रतीत होते हैं। शायद इसमें उनका यह सन्देश भी होता है कि अपने अस्तित्व को सुरक्षित रखने का नया आयाम कृतित्व की चमक से ही हो सकता है।

ऐसे ही महान् साधकों में एक थे आचार्य शुभचन्द्र। जिनका दैहिक व कार्मिक परिचय भौतिक अस्तित्व के साथ ही इस भूतल से विलीन-जैसा हो गया। किन्तु उनकी उपलब्ध रचना ज्ञानार्णव ही उनका तथा उनकी रचनाधर्मिता का अद्भुत परिचय कराने में सक्षम है, जिसे समझने की सामर्थ्य योग्य साधक के पास ही मौजूद होती है।

तृतीय अध्याय
ध्यान का विवेचन एवं महत्त्व

भारतीय जीवन का दृष्टिकोण अध्यात्म प्रधान रहा है। वैदिक परम्परा हो या श्रमण संस्कृति प्रत्येक ने आध्यात्मिक अनुभूति को सर्वोच्च महत्ता प्रदान की है। आध्यात्मिक अनुभूति का चिन्तन और मनन ही नहीं, बल्कि उसकी प्राप्ति का उपाय भी निर्दिष्ट किया गया है। यह सर्वसम्मत तथ्य है कि बाह्य शक्त्याश्रित मानव अखण्ड सुख एवं शान्ति प्राप्त करने में सर्वथा असमर्थ रहा है। अखण्ड रसानुभूति के लिए अन्तर्मुखी होकर सत्य का साक्षात्कार करना परमावश्यक है।

आचार्य श्री शुभचन्द्र ने ध्यान के प्रकरण को आरम्भ करते हुए मनुष्य पर्याय की दुर्लभता का कथन करते हुए कहा है कि – ''दुःख से नष्ट होने वाले इस निकृष्ट अनादि संसार में प्राणियों को संयम एवं तप आदि अनेक गुणों को प्राप्त कराने वाली मनुष्य पर्याय ही दुर्लभ है।''[1]

चूंकि पूर्ण संयम एवं तप की प्राप्ति मनुष्य पर्याय में ही होती है, अन्य भवों में नहीं। आगे सम्बोधित करते हुए वे लिखते हैं – ''हे भव्यो! यदि वह काकतालीय न्याय से तुझे प्राप्त हो गई है तो तुम आत्मा में आत्मा का निश्चय करके शरीरादि बाह्य पदार्थों से उसकी भिन्नता का निश्चय करके उसे सफल कर लो।''[2] अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार कोई कौआ ताल वृक्ष के नीचे से उड़ता हुआ जा रहा हो और उसी समय अकस्मात् उसका फल टूटकर नीचे गिरे व कौआ उसे चोंच में पकड़ ले, यह सुयोग कदाचित् ही प्राप्त होता है, उसी प्रकार मनुष्य पर्याय के प्राप्त हो जाने पर भी लम्बी आयु आदि रूप उक्त सबके प्राप्त हो जाने पर भी यदि प्राणी आत्महित में नहीं प्रवृत्त होता है तो यह उसका दुर्भाग्य ही समझना चाहिए।

मनुष्य पर्याय पाने के फल का निर्देश करते हुए लिखा है कि – ''किन्हीं महर्षियों ने उस मनुष्य पर्याय का फल पुरुषार्थ बतलाया है। और वह धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के भेद से चार प्रकार का है। इन चारों पुरुषार्थों में से पहले के तीन पुरुषार्थ नाश सहित और संसार के रोगों से दूषित हैं ऐसा जानकर तत्त्वों के जानने वाले ज्ञानी पुरुष अन्त के परम पुरुषार्थ अर्थात् मोक्ष का साधन करने में ही प्रयत्न करते हैं, क्योंकि मोक्ष ही अविनाशी है।''[3]

भारतीय अध्यात्म विद्या चाहे वह वैदिक हो या श्रमण, दोनों ने ही एक स्वर से दुःख मुक्ति का समर्थन किया हैं। दुःख मुक्ति के लिए पुरुषार्थ पर बल दिया गया है।

1. ज्ञानार्णव, 3/1. 2. वही, 3/2.
3. ज्ञानार्णव, 3/3.

पुरुषार्थ चार प्रकार के माने गए हैं और इनमें मोक्ष पुरुषार्थ ही सर्वोच्च पुरुषार्थ है। उसके लिए धर्म पुरुषार्थ की साधना आवश्यक होती है। साधन और साध्य में अविनाभावी सम्बन्ध है। जैसा साधन होगा वैसा ही साध्य प्राप्त होगा।

आज भौतिक साधन अपनाने पर ज्यादा बल दिया जा रहा है। फलत: साध्य भी उसी तरह का प्राप्त हो रहा है। जैसे तनाव या समस्या, शारीरिक व्याधि आदि। अत: आज जरूरत इस बात की है कि पुन: आध्यात्मिक साधनों को सम्यक् साधन के रूप में स्वीकार किया जाए।

वैदिक एवं श्रमण दोनों ही संस्कृतियों में आत्मा का शुद्ध स्वरूप प्राप्त करने पर बल दिया गया है और इसकी प्राप्ति हेतु ध्यानाभ्यास को साधन के रूप में अपनाने की बात स्वीकार की गई है। आत्मा का शुद्ध स्वरूप ज्ञानावस्था को माना गया है। अज्ञान की अवस्था विभावावस्था के नाम से जानी जाती है। विभावावस्था विकल्पों के कारण उत्पन्न होती है। उससे नाना प्रकार के दु:ख, यथा जन्म-मरण-जरावस्था, रोग, सुख-दु:ख, अनिष्ट संयोगादि विभाव, की ही प्राप्ति होती है। यही कारण है कि महर्षि पतंजलि ने इन वैभाविक वृत्तियों से मुक्त होने की अवस्था को योग कहा है।[1]

वस्तुत: ध्यान और योग दोनों अलग-अलग अवधारणाएं नहीं हैं, कारण योगाङ्गों में ध्यान को भी समाविष्ट किया गया है। इनमें अंग और अंगी का सम्बन्ध है। जिस प्रकार हमारे हाथ-पाँव हमारे अंग से अलग भी है और नहीं भी हैं, ऐसा ही सम्बन्ध योग और ध्यान में है।

जैन परम्परा में भी सभी प्रकार के विकल्पों से रहित होने की प्रक्रिया को ध्यान कहा गया है। आचार्य उमास्वामी ने स्पष्ट शब्दों में कहा है - मन के चिन्तन का एक ही वस्तु पर अवस्थान अर्थात् केन्द्रित करना ध्यान है।[2] तात्पर्य यह है कि ध्यान मन की बहुमुखी चिन्तनधारा को एक ही ओर प्रवाहित करता है, जिससे साधक अनेक चित्तता से दूर हटकर एक चित्त में स्थिर होता है।

बौद्ध परम्परा में भी ध्यान विषयक अवधारणा के सन्दर्भ में विकल्पों से रहित होने पर बल दिया गया है। समन्तपासादिका में ध्यान के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि - किसी विषय पर चित्त को स्थिर कर चिन्तन करना ही ध्यान है।[3]

वैदिक, जैन और बौद्ध तीनों ही परम्पराओं में ध्यानाभ्यास की विधियों पर पर्याप्त चर्चा मिलती है। प्राय: तीनों परम्पराओं में ध्यान को मोक्ष या कैवल्य प्राप्ति का सबल साधन स्वीकार किया गया है।

1. अर्हत्वचन, जनवरी 1957, पृ. 18. 2. तत्त्वार्थसूत्र 9/27.
3.समन्तपासादिका, भाग 1, पृ. 145-6.

ध्याता का निर्देश – आचार्य शुभचन्द्र की दृष्टि में ध्याता की पात्रता ध्यान या ध्यान के पूर्वाभ्यास के लिए एक महत्त्वपूर्ण अनिवार्यता है, अन्यथा ध्यान की कल्पना भी करना उनकी दृष्टि से समीचीन नहीं। उसे ही विशेष रूप से निर्देशित करते हुए कहा गया कि –

''यदि तेरे अन्त:करण में विवेक रूप लक्ष्मी निर्भय होकर स्थिरता से रह सकती है तो तेरे लिए अन्त:करण की शुद्धि को प्रदान करने वाले उस ध्यान के स्वरूप का कथन किया जाता है। हे प्राणी! यदि तेरी तीनों लोकों को व्याप्त करने वाली मोह रूप गाढ़निद्रा नष्ट हो चुकी है तो तू शीघ्र ही उस ध्यान रूप अमृतरस का पान कर। तात्पर्य यह कि जब तक प्राणी की बाह्य पर-पदार्थों की ओर से ममत्व बुद्धि नहीं हटती है तब तक उसके निर्मल ध्यान की सम्भावना नहीं है। इसलिए ध्यान के अभिलाषी प्राणी को उस ममत्व बुद्धि का परित्याग अवश्य करना चाहिए।''[1]

''यदि तू प्रमाद रूप भयानक ग्राह के दाँतों के यन्त्र से छुटकारा पा चुका है तो तू जन्म परम्परा को नष्ट करने वाले उस ध्यान का आश्रय ले।''[2]

उत्तम कार्यों के विषय में या सदाचार की प्रवृत्तियों में जो अनादरभाव या मन की चंचलता होती है उसका नाम प्रमाद है। ऐसा प्रमादी व्यक्ति ध्यान करने के लिए कभी समर्थ नहीं हो सकता।

आचार्य शुभचन्द्र के अनुसार जो तीव्र राग द्वेष के व्यापार में लिप्त है उसे ध्यान की गन्ध भी नहीं आ सकती, वे अपने शब्दों में निम्न प्रकार कहते हैं – ''यदि अनन्त संसार में परिभ्रमण स्वरूप महावृष्टि के विस्तार में अतिशय प्रवीण अनन्त संसार में परिभ्रमण कराने वाले वे रागद्वेषादि तेरे क्षीण हो चुके हैं तो तू ध्यान के लिए प्रयत्नशील हो।''[3]

''हे धीर! यदि तेरा मन संवेग (धर्मानुराग), निर्वेद (विषयविरक्ति) और विवेक से संस्कृत हो चुका है तो तू अपनी आत्मा में आत्मा का अवलोकन कर आत्मध्यान में लीन हो।''[4]

इस तरह हम देखते हैं कि जब तक ध्याता में ध्यान करने के योग्य गुणों का, जिनमें रागद्वेष का परित्याग, प्रमाद का परित्याग, विवेक का प्रस्फुरण, संवेग और निर्वेद आदि के द्वारा अन्त:करण की शुद्धि नहीं हो जाती, अभाव रहता है तब तक ध्यान करने में कथमपि समर्थ नहीं हो पाता।

1. ज्ञानार्णव, 3/17-8.
2. वही, 3/20.
3. वही, 3/21.
4. वही, 3/24.

ध्यान के भेद – आचार्य शुभचन्द्र ने संक्षेप रुचिवान् शिष्यों के अनुग्रह के लिए ध्यान के सामान्यतया तीन भेद निर्देशित किये हैं। यह उनके अपने विवेचन पद्धति की विशेषता है और इस विवेचना का मूलाधार अध्यात्मयुग के प्रवर्तक आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा रचित प्रवचनसारादि में उपलब्ध भी है।[1]

उपयोगत्रय का स्वरूप वा उनका विवेचन जिस प्रकार प्रवचनसारादि ग्रन्थों में निर्दिष्ट है, प्राय: वैसा ही प्रशस्त ध्यान आदि का स्वरूप ज्ञानार्णव में उपलब्ध होता है। जबकि इस प्रकार का विभाजन सामान्यतया अन्य ग्रन्थों में दृष्टिगोचर नहीं होता।

उपयोग के आधार पर ध्यान के निम्न तीन भेद होते हैं – 1. पुण्याशय (शुभोपयोग), 2. इसके विपरीत पापाशय (अशुभोपयोग) और 3. इन दोनों से रहित शुद्धाशय (शुद्धोपयोग)।

पुण्याशय या शुभोपयोग –

आचार्य शुभचन्द्र के शब्दों में – 'पुण्याशय के वश शुद्धलेश्या के अवलम्बन पूर्वक वस्तुस्वरूप का चिन्तन करना शुभोपयोग है।'[2]

इसे ही आचार्य कुन्दकुन्द अपने शब्दों में निम्नत: कहते हैं कि – ''जो आत्मा देव, यति, गुरु की पूजा में, दान में, अणुव्रत–महाव्रत रूप उत्तम शीलों में और उपवासादि शुभ कार्यों में लीन रहता है, वह शुभोपयोगी कहलाता है।''[3]

अथवा 'जो जीव परमभट्टारक महादेवाधिदेव श्री अर्हन्त भगवान् को जानता है, अष्टकर्म से रहित और सम्यग्दर्शनादि गुणों से विभूषित सिद्ध परमेष्ठी को ज्ञानदृष्टि से देखता है उसी प्रकार आचार्य, उपाध्याय और साधु रूप निष्परिग्रह गुरुओं को जानता–देखता है तथा जीवमात्र पर दयाभाव से सहित है उस जीव का वह उपयोग शुभोपयोग कहलाता है।'[4]

जो जीव को पुण्य–पाप से लिप्त अथवा अधीन करती है उसको लेश्या कहा जाता है। इसी लेश्या के वश प्राय: ध्यान की शुभाशुभता निर्धारित होती है। मनुष्य को जब क्रोध आता है, तब उसके मनोगत भाव का प्रभाव उसकी मुखाकृति पर उभर आता है। क्रोधादि कषायों के आवेग की तीव्रता–मन्दता के आधार पर लेश्या के भी भेद मान लिए गए हैं जो कि छह भेदों में निरूपित हैं।[5] जिन्हें नामत: कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल के रूप में जाना जाता है। ये नाम के अनुरूप ही परिणामों को भी प्रदर्शित करने वाली होती हैं। इनमें कृष्ण, नील और कापोत को अशुभ और पीत, पद्म और शुक्ल को

1. प्रवचनसार, 1/9.
2. ज्ञानार्णव, 3/29.
3. प्रवचनसार, 1/69.
4. प्रवचनसार, 1/65.
5. गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा 493.

शुभ के रूप में गिना जाता है। जबकि इन छहों में ही आन्तरिक रूप से भावों की मलिनता मान्य होती है, जो कि तीव्र-मन्द या मध्यम रूप होती है।

चूंकि इन छहों को शुभ और अशुभ के रूप में गिना जाता है अत: इनके तारतम्य को तीव्रतम, तीव्रतर, तीव्र और मन्द, मन्दतर, मन्दतम के रूप में माना जाता है।[1] इनके भी प्रत्येक के अवान्तर भेदों की अपेक्षा असंख्यात लोक प्रमाण भेद माने जाते हैं, जो कि निरन्तर षट्स्थानपतितहानिवृद्धि को लेकर होते रहते हैं।

इनके शुभाशुभ परिणमन के विषय को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि - आत्मा की जिस-जिस तरह संक्लेश परिणति कम-कम होती जाती है। उसी तरह यह आत्मा अशुभ लेश्याओं से अर्थात् उत्कृष्ट कृष्ण लेश्या को छोड़कर नील लेश्या रूप में और नीललेश्या को छोड़कर कापोत लेश्या के रूप में परिणमन करता है। इसी तरह उत्तरोत्तर संक्लेश परिणामों की वृद्धि होने से यह आत्मा कापोत से नील और नील से कृष्ण लेश्या रूप परिणमन करता है। इस तरह जीव संक्लेश की हानि और वृद्धि की अपेक्षा से तीन अशुभ लेश्यारूप परिणमन करता है।

उत्तरोत्तर विशुद्धि की वृद्धि होने से आत्मा पीत, पद्म, शुक्ल इन तीन शुभ लेश्याओं के जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट अंश रूप में परिणमन करता है तथा विशुद्धि की हानि होने से उत्कृष्ट से जघन्य पर्यन्त शुक्ल, पद्म, पीत लेश्या रूप परिणमन करता है। इस तरह विशुद्धि की हानि-वृद्धि होने से शुभ लेश्याओं का परिणमन होता है।

मानव शरीर में शान्ति और पवित्रता के साथ-साथ वासनाओं को भी उत्तेजित करने वाली अनेक ग्रन्थियाँ होती हैं। जैसे पीयूष और जनन ग्रन्थि वासनात्मक भाव रूप रस का स्राव करती हैं तो विनिअल और सोलार-जैसी ग्रन्थियाँ पवित्रता रूप मधुर रस का स्राव करती हैं।[2] और इन्हीं के स्राव के आधार पर भावों का नियंत्रण होता है, जो लेश्या कही जाती हैं।

पापाशय या अशुभोपयोग -

अशुभोपयोग के विषय को स्पष्ट करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं - "जो उपयोग विषय और कषायों से व्याप्त है, मिथ्याशास्त्रों का सुनना, आर्त्त-रौद्र रूप खोटे ध्यानों में प्रवृत्त होना तथा दुष्ट-कुशील मनुष्यों के साथ गोष्ठी करना आदि कार्यों से युक्त है, हिंसादि पापों के आचरण में उग्र है और उन्मार्ग के चलाने में तत्पर है वह अशुभोपयोग है।"[3]

अर्थात् सहजात्मस्वरूप व उसके साधनों-साधकों व सिद्धों के अतिरिक्त अन्य

1. धवला, पु. 1, पृ. 388. 2. योग, प्रयोग, अयोग पृ. 79-80.
3. प्रवचनसार, 2/66.

को देवत्व या गुरुत्व के रूप में श्रद्धान विपरीत मार्ग है। इन कषायों के निमित्त से सतत् असद्ध्यान होता है।

ज्ञानार्णवकार की दृष्टि से भी अप्रशस्त ध्यान का लक्षण निम्नवत् है – ''अशुभ उपयोग के वश प्राणियों के मूढता, मिथ्यात्व, वस्तुस्वरूप की विपरीतता और कषायों के निमित्त से निरन्तर अप्रशस्त ध्यान हुआ करता है। अभिप्राय यह है अशुभ उपयोग के वशीभूत प्राणी के मोहादि के निमित्त से जो आर्त्त व रौद्र स्वरूप चिन्तन होता है उसका नाम अप्रशस्त ध्यान है।''[1]

अशुभोपयोग का विवेचन करते हुए आचार्य समन्तभद्र ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में भी विशेष स्पष्टीकरण किया है। वे कहते हैं – ''द्वेष के कारण किसी प्राणी के वध, बन्धन, छेदन आदि का चिन्तन करना तथा राग के कारण परस्त्री आदि का चिन्तन करना अप्रशस्त ध्यान है।''[2]

'हिंसा, झूठ, चोरी, कुशीलसेवन और परिग्रह में ममता होने पर, क्रोध, मान, माया, लोभ, कुज्ञानों, पक्षपात, मात्सर्यभाव, मद, प्रमाद, अशुभलेश्याओं, विकथाओं, निदान एवं गारवों के होने पर अशुभ भाव होते हैं।'[3] और इस अशुभभाव के सद्भाव में होने वाला ध्यान अशुभध्यान होता है।

शुद्धाशय या शुद्धोपयोग –

'रागद्वेषादि की परम्परा के नष्ट हो जाने से अन्तरात्मा के प्रसन्नता के साथ स्व-पर विवेक के प्रगट होने पर जो आत्मस्वरूप की उपलब्धि होती है वह शुद्ध ध्यान है।'[4]

जबकि आचार्य कुन्दकुन्द इसी का स्वरूप इस तरह प्रस्तुत करते हैं – 'जिसने जीवाजीवादि पदार्थ और उनके प्रतिपादक शास्त्र को अच्छी तरह से जान लिया है, जो संयम और तप से सहित है, जिसका राग नष्ट हो चुका है और जो सुख-दुःख में समता परिणाम रखता है ऐसा श्रमण शुद्धोपयोग का धारक कहा जाता है।' अथवा 'जो अशुभोपयोग से रहित है और शुभोपयोग में भी जो उद्यत नहीं हो रहा है ऐसा मैं आत्मातिरिक्त अन्य द्रव्यों में मध्यस्थ होता हूँ, और ज्ञानस्वरूप आत्मा का ही ध्यान करता हूँ।'[5]

जो अशुभोपयोग को पहले ही छोड़ चुका है अब शुभोपयोग में भी प्रवृत्त होने के लिए जिसका मन नहीं जाता, जो शुद्धात्मा को छोड़कर अन्य सब द्रव्यों में मध्यस्थ हो रहा है और जो निरन्तर सहज चैतन्य से उद्भासित एक निजशुद्ध आत्मा का ही ध्यान करता

1. ज्ञानार्णव, 3/30.
2. रत्नकरण्ड श्रावकाचार, 78.
3. रयणसार, 62-3.
4. ज्ञानार्णव, 3/31.
5. प्रवचनसार, 1/14, 2/67.

है वह शुद्धोपयोगी है। इस जीव के उपयोग को शुद्धोपयोग कहते हैं। इस शुद्धोपयोग के प्रभाव से आत्मा का पर द्रव्य के साथ संयोग छूट जाता है। इसलिए ही श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने शुद्धोपयोगी होने की भावना प्रकट की है।

ध्यान के फल –

आगे इन्हीं तीनों प्रकार के ध्यानों के फल का निर्देश करते हुए लिखा है –

'मनुष्य शुभध्यान के फल से उत्पन्न हुई स्वर्ग की लक्ष्मी को भोगते हैं और क्रम से मोक्ष को प्राप्त होते हैं।

दुर्ध्यान से जीवों की दुर्गति का कारणभूत अशुभकर्म होता है, जो कि बड़े कष्ट से भी कभी बिना फल दिये क्षय नहीं होता।

जीवों के शुद्धोपयोग का फल समस्त दुःखों से रहित, स्वभाव से उत्पन्न और अविनाशी ज्ञानरूपी राज्य का पाना है अर्थात् शुद्धोपयोग का फल केवलज्ञान की प्राप्ति है।'[1]

आचार्य कुन्दकुन्द ने भी तीनों (उपयोग रूप) ध्यानों के फल को दर्शाते हुए इसी भाव को प्रकट किया है। यथा – 'धर्म अर्थात् चारित्र गुणरूप जिसका आत्मा परिणत हो रहा है ऐसा जीव यदि शुद्धोपयोग से सहित है तो निर्वाण सुख को पाता है और यदि शुभोपयोग से सहित है तो स्वर्गसुख को प्राप्त करता है।

अशुभोपयोग रूप परिणमन करने से जीव खोटा मनुष्य, तिर्यञ्च और नारकी होकर हजारों दुःखों से दुःखी होता हुआ सदा संसार में अत्यन्त भ्रमण करता है।

शुद्धोपयोग से निष्पन्न अरहन्त, सिद्ध भगवान् को अतिशय रूप सबसे अधिक, आत्मा से उत्पन्न, विषयातीत, अनुपम, अनन्त और अनन्तरित सुख प्राप्त होता है।'[2]

आनन्द का स्रोत, ज्ञान का भवन स्वयं आत्म–पुरुष ही एक मात्र साध्य है और आप अपना साधन भी है और जब त्रिपुटी का वेध हो जाता है, साधक, साध्य और साधन का भेद समाप्त हो जाता है, तीनों अभेद एक बिन्दु में ही जैसे समाए हों, ऐसा होता है तब वह पुरुष केवल पुरुष ही है। तब वह न ध्येय है, न ध्याता, न ध्यान, वह आप ही आप है, शक्ति से शक्तिमान अभिन्न व शक्तिमान से शक्ति अभिन्न। तब सब सौन्दर्य, सब सत्य उस निर्विकल्प भावातीत में ही समाए रह जाते हैं।

'जीवात्मा परिणाम स्वभावी होने से जब शुभ व अशुभ भाव रूप परिणमन करता

1. ज्ञानार्णव, 3/32-5.
2. प्रवचनसार, 1/11-3

है तब शुभ या अशुभ स्वयं ही होता है और जब शुद्ध स्वरूप परिणमित होता है तब शुद्ध होता है।[1]

आत्मा स्फटिक की भांति परिणाम स्वभावी है। शुभ व अशुभ राग भावों के निमित्त से परिणमित होकर शुभ व अशुभ होता है और विराग भाव से परिणमित होता है तो शुद्ध स्फटिक की भांति शुद्ध रहने लगता है।

ध्यान का महत्त्व –

जैन सिद्धान्त के अनुसार जीव वस्तुत: कर्म से बद्ध होकर अनादिकाल से इस संसार में परिभ्रमण करता रहता है। जब वह अपने स्वरूप को पहचान उसकी श्रद्धा करके उसी में लीन होता है तो संसार के बन्धन से मुक्त होता है। मुक्ति के उपाय हैं – सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्त्वों का यथार्थ श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। जीव और अजीव के परस्पर मेल का नाम संसार है। संसार के प्रधान कारण आस्रव और बन्ध हैं। संसार के विराम रूप मोक्ष के प्रधान कारण संवर और निर्जरा हैं। संवर और निर्जरा का प्रधान कारण सम्यक्चारित्र है और उसमें तप भी गर्भित है। तप के दो भेद हैं – बाह्य और अभ्यन्तर। इन दोनों के ही छह–छह भेद हैं। आभ्यन्तर तप के ही छह भेदों में से एक भेद ध्यान है।

ध्यान के चार भेद हैं – आर्त्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल।[2] इनमें से प्रथम दो संसार के कारण है और अन्तिम दो मोक्ष के कारण हैं।[3] इससे स्पष्ट है कि ध्यान शुभ भी होता है और अशुभ भी। किन्तु जब हम ध्यान की चर्चा करते हैं तो हमारा लक्ष्य शुभध्यान ही होता है अशुभ ध्यान नहीं।

ध्यान की शुभाशुभता ध्याता और ध्येय दोनों पर निर्भर होती है। यदि ध्याता विषय और कषायों से ग्रसित है और उन्हीं के विचारों में निमग्न है तो वह ध्यान अशुभ होता है। और ऐसे ध्यान के लिए किसी प्रकार के प्रशिक्षण या योगाभ्यास की आवश्यकता नहीं होती। इनकी चिन्ता से निवृत्त होने पर ही शुभध्यान में प्रवृत्ति हो सकती है। इसी से ज्ञानार्णव में कहा है – 'काम भोगों से विरक्त होकर तथा शरीर में स्पृहा छोड़कर निर्ममत्व भाव को प्राप्त कर सका है तो तू ध्यान का अधिकारी है।'[4] उसी की तैयारी के लिए ज्ञानार्णव में बारह अनुप्रेक्षाओं का कथन है और तत्सम्बन्धी विविध उपदेश दिये गए हैं। जिनकी चर्चा ध्येय प्रकरण के अन्तर्गत की जाएगी।

जैनदर्शन में चारित्र शब्द का प्राय: वही अर्थ है, जो अन्य मतों में योग शब्द का है। जैनों ने मुक्ति प्राप्त करने के लिए जो शैली अपनाई है उसमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान

1. वही, 1/9.
2. तत्त्वार्थसूत्र, 9/27.
3. वही, 9/28.
4. ज्ञानार्णव, 3/23.

और सम्यक्चारित्र की महत्ता निर्विवाद रूप से स्वीकार की गई है। सम्यग्दर्शन से सम्यग्ज्ञान एवं सम्यग्ज्ञान से सम्यक्चारित्र की ओर साधक क्रमशः अग्रसर होता है। इस प्रकार साधक की आत्मा की क्रमिक पवित्रता के साथ उसके भीतर ध्यान की क्षमता का विकास होता रहता है। साधारणतः यह विश्वास किया जाता है कि जैन बाह्य संयम पर अधिक बल देते हैं किन्तु यह बात सही नहीं है। बाह्य तप तो आन्तरिक तप की छायामात्र हैं। आत्मा और शरीर की एकता के भ्रम के परिहार से आत्मसाक्षात्कार संभव होता है और तभी आध्यात्मिक क्षेत्र में संचरण की योग्यता उत्पन्न होती है। उसके लिए अन्तर्मुख होकर दोनों की चिन्तना का ध्यान अनिवार्य है। जब आत्म-अनात्म का बोध हो जाए तब और ऊपर उठकर परमात्मा का साक्षात्कार अपेक्षित है। आचार्य कुन्दकुन्द, आचार्य पूज्यपाद, आचार्य योगीन्दुदेव और शुभचन्द्र जैसे योगियों ने अपनी कृतियों में आत्मसाक्षात्कार की क्रियाशैली पर विचार किया है। उन्होंने बहिरात्मा, अन्तरात्मा एवं परमात्मा रूप आत्मा की तीन अवस्थाएँ मानी हैं। इनके विषय में किञ्चित् विवेचन कर देना प्रसंगानुरूप होगा।

1. जिस जीव के अपनी अज्ञानता के कारण आत्मस्वरूप का यथार्थ बोध न होने से शरीरादि पर-पदार्थों के विषय में आत्मबुद्धि हुआ करती है, अर्थात् जो आत्मस्वरूप से अनभिज्ञ होकर शरीर को आत्मा और उससे सम्बद्ध अन्य सब ही पर-पदार्थों (स्त्री-पुत्र एवं धन-सम्पत्ति) को अपना मानता है, उसे बहिरात्मा जानना चाहिए। उसकी चेतना विवेकबुद्धि मोहरूपी निद्रा के द्वारा नष्ट कर दी गई है।[1]

2. जिसे बाह्य पदार्थों को पृथक् करके आत्मा के विषय में ही आत्मा का निश्चय हो चुका है, जो शरीरादि को पर और आत्मा को ही आत्मा मानता है उसे आत्मतत्त्व के ज्ञाता अन्तरात्मा मानते हैं। वह अज्ञानरूप अन्धकार को नष्ट करने के लिए सूर्य के समान है।[2]

3. कर्मरूप लेप से रहित, शरीर से अतिक्रान्त (अशरीर) शुद्ध, कृतकृत्य, अतिशय सुखी और विकल्प से रहित सिद्ध जीव को परमात्मा कहा जाता है।[3]

शंका - जबकि आत्मा निर्विकल्प और अतीन्द्रिय है तब योगी उसे शरीरादि बाह्य पदार्थों के समूह से पृथक् करके उसका किस प्रकार से अभ्यास करे ?

समाधान - योगी बहिरात्म बुद्धि को छोड़कर बाह्य जड़ शरीर को आत्मा न मानकर - अभ्यन्तर स्वरूप का आश्रय लेकर अन्तरात्मा होता हुआ अतिशय पवित्र व अविनश्वर परमात्मा का ध्यान करे।[4]

---

1. ज्ञानार्णव, 32/6.
2. ज्ञानार्णव, 32/7
3. वही, 32/8.
4. ज्ञानार्णव, 32/10.

ध्यान का स्वरूप -

जैनागमों में योग का अर्थ मुख्यत: ध्यान किया गया है। इस ध्यान से आत्म साक्षात्कार की प्राप्ति होती है। किसी खास वस्तु पर विचार की एकाग्रता को ध्यान कहते हैं। साधारणत: मनुष्य का मन और विचार हमेशा चंचल रहते हैं। इन्हें किसी वस्तु पर केन्द्रित करना ही ध्यान है। आचार्य उमास्वामी ने ध्यान की परिभाषा करते हुए लिखा है कि 'उत्कृष्ट कायबन्ध वाले साधु के अन्तर्मुहूर्त्तपर्यन्त एकाग्रचिन्ता के रोध को ध्यान कहते हैं।'[1]

आचार्य उमास्वामी के इसी अभिप्राय को ही आचार्य शुभचन्द्र ने अपने शब्दों में भी व्यक्त किया है। आचार्य उमास्वामी विहित सूत्र में जो 'एकाग्रचिन्तानिरोधो'[2] कहा गया है। उसमें चार शब्द हैं, जो कि एक- प्रधान, अग्र- आलम्बन, चिन्ता-स्मृति और निरोध नियन्त्रण वाचक हैं। इस लक्षण का फलितार्थ यह हुआ कि किसी एक प्रधान आलम्बन में चाहे वह द्रव्य रूप हो या पर्याय रूप स्मृति का नियंत्रित करना-रोक रखना या अन्यत्र न जाने देना ध्यान कहलाता है। अथवा 'अङ्गति जानातीत्यग्रं आत्मा' इस निरुक्ति से 'अग्र' नाम आत्मा का है, सारे तत्त्वों में अग्रगण्य होने से भी आत्मा को अग्र कहा जाता है। द्रव्यार्थिक नय से एक नाम केवल, असहाय या नित्योद्दित का है, चिन्ता अन्त:करण की वृत्ति को और निरोध नियंत्रण तथा अभाव को भी ध्यान कहते हैं। इस दृष्टि से एक मात्र शुद्धात्मा में चित्तवृत्ति के नियंत्रण एवं चिन्तान्तर के अभाव को ध्यान कहते हैं जो कि केवल स्व-संवित्तिमय होता है।

इस सूत्र में ध्याता के लिए केवल उत्तम संहनन पद्द ही दिया है। जिसका अस्थिबन्धन आदि सुदृढ़ और अभेद्य होता है उसे उत्तम संहनन कहते हैं। दिगम्बर व्याख्याकारों के अनुसार छह संहननों में से आदि के तीन संहनन ध्यान के लिए उत्तम है किन्तु श्वेताम्बर व्याख्याकारों के अनुसार आदि के चार संहनन उत्तम हैं।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि यह कथन सामान्य ध्याता का है। यह अशुभ ध्यान के ध्याता में कैसे संगत हो सकता है ? इसका उत्तर यह है कि जैन सिद्धान्त के अनुसार सप्तम नरक में वही मनुष्य मरकर जन्म लेता है जो प्रथम उत्तम संहनन का धारी होता है। अर्थात् जिस संहनन से मोक्ष की प्राप्ति होती है उसी संहनन से सप्तम नरक में उत्पत्ति होती है। अत: जैसे उत्कृष्ट शुभ ध्यान के लिए उत्तम संहनन आवश्यक है उसी प्रकार उत्कृष्ट अशुभ ध्यान के लिए भी उत्तम संहनन आवश्यक है।

वज्रवृषभनाराच, वज्रनाराच और नाराच ये तीन संहनन उत्तम हैं। इनमें मोक्ष का कारण तो प्रथम संहनन मात्र होता है, जबकि तीनों संहननों से ध्यान तो किया ही जा

1. ज्ञानार्णव, 1/23. 2. तत्त्वार्थसूत्र, 9/27.

सकता है। अग्र अर्थात् मुख्य लक्ष्य चिन्ता- अन्त:करण व्यापार। गमन, भोजन, शयन और अध्ययन आदि विविध क्रियाओं में भटकने वाली चित्तवृत्ति का एक क्रिया में रोक देना निरोध है। जिस प्रकार वायु रहित प्रदेश में दीपशिखा अपरिस्पन्द-स्थिर रहती है। उसी तरह निराकुल देश में एक लक्ष्य में बुद्धि और शक्तिपूर्वक रोकी गई चित्तवृत्ति बिना व्याक्षेप के वहीं स्थिर रहती है। अन्यत्र नहीं भटकती। अथवा अग्र शब्द अर्थ वाची है, अर्थात् एक द्रव्य परमाणु या भाव परमाणु या अन्य किसी अर्थ में चित्तवृत्ति को केन्द्रित करना ध्यान है। ध्यान का अधिकतम काल अन्तर्मुहूर्त होता है। उत्तम संहनन वाला जीव ही उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त्त काल तक ध्यान धारण कर सकता है, अन्य संहनन वाले नहीं।

ध्यान में एकाग्रता को सबसे अधिक महत्त्व प्राप्त है, वह व्यग्रतामय अज्ञान की निवृत्ति रूप है और उससे शक्ति केन्द्रित एवं बलवती होकर शीघ्र ही सफलता की प्राप्ति में सहायक होती है।

कार्तिकेयानुप्रेक्षा में भी ध्यान का स्वरूप ऐसा ही निरूपित किया गया है -

अंतोमुहुत्तमेत्तं लीणं वत्थुम्मि माणसं णाणं।
झाणं भण्णदि समए असुहं च सुहं च तं दुविहं ॥[1]

अर्थात् किसी वस्तु में अन्तर्मुहूर्त के लिए मानस ज्ञान के लीन होने को आगम में ध्यान कहा है। वह दो प्रकार का है - शुभध्यान और अशुभध्यान।

किसी एक ही विषय की ओर जो चिन्ता को रोका जाता है, इसका नाम ध्यान है। इससे भिन्न भावनाएँ होती हैं - उनमें संसार, शरीरादि अनेक विषयों की ओर चिन्ता का झुकाव होता है। भावनाओं के ज्ञाता उन भावनाओं को अनुप्रेक्षा अथवा अर्थचिन्ता के नाम से भी स्वीकार करते हैं।

इस प्रसंग में यह ध्यातव्य है कि जो एक दिन या माह भर आदि तक एक ही ध्यान करने की बात सुनी जाती है, वह ठीक नहीं! क्योंकि इतने समय तक एक ही ध्यान रखने से इन्द्रियों का उपघात ही हो जाएगा। इसी प्रकार श्वासोच्छ्वास के निग्रह को ध्यान नहीं कहते हैं। क्योंकि इसमें श्वासोच्छ्वास रोकने की वेदना से शरीरपात होने का प्रसंग आ सकता है। अत: ध्यानावस्था में श्वासोच्छ्वास प्रचार स्वाभाविक होना चाहिए। इसी तरह समय या मात्राओं आदि का गिनना भी ध्यान नहीं है, क्योंकि इसमें एकाग्रता का अभाव है। गिनने में व्यग्रता स्पष्ट ही है।

ध्याता का स्वरूप -

ध्यान योग के विषय में चार बातों पर विचार किया जाता है जैसा कि ज्ञानार्णव में

1. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा 470.

आचार्य शुभचन्द्र ने लिखा है-

'1. ध्याता, 2. ध्यान, 3. ध्येय और 4. ध्यान का फल। इन चारों का कथन भेदपूर्वक सूत्र रूप से किया जाता है।'[1]

ध्याता अर्थात् ध्यान करने वाला अथवा जिसके द्वारा ध्यान किया जाता है, के स्वरूप को प्रतिपादित करते हुए ज्ञानार्णवकार आचार्य शुभचन्द्र लिखते हैं -

'जो मोक्ष का अभिलाषी संसार व शरीरादि से विरक्त, शान्तचित्त, अपने आप पर - अन्त:करण के ऊपर नियंत्रण रखने वाला, स्थिर - शरीर की चंचलता से रहित, इन्द्रियों को वश में रखने वाला और गुप्ति व समिति आदि से आवृत्त - नवीन कर्मबन्ध को रोकने वाला है, वह ध्याता है। ध्यान का अधिकारी।'[2]

ध्यान कर्त्ता में आवश्यक कौन-कौन से गुण होने चाहिए ? इसका दिग्दर्शन कराते हुए यहाँ पर कहा गया है कि प्राणी को जब तक संसार में परिभ्रमण करते हुए जन्म-मरण के दु:ख का अनुभव नहीं होगा तथा वह जब तक विषयानुराग व ममत्वबुद्धि को उसका कारण नहीं समझेगा तब तक वह संसार से विरक्त होकर मोक्ष का अभिलाषी नहीं हो सकता है। और जब तक उसे मोक्ष की अभिलाषा उत्पन्न नहीं होती है तब तक उसकी ध्यान में प्रवृत्ति हो नहीं सकती है। इसके साथ उसे जितेन्द्रिय - इन्द्रियों और मन को वश में रखने वाला - भी होना चाहिए क्योंकि इन्द्रियों व मन पर विजय प्राप्त कर लेने के बिना ध्यान में कभी स्थिरता नहीं रह सकती है। क्रोधादि कषाएँ चूंकि चित्त को कलुषित करके समीचीन ध्यान से विमुख करने वाली हैं, अतएव ध्याता को उन कषायों से रहित होकर शान्तचित्त भी होना चाहिए। इसी प्रकार शरीर के ऊपर उसका इतना नियन्त्रण भी होना चाहिए कि इच्छानुसार वह किसी भी आसन से स्थित हो दीर्घकाल तक ध्यान कर सके। इस प्रकार से ध्याता योगी जब गुप्तियों एवं समितियों आदि का परिपालन करने लगता है तब उसके नवीन कर्मों का आगमन रुककर - संवर होकर तप के प्रभाव से पूर्व संचित कर्म की निर्जरा भी होती है। इस प्रकार वह अन्त में उत्कृष्ट ध्यान के आश्रय से अपने अभीष्ट मोक्ष पद को प्राप्त कर लेता है।

संसार के स्वरूप का विचार करते हुए योगीजन सोचते हैं - 'प्रमाद से मोह को प्राप्त होकर मुक्तिमार्ग से भ्रष्ट हुआ यह सारा विश्व उदय में प्राप्त हुए कर्म रूप ईंधन से उत्पन्न हुई दु:खरूप अग्नि से अतिशय पीड़ित होता हुआ चारों ओर से बार-बार जल रहा है - संतप्त हो रहा है। इस प्रकार तीव्र मोह रूप अग्नि से जाज्वल्यमान इस जगत् में से केवल योगीजन ही प्रमादरूप नशा को छोड़कर बाहर निकले हैं।'[3]

1. ज्ञानार्णव, 4/5. 2. वही, 4/6.
3. ज्ञानार्णव, 4/7-8.

अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार मदिरा को पीकर उन्मत्त हुआ - नशे में चूर - मनुष्य घर के अग्नि से जलने पर भी उसके भीतर ही स्थित रहता है और कष्ट सहता है, किन्तु उसके बाहर नहीं निकलता है, उसी प्रकार प्रमादी जीव भी मोह से संतप्त रहकर कष्ट तो भोगते हैं, किन्तु उस प्रमाद को नहीं छोड़ते हैं। उस प्रमाद को केवल वे योगीजन ही छोड़ते हैं जिनके अन्तःकरण में सुख-दुःख का विवेक उदित हो चुका है।

धर्म व शुक्ल ध्यानों को ध्याने वाले योगी को ध्याता कहते हैं उसी की विशेषताओं का परिचय निम्नतः दिया गया है -

'जो उत्तम संहनन वाला निसर्ग से बलशाली और शूर तथा चौदह या दस या नौ पूर्व को धारण करने वाला होता है वह ध्याता है। आर्त्त व रौद्र ध्यानों से दूर अशुभ लेश्याओं से रहित, लेश्याओं की विशुद्धता से अवलम्बित अप्रमत्त अवस्था की भावना भाने वाला बुद्धि के पार को प्राप्त योगी बुद्धिबलयुक्त सूत्रार्थ अवलम्बी धीर-वीर समस्त परीषहों को सहने वाला संसार से भयभीत वैराग्य भावना भाने वाला वैराग्य के कारण भोगोपभोग की सामग्री को अतृप्ति कर देखता हुआ सम्यग्ज्ञान की भावना से मिथ्याज्ञान रूपी गाढ़ अन्धकार को नष्ट करने वाला तथा विशुद्ध सम्यग्दर्शन द्वारा मिथ्या शल्य को दूर भगाने वाला मुनि ध्याता होता है।'[1] क्योंकि तप, व्रत और श्रुतज्ञान का धारक आत्मा ध्यानरूपी रथ की धुरा को धारण करने वाला होता है इस कारण हे भव्य पुरुषो ! तुम इस ध्यान की प्राप्ति के लिए निरन्तर तप, श्रुत और व्रत में तत्पर होओ।[2]

एक अन्यतम योगी अमितगतिसूरि के अनुसार ध्याता का स्वरूप निम्नानुसार है -

'जो स्वभाव से ही कोमल परिणामों से युक्त, कषायरहित, इन्द्रियविजेता, ममत्वरहित, अहंकाररहित, परीषहों को पराजित करने वाला, हेय और उपादेयतत्त्व का ज्ञाता, लोकाचार से पराङ्मुख, काम-भोगों से विरक्त, भव-भ्रमण से भयभीत, लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, शत्रु-मित्र, प्रिय-अप्रिय, मान-अपमान और जीवन-मरण में समभाव का धारक, आलस्य रहित, उद्वेगरहित, निद्राविजयी, आसनविजेता अर्थात् दृढ़ासन वाला, अहिंसादि सर्वव्रतों का अभ्यासी, सन्तोषयुक्त, परिग्रह-रहित, सम्यग्दर्शन से अलंकृत, देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति करने वाला, श्रद्धागुण से युक्त, कर्म शत्रुओं के जीतने में शूरवीर, वैराग्ययुक्त, मूर्खतारहित अर्थात् ज्ञानवान्, निदान रहित, पर की अपेक्षा से रहित अर्थात् स्वावलम्बी, शरीररूप पिंजरे को भेदने का इच्छुक और जो अविनाशी शिवपद को जाने का अभिलाषी हो, ऐसा ध्याता भव्य पुरुष प्रशंसनीय होता है।'[3]

भव्य जीव की परिणति का दिग्दर्शन कराते हुए गुणभद्र स्वामी ने आत्मानुशासन

1. महापुराण, 21/85-9.
2. द्रव्यसंग्रह, गाथा 57.
3. अमितगतिश्रावकाचार, 15/24-9.

में कहा है – 'इन्द्रिय विषयों से विरक्ति, परिग्रह का त्याग, कषायों का दमन, रागद्वेष की शान्ति, यम-नियम, इन्द्रियदमन, सात तत्त्वों का विचार, तपश्चरण में उद्यम, मन की प्रवृत्ति पर नियन्त्रण, जिनवर भगवान् में भक्ति और प्राणियों पर दया भाव, ये सब गुण उसी पुण्यात्मा जीव के होते हैं। जिसके कि संसार रूपी समुद्र का किनारा निकट आ चुका है।'[1]

तत्त्वविचारसार में ध्याता के स्वरूप का इस प्रकार निर्देश किया है – 'जो व्रतिवर आहार, आसन, निद्रा तथा पाँच इन्द्रियों, बाईस परीषहों, क्रोधादि कषायों का जीतने वाला, परिग्रह से रहित, निर्मोही अर्थात् विपरीत अभिप्राय से रहित, इन्द्रिय व्यापार से रहित, जिन सूत्र (शास्त्र) में सुदृढ़, उत्तम संहनन से युक्त, स्थिरचित्त हो ऐसा ध्याता पुरुष होता है।'[2]

श्रीमद्भगवद् गीता में भी भगवान् श्रीकृष्ण ने योगी का स्वरूप निर्देश करते हुए कहा है – 'किसी व्यक्ति को आत्मज्ञान में स्थिर तब कहा जाएगा और वह योगी तब कहलाएगा जबकि वह ज्ञान और विज्ञानपने से पूर्ण रूप से सन्तुष्ट हो जाए। ऐसा व्यक्ति आत्मज्ञान में स्थिर होता है और आत्मसंयमी होता है। वह हर चीज को चाहे पत्थर हो या सोना हो बराबर दृष्टि से देखता है।'[3]

योग में इन्द्रियों का संयम करना अनिवार्य है और जब सब इन्द्रियाँ संयम में आ जाती हैं तो मन को भगवान् परमात्मा के स्मरण में लगाना होता है। इससे वह सांसारिक जीवन पर विजय पा कर शान्तमय हो जाता है।

आगे योगी के समत्वभाव का वर्णन करते हुए कहा है – 'जिसने मन पर विजय पा ली है वह परमात्मा तक पहुँच चुका है और शान्ति पा ली है। ऐसे व्यक्ति के लिए सुख और दुःख, गर्मी और सर्दी, मान और अपमान सब बराबर हैं।'[4]

आचार्य कुन्दकुन्द ने भी प्रवचनसार में साधु (श्रमण) के लक्षण का निर्देश करते हुए इसी भाव को व्यक्त किया है –

समसत्तुबंधुवग्गो समसुहदुक्खो पसंसणिंदसमो।
समलोट्ठकंचणो पुण जीविदमरणे समो समणो ॥[5]

अर्थात् जिसे शत्रु और मित्रों का समूह एक समान हो, प्रशंसा और निन्दा एक समान हो, पत्थर के ढेले और सुवर्ण एक समान हो तथा जो जीवन और मरण में समभाव वाला हो वह श्रमण अर्थात् साधु है।

1. आत्मानुशासन, 224.
2. तत्त्वविचारसार, गाथा 286-7.
3. श्रीमद्भगवद्गीता, 6/8.
4. श्रीमद्भगवद्गीता, 6/7.
5. प्रवचनसार, 3/41.

साधु को चाहिए कि वह आध्यात्मिक विकास के लिए पर-पदार्थों से ममत्व बुद्धि हटाकर अपने निजत्व के प्रति दृष्टि रखे। 'जो पदार्थ और व्यक्ति हमें किसी भी प्रकार प्रलोभित करते हैं, उनके प्रति एक नया दृष्टिकोण बनाना होगा। यह तब तक आवश्यक है, जब तक उनसे हम निर्लिप्त नहीं हो जाते। हमें अपने मन की गतिविधियों पर कड़ी निगरानी रखनी होगी, जिससे हम अधिक-से-अधिक जागरूक और प्रत्येक बात में निश्चिंत हो सकें। जब तक हम जागते हैं, उस बीच मन में किसी भी प्रकार का अचेतन स्फुरण न हो ऐसा कोई विचार न हो, जो हमारे अनजान में उठ जाए। यह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात है क्योंकि साधना की प्रारम्भिक अवस्था में, जो कि अनेकानेक वर्षों तक बनी रह सकती है। साधना प्रारम्भ करने से पूर्व की अवस्था की तुलना में देह-बोध अधिक प्रबल और मन अधिक चंचल हो जाता है। साथ ही यदि हम अपने राग और द्वेष के विषयों से भौतिक एवं मानसिक रूप से सतर्कतापूर्वक बचने की कोशिश न करें, तो ये रागद्वेष बड़े प्रबल और घातक हो जाते हैं।'[1]

'सच्चे त्याग और वैराग्य के बिना साधना सफलतापूर्वक नहीं की जा सकती। जिस अनुपात में हम अपनी कामनाओं का त्याग कर सकते हैं, और दूसरों के प्रति रागद्वेष को मिटा सकते हैं, उसी अनुपात पर साधना की सफलता और प्रगति निर्भर करती है। इस सम्बन्ध में हम कभी अपने आपको मन के द्वारा छलने न दें। हम अमुक व्यक्ति अथवा विषय को क्यों त्याग नहीं सकते इसके लिए मन सदा ही कोई-न-कोई युक्ति संगत कारण प्रस्तुत करने को तैयार रहता है, वह अवचेतन अथवा अर्धचेतन वासनाओं का प्रवक्ता बनने के लिए सदैव तत्पर रहता है। अतः हमें न केवल जप-ध्यान, प्रार्थना तथा अन्य साधनाओं की आवश्यकता है, अपितु त्याग और वैराग्य की भी। और जिस परिमाण में हम सच्चा त्याग और वैराग्य प्राप्त करने में सफल होंगे, उसी परिमाण में हमारे प्रयत्नों का सच्चा और उल्लेखनीय प्रभाव पड़ेगा।'[2]

'जिन वस्तुओं या व्यक्तियों से हम उत्कटता से प्रेम करते हैं, वे हमारे मन को प्रभावित करते हैं और उसमें राग-द्वेष और घृणा उत्पन्न कर देते हैं। राग और द्वेष एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। वे एक ही श्रेणी के अन्तर्गत आते हैं। अतएव हमें वैराग्यवान् बनकर तथा व्यक्तिगत रुचियों और अरुचियों को त्यागकर सब प्रकार की आसक्ति और भय से छुटकारा पा लेना चाहिए। हम दयालु हों, पर अधिक व्यक्तिगत सम्पर्क से बचें। न तो हमारा किसी पर कोई व्यक्तिगत या स्वार्थगत अधिकार हो, न हम किसी को अपने ऊपर या अपने स्नेह पर व्यक्तिगत अधिकार जताने दें। जब तक हम क्षुद्र राग और द्वेष, रुचि और अरुचि के बीज बोएंगे, जब तक हम स्वयं तथा दूसरों को तथाकथित प्रेम की बेड़ियों में जकड़े रहेंगे, तब तक हम क्रीतदास ही बने रहेंगे और अपने एवं दूसरों को कष्ट ही देते रहेंगे।'[3]

1. धर्म जीवन तथा साधना, पृ. 31. 2. धर्म जीवन तथा साधना, पृ. 31-2
3. वही, पृ. 32.

'साधकों को आध्यात्मिक जीवन का एक रहस्य जान लेना चाहिए - हममें से प्रत्येक में राग और द्वेष दोनों हैं। यह सम्भव नहीं कि इनसे हम एकदम छुटकारा पा लें। इसलिए हमें अपने प्रेम को प्रयत्नपूर्वक परमेश्वर की ओर मोड़ना चाहिए, किसी व्यक्ति या वस्तु की ओर नहीं। इसी प्रकार हम अपने द्वेष को उन सभी वस्तुओं की ओर मोड़ें, जो हमारे अपने स्वरूप के बोध में तथा हमारी आध्यात्मिक प्रगति में बाधक होती हैं।'

श्रीपद्मसिंह मुनि ने अपने 'ज्ञानसार' में योगी का स्वरूप इस प्रकार लिखा है -

''कन्दर्प (काम व कामवासना) और दर्प (अभिमान, अहंकार) का जिसने दलन किया है, दम्भ से जो रहित है, जो काया के व्यापार से रहित है, जिसका शरीर उग्र तप से दीप्त हो रहा है, उसी को परमार्थ से योगी जानना चाहिए।''[1]

'योग से काया में, मन में, प्राण में, सबमें दीप्ति होती है, मगर इस योग में तीन बड़े विघ्न हैं, - 1. कामोद्वेग, 2. अहंकार और 3. माया यानी कपट व दम्भ। ध्यान की एकाग्र क्रिया जब होने लगती है तो उससे मानव के सब स्तरों के आवरण टूटने लगते हैं। उनकी जड़ हुई शक्ति खुलने लगती है। शक्ति का यह जागरण ध्यान का फल है। इसी शक्ति जागरण को ध्यानी यदि सही समझ पाता है और जाग्रत कामशक्ति को निग्रह करके अपव्यय नहीं करता है, तब ही वह आगे उन्नति करता है। योगी से भूल कहाँ होती है ? सबसे नीचे का स्तर मानव में काम स्तर है, यह बहुत स्थूल भी है और बहुत सूक्ष्म भी है। स्थूल दशा में यह अब्रह्म यानी कामसेवन अर्थात् विषय-लम्पटता के भावों को भी उग्र करता है, विपरीत लिंग का आकर्षण तीव्र हो जाता है, स्त्री का पुरुष को और पुरुष का स्त्री को यौन आकर्षण का भाव होता है। इस स्थूलता से ध्यानी साधक जब बिना बलात् (दमन) सहज रूप में, ज्ञान भाव से उबर जाता है तो वह कामशक्ति ही उसके लिए ऐसी प्राणिक शक्ति बन जाती है, जो उसे अन्य उच्च स्तरों के खोलने व प्रकाशित करने में सहायक होती है। सूक्ष्म अवस्था में यह काम ही कामना, आशा, तृष्णा आदि का स्वरूप है तथा इन सबके मूल में होता है मानव की अज्ञानदशा। यह अज्ञान ही अनादि का अन्धकार है जो जीवात्मा में अन्त:प्रकाश को आवृत रखता है। यह अज्ञान प्रकट रहता है राग और मोह से। राग और मोह जीवन को सदा से विभ्रम में रखते आए हैं। ये ही जीव की भूल व मूर्छा के कारण हैं। ये जीव में सूक्ष्म रूप में रहते हैं और आगे उच्च ध्यान अवस्थाओं में पहुँचने पर ही ये राग व मोह कटते हैं। इनके नष्ट होने पर ही साधक सिद्ध योगी हो जाता है। बलात् दमन परवर्सिटीज को, ग्रन्थियों को पैदा करता है अत: लक्ष्य ग्रन्थि विमोचन है, न कि ग्रन्थियाँ बनाना। तब ही निर्ग्रन्थ होते हैं।'[2]

1. ज्ञानसार, 4.
2. योगानुशीलन, पृ. 25-6.

'यह निर्ग्रन्थ अवस्था काम, क्रोध और मोह रूप सूक्ष्म विकारों पर ज्ञान द्वारा विजय प्राप्त करके ही संभव होती है। समस्त दु:खों के हेतु काम से ही और काम के सूक्ष्म रूप राग और मोह से ही उत्पन्न होते हैं। योगीजन इसीलिए दो ग्रन्थियों का उल्लंघन बड़ा दुर्लभ मानते हैं - कंचन और कामिनी। कंचन वस्तु या पदार्थनिष्ठ मूर्च्छना है तथा कामिनी पर-जीवनिष्ठ मूर्च्छना। जिनेश्वर हो चाहे बुद्ध हो, चाहे शिव हो, इन सबको काम विजेता माना गया है। कामजय योगी की सुदृढ योगभूमि है। राग व मोह का जय ही अहं का अहंकार का, अभिमान का द्वेष राग का ही दूसरा बाजू है। दम्भी मानव में भी राग भाव की ही क्रीड़ा रहती है, उसमें राग की प्रधानता है और साथ ही वह कायर भी होता है। अत: वह माया से, छल से, कपट से, काम लेता है। ऐसा करके वह अपने लक्ष्य पर नहीं पहुँच सकता, न स्थिर ही रह सकता है।'[1]

ध्यान की पात्रता व अपात्रता -

ध्यान, योग का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंग है। उसके लिए कौन पात्र है और कौन अपात्र है यह विषय बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। जिन-जिन आचार्यों ने ध्यान का विवेचन किया है, उन्होंने इस सम्बन्ध में भी विचार किया है।

आचार्य शुभचन्द्र ने ज्ञानार्णव में अनेक स्थानों पर इस सम्बन्ध में चर्चा की है। ध्यान प्रकरण में तो इसकी विवेचना हुई ही है अन्यान्य स्थानों पर भी इसे चर्चित किया गया है। ध्यान के अनुरूप भूमिका प्राप्त करने हेतु एक साधक को किन-किन स्थितियों से बचते रहना चाहिए इस पर ग्रन्थकार ने विशद विश्लेषण किया है।

'जिस योगी के जो कर्म में है वह वचन में नहीं और जो वचन में है वह चित्त में नहीं। अर्थात् जो करता कुछ है, बोलता कुछ और सोचता कुछ है वह पुरुष ध्यान की स्थिति को कैसे प्राप्त कर सकता है।'[2]

इसी विषय में वे आगे लिखते हैं - 'कीर्ति, यश तथा अभिमान से जो पीड़ित हैं, लोगों में हमारी अत्यधिक मान्यता बढ़े, ऐसी आकांक्षा में जो अनुरक्त हैं, जिसके ज्ञान रूपी नेत्र विलुप्त हो गए हैं, जो अज्ञानान्ध हैं, उसमें ध्यान की योग्यता नहीं होती। जिसकी बुद्धि में तत्त्वों के विषय में संदेह बना रहता है, जिसे काम और अर्थ की लालसा है, जो औरों के सिद्धान्तों से विप्रलब्ध या दिग्भ्रान्त है वह कैसे ध्यान कर सकता है।'[3]

ग्रन्थकार ने पाँच विकारोत्पादक भावनाओं का उल्लेख किया है, जिससे एक ध्यान योगी को बचे रहना चाहिए। उन्होंने बडे प्रेरक शब्दों में इसे अवगत कराया है -

1. योगानुशीलन, पृ. 26.
2. ज्ञानार्णव, 4/32.
3. ज्ञानार्णव, 4/35, 38.

'कान्दर्पी आदि रागरंजित पाँच विकारोत्तेजक भावनाओं ने जिनके हृदय में डेरा डाल दिया हो वे वस्तु तत्त्व का निश्चय कैसे कर सकते हैं। वैसे व्यक्ति अपने को साधना के योग्य नहीं बना पाते।'[1]

वे पाँच भावनाएँ इस प्रकार हैं - 1. कान्दर्पी - कन्दर्प या काम भोग सम्बन्धी चेष्टायुक्त, 2. कैल्विषी - किल्विष क्लेश या पापोत्पादक, 3. आभियोगिकी - अभियोग, युद्ध, कलह, संघर्षसम्बन्धी, आसुरी - असुर या राक्षस की तरह सब कुछ खा-पी लेने की कुत्सित वृत्ति से युक्त और सम्मोहिनी - कौटुम्बिक या पारिवारिक मोह में ग्रस्त, ये भावनाएँ मन में विकार जगाती हैं, योगमार्ग से भ्रष्ट करती हैं। योगी को चाहिए कि वह इनका परित्याग कर दे।

आचार्य शुभचन्द्र ने अध्यात्म योग की साधना के सन्दर्भ में इस बात पर बहुत जोर दिया कि गृहस्थ जीवन में यह सम्यक् सिद्धि नहीं हो पाती। उन्होंने कहा है -

'अनेक कष्टों से परिपूर्ण अत्यन्त निन्दनीय, गृहवास में प्रज्ञाशील पुरुष भी प्रमाद का जय नहीं कर सकते। गृही पुरुषों द्वारा चंचल मन को वश में किया जाना शक्य नहीं है। अतएव चैतसिक शान्ति के लिए सत्पुरुषों ने गृहपरित्याग ही किया है।'[2] इस विषय का और विस्तार करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है -

'सुन्दरियों के नयन रूपी चँवरों से संकटापन्न गृहस्थाश्रम में सैकड़ों प्रकार के द्वन्द्वों से दुःखित चित्त, धन, सम्पत्ति आदि की दुराशा-दूषित लालसा रूपी ग्रह से पीड़ित मनुष्य आत्मकल्याण सिद्ध नहीं कर सकते।

जो निरन्तर आर्त्तध्यान की अग्नि से जलता रहता है, कलुषित वासनाओं के अन्धकार से जहाँ नेत्र दृष्टि आच्छन्न रहती है, ऐसे गृहावास से व्यक्ति अनेक चिन्ताओं के ज्वर से ग्रस्त रहते हैं, उनका आत्महित - परमश्रेयस् सिद्ध नहीं होता।

जिनकी बुद्धि, गृहवास के विपत्ति रूपी घोर कर्दम में निमग्न हैं, प्रगाढ़ रागमय ज्वर के बन्धन से जो उत्पीड़ित हैं, परिग्रह रूप सर्प के विष की ज्वाला से जो संमूर्च्छित हैं, वे विवेकमय साधना पथ पर चलते हुए स्खलित - च्युत हो जाते हैं।'[3]

आचार्य शुभचन्द्र अपने विचारों के शिखरों पर कलशारोहण करते हुए लिखते हैं कि - 'आकाश में कदाचित् पुष्प लग सकते हैं, गर्दभ के कदाचित् शृंग हो सकते हैं किन्तु गृहस्थाश्रम में किसी भी समय में किसी भी स्थान पर ध्यान की सिद्धि नहीं हो सकती।'[4]

इस सन्दर्भ पर टिप्पणी करते हुए साध्वी दर्शनलता ने लिखा है -

1. वही, 4/40.
2. ज्ञानार्णव, 4/9-10.
3. वही, 4/11-3.
4. वही, 4/17.

''आचार्य शुभचन्द्र द्वारा ध्यान की अपात्रता के किये गए वर्णन में गृहवासियों को ध्यान का अपात्र बताया है। यह विषय विशेषत: विचारणीय एवं समीक्षणीय है। एक ओर जैनधर्म में श्रमण धर्म और श्रमणोपासक धर्म के रूप में सर्वस्व त्यागी साधुओं और सीमित व्रतपालक श्रमणोपासकों की धर्म साधना एक साथ चलती दृष्टिगोचर होती है, वहाँ एक महान् विद्वान् तथा योगनिष्ठ आचार्य द्वारा गृहस्थ को अध्यात्म योग और ध्यान साधना के लिए अधिकारी या पात्र न माना जाना सहसा कुछ विस्मय उत्पन्न करता है।

आचार्य शुभचन्द्र तो अपने युग के जैनधर्म के महान् स्तम्भ थे। न केवल वे उच्चकोटि के शब्दशिल्पी ही थे, वे बहुत बड़े आत्मशिल्पी भी थे। उन्होंने योग के सिद्धान्तों को जीवन में उतारा था, अनुभव किया था। यह देखा था कि कौन-से मनोज्ञ और अमनोज्ञ विघ्न साधक के जीवन में आते हैं। अमनोज्ञ कठोर, कष्टप्रद विघ्नों को टालने में उतना जोर नहीं पड़ता जितना मनोज्ञ तथा प्रिय विघ्नों को टालने में अध्यवसाय करना पड़ता है। उन प्रिय विघ्नों का सम्बन्ध माता-पिता, बन्धु-भगिनी, पत्नी-पुत्र, आदि से है। उनमें भी पत्नी का स्थान मोहात्मकता की दृष्टि से बड़ा दुर्लंघ्य है। एक सुखी सम्पन्न घर में जहाँ अभावमूलक कष्ट नहीं होते, सब सुविधाएँ होती हैं, वहाँ ये राग-मोहात्मक विघ्न कई गुने अधिक होते हैं। वहाँ पारिवारिक सम्बन्धों की प्रगाढ़ता बहुत बढ़ जाती है। परिवार तो अनेक इकाइयों की समष्टि है, जिसमें पितामह, प्रपितामह से लेकर पौत्र, प्रपौत्र तक का समवाय आ जाता है। एक बूढ़ा प्रपितामह भी जो मौत के कगार पर पहुँचा होता है, अपने प्रपौत्र और प्रपौत्रियों के सुख-दु:ख की चिंता से विमुक्त नहीं होता। मिथिलाधिपति महाराज जनक जैसे लाखों, करोड़ों में कोई विरले ही उदाहरण होते हैं, जहाँ सुख-सम्पत्ति और वैभव-विलास के बीच रहता हुआ भी व्यक्ति जल-कमलवत् निर्लेप रह सकता हो। यही कारण है कि आचार्य शुभचन्द्र ने बहुत ही स्पष्ट शब्दों में साधना की दृष्टि से गृहस्थाश्रम की आलोचना उपर्युक्त शब्दों में की है।''[1]

आचार्य शुभचन्द्र ने ध्यान की पराकाष्ठा को मुक्ति में साक्षात् श्रेयस्कर मानकर आध्यात्मिक ध्यान की साधना पर जोर दिया है। और ऐसा इसलिए कि आध्यात्मिक ध्यान ही कर्म बन्धन से छुटकारा देता है। आचार्य शुभचन्द्र ने इसीलिए गृहवासियों को इस ध्यान के लिए अपात्र ठहराया है। क्योंकि साधन के अनुसार ही साध्य की सिद्धि होती है और उस साध्य तक पहुँचने के लिए गृहावस्था में वह साधन और वह एकाग्रता बन ही नहीं सकती। किसी सांसारिक सिद्धि जैसे रावण की बहुरूपिणी विद्या की सिद्धि हेतु अपने स्वजनों की दुर्दान्त दशा होते हुए भी रावण विचलित नहीं हुआ था। यह एक अलग प्रसंग हो सकता है किन्तु आत्मा से परमात्मा बनने के लिए जो ध्यान आवश्यक है वह श्रामण्य के बिना कदाचित् भी सम्भव नहीं है। क्योंकि वह भूमिका अन्य दशा में संभाव्य ही नहीं है। हाँ इसे हम सामान्य एवं विशेष ध्यान के अनुसार विभाजित अवश्य कर सकते हैं।

1. ज्ञानार्णव: एक समीक्षात्मक अध्ययन, पृ. 143.

गृहस्थ के सामान्य ध्यान हो सकता है किन्तु विशेष आध्यात्मिक ध्यान सर्वथा गृहस्थ के असंभाव्य है।

इसीलिए एक महान आध्यात्मिक दर्शनवेत्ता आचार्य शुभचन्द्र ने ज्ञानार्णव जैसे महान् ध्यान के ग्रन्थ में ध्यान की पराकाष्ठा पर पहुँच कर मुक्ति के सोपान स्वरूप ध्यान को निरूपित कर गृहस्थ को सर्वथा ध्यान के अपात्र कहा है। यह ध्यान की श्रेणी पर आधारित तथ्य के अनुसार है।

वास्तव में ध्यान वही है जो आत्मा की सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि को सहज ही पा लेता है वह ध्यान ही आत्मध्यान है जिसकी साधना श्रमण के ही संभव है। बल्कि श्रमण भी यदि उस ध्यान से विचलित होता है तो वह भी उसे प्राप्त नहीं कर सकते नकुल, सहदेववत् युधिष्ठिर, भीम व अर्जुन ने उस ध्यान से मुक्ति का वरण किया किन्तु नकुल व सहदेव किञ्चित् ध्यान से विचलित हुए और मुक्ति से वंचित हो गए तैंतीस सागर तक के लिए। अत: आचार्य शुभचन्द्र का चिन्तन उन अतल गहराइयों से परिपूर्ण है जो अध्यात्म की शलाका को स्पर्शित करता है।

ध्येय विषयक विचार-विमर्श -

ध्यान के सन्दर्भ में यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है कि ध्यान किसका किया जाए ? दूसरे शब्दों में ध्येय या ध्यान का आलम्बन क्या हो ? सामान्य दृष्टि से विचार करने पर तो किसी भी वस्तु या विषय को ध्येय/ध्यान के आलम्बन के रूप में स्वीकार किया जा सकता है, क्योंकि सभी वस्तुओं या विषयों में कम-अधिक रूप से ध्यानाकर्षण की क्षमता तो होती ही है। चाहे संसार के सभी विषय ध्यान के आलम्बन होने की पात्रता रखते हों, किन्तु उन सभी को ध्यान का आलम्बन नहीं बनाया जा सकता है। व्यक्ति के प्रयोजन के आधार पर ही उनमें से कोई एक विषय ही ध्यान का आलम्बन बनता है। अत: ध्यान के आलम्बन का निर्धारण करते समय यह विचार करना आवश्यक होता है कि ध्यान का उद्देश्य या प्रयोजन क्या है ? दूसरे शब्दों में ध्यान हम किसलिए करना चाहते हैं ? इसका निर्धारण सर्वप्रथम आवश्यक होता है। वैसे तो संसार के सभी विषय चित्त को केन्द्रित करने का सामर्थ्य रखते हैं, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि बिना किसी पूर्व विचार के उन्हें ध्यान का आलम्बन अथवा ध्येय बनाया जाए। किसी स्त्री का सुन्दर शरीर ध्यानाकर्षक या ध्यान का आलम्बन होने की योग्यता तो रखता है किन्तु जो साधक ध्यान के माध्यम से विक्षोभ या तनावमुक्त होना चाहता है, उसके लिए यह उचित नहीं होगा कि वह स्त्री के सुन्दर शरीर को अपने ध्यान का विषय बनाए। क्योंकि उसे ध्यान का विषय बनाने से उसके मन में उसके प्रति रागात्मकता उत्पन्न होगी, वासना जागेगी और उसे पाने की आकांक्षा या भोग की आकांक्षा से चित्त में विक्षोभ पैदा

होगा। अत: किसी भी वस्तु को ध्यान का आलम्बन बनाने के पूर्व यह विचार करना आवश्यक है कि हमारे ध्यान का प्रयोजन या उद्देश्य क्या है ? जो व्यक्ति अपनी वासनाओं का पोषण चाहता है, वही स्त्री शरीर के सौन्दर्य को अपने ध्यान का आलम्बन बनाता है। किन्तु जो भोग के स्थान पर त्याग और वैराग्य को अपने जीवन का लक्ष्य बनाना चाहता है, जो समाधि का इच्छुक है, उसके लिए स्त्री शरीर की बीभत्सता और विद्रूपता ही ध्यान का आलम्बन होगी। अत: ध्यान के प्रयोजन के आधार पर ही ध्येय का निर्धारण करना होता है। पुन: ध्यान की प्रशस्तता और अप्रशस्तता भी उसके ध्येय या आलम्बन पर आधारित होती है, अत: प्रशस्त ध्यान के साधक अप्रशस्त विषयों को अपने ध्यान का आलम्बन या ध्येय नहीं बनाते हैं।[1]

जैन दार्शनिकों की दृष्टि में प्राथमिक स्तर पर ध्यान के लिए किसी ध्येय या आलम्बन का होना आवश्यक है, क्योंकि बिना आलम्बन के ही चित्त की वृत्तियों को केन्द्रित करना सम्भव नहीं होता है। वे सभी विषय और वस्तुएँ जिनमें व्यक्ति का मन रम जाता है, ध्यान का आलम्बन बनने की योग्यता तो रखती हैं, किन्तु उनमें से किसी एक को अपने ध्यान का आलम्बन बनाते समय व्यक्ति को यह विचार करना होता है कि उससे वह राग की ओर जाएगा या विराग की ओर, उसके चित्त में वासना और विक्षोभ जगेंगे या समाधि सधेगी। यदि साधक का उद्देश्य ध्यान के माध्यम से चित्त विक्षोभों को दूर करके समाधि लाभ या समता-भाव को प्राप्त करना है तो उसे प्रशस्त विषयों को ही अपने ध्यान का आलम्बन बनाना होगा। प्रशस्त आलम्बन ही व्यक्ति को प्रशस्त ध्यान की दिशा की ओर ले जाता है।

ध्यान के आलम्बन के प्रशस्त विषयों में परमात्मा या ईश्वर का स्थान सर्वोपरि माना गया है। जैन दार्शनिकों ने भी ध्यान के आलम्बन के रूप में वीतराग परमात्मा को ध्येय के रूप में स्वीकार किया है।[2] चाहे ध्यान पदस्थ हो या पिण्डस्थ, रूपस्थ हो या रूपातीत, ध्येय तो परमात्मा ही है। किन्तु हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि जैनधर्म में आत्मा और परमात्मा भिन्न नहीं हैं। आत्मा की शुद्धदशा ही परमात्मा है।[3] इसलिए जैन दर्शन में ध्याता और ध्येय अभिन्न हैं। साधक आत्मा ध्यान साधना में अपने ही शुद्ध स्वरूप को ध्येय बनाता है। आत्मा, आत्मा के द्वारा आत्मा को ही ध्येय करता है।[4] जिस परमात्मस्वरूप को ध्याता ध्येय के रूप में स्वीकार करता है वह उसका अपना ही शुद्धस्वरूप है। पुन: ध्यान में जो ध्येय बनता है वह वस्तु नहीं, चित्त की वृत्ति होती है। ध्यान में चित्त ही ध्येय का आकार ग्रहण करके हमारे सामने उपस्थित होता है। अत: ध्याता भी चित्त है और ध्येय भी चित्त है। जिसे हम ध्येय कहते हैं, वह हमारा अपना ही निज रूप है,

1. जैन साधना पद्धति में ध्यान, पृ. 21-2.
2. ज्ञानार्णव, 32/95.
3. अप्पा सो परमप्पा,
4. तत्त्वानुशासन, 74.

हमारा अपना ही प्रोजेक्शन है। ध्यान वह कला है, जिसमें ध्याता अपने को ही ध्येय बनाकर स्वयं उसका साक्षी बनता है। हमारी वृत्तियाँ ही हमारे ध्यान का आलम्बन होती हैं और उनके माध्यम से हम अपना ही दर्शन करते हैं।

जैनदर्शन में आत्मभिन्न परमात्मा भी प्राथमिक भूमिका वाले साधक योगी के लिए ध्येय रूप स्वीकार किया जाता है। जैसा कि विषय विवेचन में आचार्य शुभचन्द्र ने कहा है - निर्मल मति के धारक तीर्थंकर, गणधर आदि ने जो वस्तु उत्पाद आदि रूप लक्षण से सहित है उसे ध्येय (ध्यान के योग्य) बतलाया है।[1]

वह वस्तु चेतन (जीव) और अचेतन (पुद्गल आदि पाँच द्रव्य) के भेद से दो प्रकार की है। उसमें चेतन अमूर्त (रूप, रस, गन्ध व स्पर्श से रहित), परन्तु अचेतन क्रम से मूर्त और अमूर्त भी है। अर्थात् पुद्गल द्रव्य मूर्त और शेष धर्म, अधर्म, आकाश और काल अमूर्त हैं। जिसने शुद्ध ध्यान अर्थात् निर्मल शुक्लध्यान के द्वारा कर्म रूप कवच को नष्ट कर दिया है तथा जो समस्त पदार्थों का ज्ञाता दृष्टा है वह मुक्ति के द्वारा वरण किया जाने वाला देव (आप्त) माना गया है। जो चार घातिया कर्मों को नष्ट करके अनन्त चतुष्टय को प्राप्त कर चुका है वह सकल (शरीरसहित) परमात्मा तथा जो आठों ही कर्मों को नष्ट करके आठ गुणों को प्राप्त कर चुका है वह निकल (शरीर से रहित) परमात्मा है। वह भगवान् परमात्मा स्व-पर का कल्याण करने वाला है।

बुद्धिमान् मुनियों को धर्मध्यान में चेतन और अचेतन लक्षणों से चिह्नित इन जीवादि पदार्थों का अपने-अपने स्वरूप के अनुसार ध्यान करना चाहिए।

आत्मा भाव द्रव्य है। उस द्रव्य की लहरें सदा ही उल्लसित रहती हैं। कोई क्षण भावरहित नहीं होता। यह अलग बात है कि उसका भावित होना विभाव रूप से हो या स्वभाव रूप से, मगर स्वयं उसका कभी अभाव नहीं होता है। अभाव होता है, मात्र आगन्तुक व संयोगी पर-पदार्थ व परभावों का ही और तभी उसका स्वभाव भी चमक उठता है। भाव का होना ही गुण है, शक्ति है और इसकी ही अभिव्यक्ति है। यह आत्मा वर्तमान में जैसा भी गुण रूप से है अर्थात् जिधर व जैसा रहती है। अभिव्यक्ति प्रवाह है- जिधर भी मोड़ो मोड़ दो। अत: ज्ञानी प्रकृत रूप से विभाव की तरफ बहने वाली अभिव्यक्ति को स्वभाव - ज्ञान की तरफ ही मोड़ते हैं।

अत: उत्कृष्ट परम निर्मल अर्हत्-तीर्थंकर पुरुष-सम निर्मल आत्मा ही ध्येय है और उसका भाव ही अर्चनीय है। शुद्ध ज्ञायक व ज्ञान भाव ही अत: ध्येय भाव है।

ध्यान में भाने योग्य कुछ भावनाएँ -

जैन ध्यान-योग परम्परा में ध्यान के पूर्व एवं ध्यान के पश्चात् अवशिष्ट काल में

1. ज्ञानार्णव, 28/17.

ध्याता की विचार सरणी पर भी दृष्टिपात् किया गया है। उसमें उसकी अपनी भावनाओं का प्रभाव ध्यान की एकाग्रता एवं स्थिरता पर होता है। इसलिए लगभग प्रत्येक जैनाचार्य ने ध्यान एवं व्रतों के अनुपालन के लिए निरन्तर भावनाओं का विधान किया है। जिन्हें निम्नत: देखा जा सकता है -

1. ऊर्ध्व, मध्य और अध: इन तीनों लोकों में, मेरा कोई भी नहीं है, मैं एकाकी आत्मा हूँ। ऐसी भावना करने से योगी शाश्वत स्थान को प्राप्त करता है।[1]

2. मैं अशरणरूप, अशुभरूप, अनित्य, दु:खमय और पररूप संसार में निवास करता हूँ और मोक्ष इससे विपरीत है, इस प्रकार सामायिक में ध्यान करना चाहिए।[2]

3. मैं एक हूँ, निर्मम हूँ, शुद्ध हूँ, ज्ञानी हूँ, ज्ञानी-योगीन्द्रों के ज्ञान का विषय हूँ। इनके सिवाय जितने भी स्त्री, धन आदि संयोगी भाव हैं वे सब मुझसे सर्वथा भिन्न हैं।[3]

4. मैं निश्चय से सदा एक, शुद्ध, दर्शन-ज्ञानात्मक और अरूपी हूँ। मेरा परमाणुमात्र भी अन्य कुछ नहीं है। मैं न पर-पदार्थों का हूँ और न पर-पदार्थ मेरे हैं, मैं तो ज्ञान स्वरूप अकेला ही हूँ।[4]

5. न मैं देह हूँ, न मन हूँ, न वाणी हूँ और न उनका कारण ही हूँ।[5]

6. न मैं पर-पदार्थों का हूँ और न पर-पदार्थ मेरे हैं। यहाँ मेरा कुछ भी नहीं है।[6]

7. जो केवलज्ञान व केवलदर्शन स्वभाव से युक्त, सुखस्वरूप और केवल वीर्य स्वभाव है वही मैं हूँ, इस प्रकार ज्ञानी जीव को विचार करना चाहिए।[7]

8. मैंने अपने ही विभ्रम से उत्पन्न हुए रागादिक अतुल बन्धनों से बंधे हुए अनन्त काल पर्यन्त संसार रूप दुर्गम मार्ग में बिडम्बना रूप होकर विपरीताचरण किया।[8]

9. यद्यपि मेरा आत्मा परमात्मा है, परं ज्योति है, जगत्श्रेष्ठ है, महान है, तो भी वर्तमान देखने मात्र को रमणीक और अन्त में नीरस ऐसे इन्द्रियों के विषयों से ठगाया गया हूँ।[9]

10. अनन्त चतुष्टयादि गुण समूह मेरे तो शक्ति की अपेक्षा विद्यमान हैं और अर्हत-सिद्धों में वे ही व्यक्त हैं। इतना ही हम दोनों में भेद है।[10]

---

1. मोक्षपाहुड, 8.
2. रत्नकरण्डश्रावकाचार, 104.
3. इष्टोपदेश, 27.
4. समयसार, 38.
5. प्रवचनसार, 2/68.
6. तिलोयपण्णत्ती, 9/34.
7. वही, 9/46.
8. ज्ञानार्णव, 31/2.
9. वही, 31/8.
10. वही, 31/10.

11. न तो मैं नारकी हूँ, न तिर्यञ्च हूँ और न मनुष्य या देव ही हूँ। किन्तु सिद्ध स्वरूप हूँ। ये सब अवस्थाएँ तो कर्मविपाक से उत्पन्न हुई हैं।[1]

12. मैं अनन्तवीर्य, अनन्तविज्ञान, अनन्तदर्शन व अनन्त आनन्द स्वरूप हूँ। इस कारण क्या विषवृक्ष के समान इन कर्मशत्रुओं को जड़मूल से न उखाड़ूँ।[2]

13. बन्ध का विनाश करने के लिए विशेष भावना कहते हैं - मैं तो सहजशुद्ध ज्ञानानन्द स्वभावी हूँ, निर्विकल्प तथा उदासीन हूँ, निरञ्जन निज शुद्ध आत्मा के सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान व अनुष्ठानरूप निश्चय रत्नत्रयात्मक निर्विकल्प समाधि से उत्पन्न वीतराग सहजानन्द रूप सुखानुभूति ही है लक्षण जिसका ऐसे स्वसंवेदनज्ञान के गम्य हूँ। भरितावस्थावत् परिपूर्ण हूँ। रागद्वेष मोह, क्रोध, मान, माया व लोभ से तथा पंचेन्द्रियों के विषयों से, मन, वचन व काय के व्यापार से तथा भावकर्म, द्रव्यकर्म और नोकर्म से रहित हूँ। ख्याति-पूजा-लाभ से देखे, सुने व अनुभव किये हुए भोगों की आकांक्षा रूप निदान तथा माया, मिथ्या इन तीन शल्यों को आदि लेकर सर्व विभाव परिणामों से रहित हूँ।[3]

14. वीतराग भाव से युक्त होता हुआ योगी जो कुछ भी चिन्तवन करता है वही ध्यान है, इससे अन्य परम्परा से आगत ग्रन्थ का विस्तारमात्र है।[4]

ध्यान के भेद-प्रभेद -

मूलाचार आदि अनेक प्राचीन ग्रन्थों में ध्यान के सामान्य से ये चार भेद उपलब्ध होते हैं - आर्त्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल। इनमें प्रथम दो को संसार का कारण होने से अप्रशस्त और अन्तिम दो को परम्परया अथवा साक्षात् मुक्ति का कारण होने से प्रशस्त कहा गया है।[5]

ध्यान के पूर्वोक्त आर्त आदि चार भेदों में से प्रत्येक के भी पृथक्-पृथक् वहाँ चार भेदों का निर्देश किया गया है। षट्खण्डागम की आचार्य वीरसेन द्वारा विरचित धवला टीका में यह एक विशेषता देखी जाती है कि वहाँ ध्यान के धर्म और शुक्ल इन दो भेदों का ही निर्देश किया गया है। आर्त्त और रौद्र इन दो भेदों को वहाँ सम्मिलित नहीं किया गया है।[6] सम्भव है वहाँ तप का प्रकरण होने से आर्त्त व रौद्र इन अप्रशस्त ध्यानों की परिगणना नहीं की गई हो। किन्तु तप का प्रकरण होने पर भी मूलाचार, तत्त्वार्थसूत्र और औपपातिकसूत्र में उपर्युक्त आर्त्त और रौद्र को सम्मिलित कर ध्यान के पूर्वोक्त चार भेदों का ही उल्लेख किया गया है। हाँ, आचार्य हेमचन्द्र विरचित योगशास्त्र में अवश्य धवला के ही समान ध्यान के दो भेद निर्दिष्ट किये गए हैं - धर्म और शुक्ल।

1. वही, 31/12. 2. ज्ञानार्णव, 31/13.
3. समयसार, तात्पर्यवृत्ति, गाथा 365. 4. ध्यानोपदेशकोष, 85.
5. मूलाचार, 5/197. तत्त्वार्थसूत्र, 9/28. ध्यानशतक, 5. आदि
6. धवला, पु. 13, पृ. 70.

स्वयं वीरसेनाचार्य के शिष्य आचार्य जिनसेन ने भी सामान्य से ध्यान के प्रशस्त और अप्रशस्त इन दो भेदों का निर्देश करके उनमें अप्रशस्त को आर्त्त और रौद्र के भेद से दो प्रकार तथा प्रशस्त को धर्म और शुक्ल के भेद से दो प्रकार बतलाया है।[1] इस प्रकार वहाँ ध्यान के उपर्युक्त चार भेदों का ही निर्देश किया गया है। इधर कुछ अर्वाचीन ध्यान साहित्य में ध्यान के पूर्वोक्त चार भेदों के अतिरिक्त पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ये अन्य चार भेद भी उपलब्ध होते हैं। इनका स्रोत कहाँ है तथा वे उत्तरोत्तर किस प्रकार से विकास को प्राप्त हुए हैं, यह विचारणीय है। इन भेदों का निर्देश मूलाचार, भगवती आराधना, तत्त्वार्थसूत्र व उसकी टीकाओं में तथा स्थानांग, समवांग, भगवतीसूत्र, ध्यानशतक, हरिवंशपुराण और आदिपुराण आदि ग्रन्थों में नहीं किया गया है।[2] इन भेदों का उल्लेख हमें आचार्य देवसेन (10 वीं शती) विरचित भावसंग्रह में उपलब्ध होता है।[3] जैसा कि आगे आप देखेंगे इनके नामों का उल्लेख योगीन्दु (सम्भवत: 6ठीं शती) विरचित योगसार में भी किया गया है। इससे पूर्व के अन्य किसी ग्रन्थ में वह हमें देखने में नहीं आया। पद्मसिंह मुनि विरचित ज्ञानसार (वि. 1086) में अरहन्त की प्रधानता से पिण्डस्थ, पदस्थ और रूपस्थ इन तीन की प्ररूपणा धर्मध्यान के प्रसंग में की गई है। वहाँ रूपातीत का निर्देश नहीं किया गया है।[4] इनका कुछ संकेत तत्त्वानुशासन में भी प्राप्त होता है।[5] वहाँ ध्येय के नामादि चार भेदों के प्रसंग में द्रव्य ध्येय के स्वरूप को प्रकट करते हुए कहा गया है कि ध्यान में चूंकि ध्याता के शरीर में स्थित ही ध्येय अर्थ का चिन्तन किया जाता है, इसीलिए कितने ही आचार्य उसे पिण्डस्थ ध्येय कहते हैं। इसके पूर्व वहाँ नाम ध्येय के प्रसंग में जो अनेक मन्त्रों के जपने का विधान किया गया है। उससे पदस्थ ध्यान का संकेत मिलता है। इसी प्रकार स्थापना ध्येय में जिनेन्द्र प्रतिमाओं का तथा द्रव्य-भाव ध्येय के प्रसंग में ज्ञानस्वरूप आत्मा और पाँच परमेष्ठियों के ध्यान का भी जो विधान किया गया है, उससे रूपस्थ और रूपातीत ध्यान भी सूचित होते हैं। यहाँ आर्त्त और रौद्र को दुर्ध्यान कहकर त्याज्य तथा धर्म्य और शुक्ल को समीचीन ध्यान बतलाकर उपादेय कहा गया है।

यहाँ धर्मध्यान के आज्ञा व अपायविचय आदि तथा शुक्ल ध्यान के पृथक्त्ववितर्कसवीचार आदि भेदों का कुछ भी निर्देश नहीं किया गया है। आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव (11 वीं शती) विरचित द्रव्यसंग्रह में ध्यान के आर्त्त आदि किन्हीं भेदों का निर्देश नहीं किया गया है। पर वहाँ परमेष्ठीवाचक अनेक पदों के जपने और पाँच परमेष्ठियों के स्वरूप के विचार करने की जो प्रेरणा की गई है, उससे पूर्वोक्त पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ध्यानों का कुछ संकेत मिलता है। इसके टीकाकार ब्रह्मदेवसूरि (11-12

1. आदिपुराण, 21/27-9.
2. भावसंग्रह, 619-22.
3. ज्ञानसार, 18.
4. तत्त्वानुशासन, 134.
5. द्रव्यसंग्रह, गाथा 48.

वीं शती) ने गाथा 48 की टीका में '**पदस्थं मन्त्रवाक्यस्थं पिण्डस्थं स्वात्मचिन्तनं। रूपस्थं सर्वचिद्रूपं रूपातीतं निरञ्जनम् ॥**' इस श्लोक को उद्धृत करते हुए आर्त्त आदि के साथ इस प्रकार के विचित्र ध्यान की सूचना की है।[1]

आचार्य अमितगति द्वितीय (11 वीं शती) विरचित श्रावकाचार के 15 वें परिच्छेद में ध्यान का वर्णन किया गया है। वहाँ प्रथमतः ध्यान के आर्त्त, रौद्र आदि चार भेदों का विवेचन करते हुए ध्यान के इच्छुक जीव के लिए ध्याता, ध्येय, ध्यान की विधि और ध्यानफल इन चार के जान लेने की प्रेरणा की गई है। तत्पश्चात् उसी क्रम से उनका निरूपण करते हुए वहाँ ध्येय के प्रसंग में पदस्थ, पिण्डस्थ, रूपस्थ और अरूप या रूपातीत इन चार का भी वर्णन किया गया है। यहाँ पदस्थ ध्यान का निर्देश पिण्डस्थ के पूर्व में किया गया है।[2]

आचार्य वसुनन्दी (12 वीं शती) विरचित श्रावकाचार में इनका निरूपण पदस्थ, पिण्डस्थ, रूपस्थ और रूपातीत के क्रम से किया गया है।[3] योगीचन्द्र या योगीन्दुदेव प्रणीत योगसार में इन चारों ध्यानों के नाम मात्र का निर्देश किया गया है। डॉ. उपाध्ये ने योगीन्दु के समय पर विचार करते हुए उनके ईसा की छठी शताब्दी में होने की कल्पना की है। तदनुसार यदि वे छठी शताब्दी के आसपास हुए हैं तो यह कहा जा सकता है कि उक्त पिण्डस्थ आदि ध्यानों का निर्देश सर्वप्रथम उन्हीं के द्वारा किया गया है।[4]

आचार्य हेमचन्द्रसूरि (12-13 वीं शती) विरचित योगशास्त्र में ध्यान के अन्तर्गत आर्त्त और रौद्र इन दो अप्रशस्त ध्यानों का कहीं कोई निर्देश नहीं किया गया। वहां पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत इन चार भेदों की प्ररूपणा क्रम से सातवें, आठवें, नौवें और दसवें इन चार प्रकाशों में की गई है। तदनन्तर इसी दसवें प्रकाश में आज्ञाविचयादि चार भेदों में विभक्त धर्मध्यान का निरूपण करके आगे ग्यारहवें प्रकाश में शुक्लध्यान का विवेचन किया गया है।[5]

भास्करनन्दी (12 वीं शती) विरचित ध्यानस्तव में ध्यानशतक के समान ही प्रथमतः आर्त्त आदि चार भेदों का निर्देश करते हुए उनमें आदि के दो को संसार का और अन्तिम दो को मुक्ति का कारण कहा गया है। आगे उनमें से प्रत्येक के चार-चार भेदों का निरूपण करते हुए पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत के भेद से उक्त समस्त ध्यान को चार प्रकार का कहा गया है। तदनन्तर इन चारों के पृथक्-पृथक् स्वरूप को भी प्रकट किया गया है।[6]

---

1. योगसार, 98.
2. वसुनन्दी श्रावकाचार, 469-74.
3. परमात्मप्रकाश, प्रस्तावना, पृ. 115.
4. योगशास्त्र, 1-4
5. ध्यानस्तव, 5-36.
6. ज्ञानार्णव, 3/28.

आचार्य शुभचन्द्र ने संक्षेप से ध्यान के अशुभ, शुभ और शुद्ध ये तीन ही भेद किए हैं।[1] इसके अलावा आर्त्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल इन चार भेदों को इनमें ही समाविष्ट जानना चाहिए। उल्लेखनीय है कि उन्होंने अपने ज्ञानार्णव में पिण्डस्थादि चार भेदों की प्ररूपणा संस्थानविचय धर्मध्यान के प्रसंग में विस्तृत रूप से की है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि ज्ञानार्णव के कर्त्ता को ये भेद संस्थानविचय धर्मध्यान के अन्तर्गत अभीष्ट रहे हैं। पर उन्होंने इसका कुछ स्पष्ट निर्देश न करते हुए इतना मात्र कहा है कि पिण्डस्थादि के भेद से ध्यान चार प्रकार का कहा गया है।

ध्यानशतक में चतुर्थ (संस्थानविचय) धर्मध्यान का विषय बहुत व्यापक रूप में उपलब्ध होता है। वहाँ इस ध्यान में द्रव्यों के लक्षण, संस्थान, आसन, भेद और प्रमाण के साथ उनकी उत्पाद, स्थिति व व्यय रूप पर्यायों को भी चिन्तनीय कहा गया है।[2] साथ ही वहाँ पंचास्तिकाय स्वरूप लोक के विभागों और उपयोग स्वरूप जीव के संसार व उससे मुक्त होने के उपाय के भी विचार करने की प्रेरणा की गई है।[3] इस प्रकार उक्त संस्थानविचय की व्यापकता को देखते हुए यदि ज्ञानार्णवकार को पूर्वोक्त पिण्डस्थ आदि भेद उसके अन्तर्गत अभीष्ट रहे हैं तो यह संगत ही माना जाएगा। इन सबके अतिरिक्त ध्यान के चौबीस भेदों का भी उल्लेख मिलता है, जिनमें बारह ध्यान क्रमशः ध्यान, शून्य, कला, ज्योति, बिन्दुनाद, तारा, लय, लव, मात्रा, पद और सिद्धि हैं तथा इन ध्यानों के साथ 'परम' पद लगाने से ध्यान के अन्य भेद बनते हैं। उपर्युक्त विवेचन से ज्ञात होता है कि जैनाचार्यों को ध्यान के चार भेद ही अभीष्ट रहे हैं। ध्यान के अन्य भेद ध्यान के इन्हीं भेदों में अन्तर्गर्भित हो जाते हैं।

ध्यान की मनोवैज्ञानिकता -

बहुत-से आधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने ध्यान पर विचार किया है। मैक्डूगल ने कहा है कि - 'ज्ञानात्मक प्रक्रिया के दृष्टिकोण से ध्यान एक ज्ञान अथवा प्रयास है।'[4] उसके अनुसार अवधान या ध्यान को ज्ञान प्राप्त करने हेतु मन की एक चेष्टा कहा जाता सकता है। ध्यान की प्रतिक्रिया सक्रियता का एक चिह्न है।

ध्यान का रुचि से घनिष्ठ सम्बन्ध निरूपित किया गया है, दोनों एक वस्तु को देखने के दो दृष्टिकोण हैं, क्योंकि मानसिक ढाँचों में एक स्वभाव का संगठन करना दोनों में ही आधारभूत है। रुचि गुप्त ध्यान है, जबकि ध्यान रुचि का क्रियात्मक पहलु।

आधुनिक मनोविज्ञान में ध्यान एक क्रिया ही माना गया है, क्योंकि ध्यान देने का तात्पर्य होता है - अपनी क्रिया को केन्द्रित करना। यह तथ्य कि प्रत्येक व्यक्ति

1. ध्यानशतक, 52. 2. वही, 53-60. 3. वही, 61.
4. Outline of Psychology. P. 272.

न्यूनाधिक रूप से ध्यान देता है, प्राणियों के व्यवहार का आधारभूत लक्षण है। जैसा कि किसी ने कहा - एक निर्दिष्ट क्षण में अनेक प्राप्त उत्तेजनाओं के प्रति समान रूप से प्रतिक्रिया करने की अपेक्षा प्राणी कुछ चुनी हुई उत्तेजनाओं के प्रति ही प्रतिक्रिया करता है। एक उत्तेजना या उत्तेजनाओं के एक समूह पर अपना ध्यान केन्द्रित करता है और शेष की लगभग उपेक्षा कर देता है। दूसरे ही क्षण दूसरी उत्तेजना केन्द्र में आ जाती है।

यहाँ ध्यान देने का तात्पर्य है - किसी वस्तु को देखने या किसी कार्य को करने के लिए तत्पर या तैयार होना। यह ध्यान यद्यपि क्षणिक ही होता है किन्तु जब वह एक ही काम में लगा रहता है तब उसमें पायी जाने वाली निरन्तरता का संचार उसे स्थिरता देता है।

अरनेस्ट वूड के विचार योग के सिद्धान्तों से बहुत कुछ मिलते-जुलते हैं। उसके अनुसार जहाँ ध्यान प्रारम्भ होता है, वहाँ धारणा समाप्त हो जाती है।[1] धारणा का उद्देश्य होता है, मानसिक दृश्य के लघु क्षेत्र पर अवधान को केन्द्रित करना, जिससे कि उस विषय पर चैतन्य का प्रकाश अधिक तीव्र हो सके। धारणा में दृश्यक्षेत्र का संकुचन होता है। ध्यान में उसका विस्तार है। धारणा में स्पष्ट दृश्य अवलोकित होता है। ध्यान में उसे अधिक विस्तार, गहराई एवं ऊँचाइयों में वर्द्धित किया जाता है। अत: ध्यान की सफलता में धारणा की सफलता स्वयं निहित है। ध्यानमग्न-व्यक्ति शारीरिक दृष्टि से सुप्त दिखलाई पड़ता है, किन्तु ध्यान और सुषुप्ति में बहुत अन्तर है।

ध्यान आत्मरचना का एक महान् कार्य है। वस्तुत: जो कार्य अनवधान दशा में मन नहीं कर सकता है, वही मन उसी कार्य को अवधान-दशा में सरलता से कर सकता है।

ध्यान मानवमात्र की आवश्यकता नहीं है, अपितु अनिवार्यता है। जिसके बिना वह अपने कार्य का सम्यक् रीति से सम्पादन नहीं कर सकता। प्रत्येक कार्य को ध्यानपूर्वक करने से ही कार्य सुगम और सरल होता हुआ सुफलवान् होने के साथ आनन्ददायी होता है। लोककल्याणकारी एवं जनमंगलकारी कार्यों को निष्पादित करने के लिए शुभ एवं समीचीन ध्यान की अपेक्षा होगी ही। जिसे सम्पन्न करने के लिए आचार्य शुभचन्द्र जो ज्ञानार्णव के रूप में जो योगदान दिया है वह अनुपमेय एवं अतुलनीय है।

1. Concentration : A Practical Course. P. 93.

चतुर्थ अध्याय

ध्यान की सिद्धि में सहायक सामग्री

ध्यान की सहायक साधन सामग्री के रूप में सर्वप्रथम आचार्य श्री शुभचन्द्र देव ने रत्नत्रय की शुद्धता का निर्देश किया है। उन्होंने लिखा है –

''ज्ञानीजनों ने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की शुद्धिपूर्वक ही ध्यान कहा है उक्त रत्नत्रय की शुद्धि के बिना जीवों का ध्यान करना व्यर्थ है क्योंकि उस ध्यान से मोक्ष रूप प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती।''[1]

''जो पुरुष साक्षात् रत्नत्रय को प्राप्त नहीं करके ध्यान करना चाहता है वह मूर्ख आकाश के फूलों से बन्ध्या के पुत्र के लिए सेहरा बनाना चाहता है।''[2]

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि ध्यान के लिए ध्यान से पूर्व की भूमिका की तैयारी में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की विवेचना अनिवार्य है –

1. सम्यग्दर्शन –

सम्यग्दर्शन का शाब्दिक अर्थ – सम्यग्दर्शन सम्यक् और दर्शन इन दो शब्दों से मिलकर निष्पन्न होता है। 'सम्यक्' शब्द अव्युत्पन्न है अर्थात् रौढिक है अथवा व्युत्पन्न अर्थात् व्याकरणसिद्ध भी है। 'सम्' उपसर्ग पूर्वक 'अञ्चु' धातु से क्विप् प्रत्यय करने पर 'सम्यक्' शब्द बनता है। संस्कृत में इसकी व्युत्पत्ति 'समञ्चति इति सम्यक्' इस प्रकार मानी जाती है। जिसका अर्थ है प्रशंसा।[3] यह प्रशस्त रूप गति, जाति, आयु, विज्ञानादि अभ्युदय और नि:श्रेयस का प्रधान कारण होता है।

'सम्यगिष्टार्थतत्त्वयो:' इस प्रमाण के अनुसार सम्यक् शब्द का प्रयोग इष्टार्थ और तत्त्व अर्थ में होता है। अत: इसका प्रशंसार्थ उचित नहीं है, इस शंका का समाधान यह है कि निपात शब्दों के अनेक अर्थ होते हैं। अथवा 'सम्यक्' का अर्थ तत्त्व भी किया जा सकता है। अथवा यह क्विप् प्रत्ययान्त शब्द है। इसका अर्थ है जो पदार्थ जैसा है उसे वैसा ही जानने वाला।[4]

दर्शन शब्द का अर्थ – दर्शन शब्द दृशि धातु से ल्युट् प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है जिसका अर्थ देखना है किन्तु यहाँ मोक्षमार्ग का प्रकरण होने से इसका श्रद्धान अर्थ ग्रहण किया गया है। क्योंकि धातुओं के अनेक अर्थ होते हैं। दर्शन शब्द भी जैनागमों

1. ज्ञानार्णव, 6/3.
2. वही, 6/4.
3. सर्वार्थसिद्धि, 1/1/5.
4. राजवार्तिक, 1/2/1/19.

में अनेक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। जीवादि पदार्थों के स्वरूप देखना, जानना, श्रद्धा करना 'दर्शन' है।[1] सामान्यतया दर्शन शब्द देखने के अर्थ में व्यवहृत होता है, लेकिन यहाँ दर्शन शब्द का अर्थ मात्र नेत्रजन्य बोध नहीं है। इसमें इन्द्रियबोध, मनोबोध और आत्मबोध सभी सम्मिलित हैं। दर्शन शब्द के अर्थ के सम्बन्ध में जैन परम्परा में काफी विचार हुआ है। दर्शन को ज्ञान से अलग करते हुए विचारकों ने दर्शन को अन्तर्बोध या प्रज्ञा और ज्ञान को बौद्धिक ज्ञान कहा है।[2] नैतिक जीवन की दृष्टि से विचार करने पर दर्शन शब्द का दृष्टिकोणपरक अर्थ किया गया है।[3] दर्शन शब्द के स्थान पर 'दृष्टि' शब्द का प्रयोग, उसके दृष्टिकोणपरक अर्थ का द्योतक है।

प्राचीन जैन आगमों में दर्शन शब्द के स्थान पर दृष्टि शब्द का प्रयोग अधिक मिलता है। तत्त्वार्थसूत्र[4] और उत्तराध्ययन[5] सूत्र में दर्शन शब्द देव, गुरु और धर्म के प्रति श्रद्धा या भक्ति के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

इस प्रकार जैन परम्परा में सम्यग्दर्शन अपने में तत्त्व-साक्षात्कार आत्म-साक्षात्कार, अन्तर्बोध, दृष्टिकोण, श्रद्धा और भक्ति आदि अर्थों को समेटे हुए है।

सम्यग्दर्शन का लक्षण और भेद –

आचार्य शुभचन्द्र ने अपने ग्रन्थ ज्ञानार्णव में सम्यग्दर्शन का विस्तार से कथन किया है। वे सम्यग्दर्शन के लक्षण व भेद बतलाते हुए कहते हैं - वह सम्यग्दर्शन निसर्ग (स्वभाव से) अथवा अधिगम (परोपदेश) से भव्य जीव के ही उत्पन्न होता है अभव्य के नहीं होता। आचार्य आदि के साक्षात् उपदेश के बिना पूर्वभव के संस्कारवश स्वभाव से ही तत्त्वार्थ की जो रुचि उत्पन्न होती है उसे निसर्गज सम्यग्दर्शन कहते हैं तथा जो दूसरों के उपदेश आदि से तत्त्व की श्रद्धा उत्पन्न होती है उसे अधिगमज सम्यग्दर्शन कहते हैं।[6]

दुरभिनिवेश - विपरीत अभिप्राय रहित पदार्थों का श्रद्धान कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का विवेक सम्यग्दर्शन कहा जाता है, किन्हीं को स्वभाव से ही होता है और किन्हीं को उपदेशपूर्वक। आज्ञा आदि की अपेक्षा से यह दश प्रकार का तथा कर्मों के उपशम, क्षय, क्षयोपशम की अपेक्षा से तीन प्रकार का होता है। इनमें से पहले के दो अत्यन्त निर्मल होते हैं पर तीसरा समल होने से कदाचित् इसमें कुछ अतिचार संभव होते हैं।

राग के सद्भाव व अभाव की अपेक्षा भी इसके भेद होते हैं। यथा - सराग

1. अभिधानराजेन्द्रकोश, खण्ड 5, पृ. 2425.
2. सम प्राब्लेम्स इन जैन साइक्लोजी, पृ. 32.
3. अभिधानराजेन्द्र कोश, खण्ड 8, पृ. 2525.
4. तत्त्वार्थसूत्र, 1/2.
5. उत्तराध्ययन, 28/35.
6. ज्ञानार्णव, 6/6

सम्यग्दर्शन व वीतराग सम्यग्दर्शन।[1] यहाँ सराग तो प्रशम, संवेग आदि गुणों के द्वारा अनुमानगम्य है और वीतराग केवल स्वानुभवगम्य है।

इन सभी भेदों को निःशंकितादि गुणों से भूषित होना चाहिए। सम्यक्त्व और ज्ञान में महान् अन्तर होता है, जो कि सूक्ष्म विचार के बिना पकड में नहीं आता। जितनी भी विकल्पात्मक उपलब्धियाँ, श्रद्धा, अनुभव आदि हैं वे सब ज्ञान रूप हैं सम्यग्दर्शन तो निर्विकल्प होने के कारण अन्तर में अभिप्राय या लब्धि रूप अवस्थित मात्र रहा करता है। मोक्ष में इसका सर्वोच्च स्थान है क्योंकि इसके बिना आगमज्ञान, चारित्र, व्रत, तप आदि सब वृथा हैं। सम्यग्दर्शनों के लक्षणों में भी स्वात्मसंवेदन सर्वप्रधान हैं क्योंकि बिना इसके तत्त्वों की श्रद्धा आदि अकिंचित्कर है।

सम्यग्दर्शन को प्राप्त करने के समय उपलब्ध होने वाले निमित्तों की अपेक्षा जातिस्मरण, जिनबिम्ब, जिनमहिमदर्शन आदि को भी इसमें निमित्त स्वीकार किया गया है। यह सम्यग्दर्शन सर्वप्रथम होने से प्रथमोपशम सम्यक्त्व के नाम से जाना जाता है। इसके अनन्तर नियम से गिरकर मिथ्यात्व को प्राप्त होता है। कदाचित् उसके बाद वेदक सम्यक्त्व तथा तत्पूर्वक द्वितीयोपशम या क्षायिक हो सकता है। किन्तु क्षायिक सम्यग्दर्शन की प्राप्ति में विशेषता यह होती है कि यह कर्मभूमिज मनुष्यों को केवली या श्रुतकेवली के पादमूल में ही आरम्भ होता है।[2]

सम्यग्दर्शन की पात्रता –

एक अनादि मिथ्यादृष्टि, जिसे आज तक कभी सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं हुआ है और दूसरे सादि मिथ्यादृष्टि, जिसे सम्यग्दर्शन प्राप्त होकर छूट गया है। अनादि मिथ्यादृष्टि जीव के मोहनीय कर्म की छब्बीस प्रकृतियों की सत्ता होती है, क्योंकि उसके दर्शनमोहनीय की मिथ्यात्व, सम्यक्त्वमिथ्यात्व और सम्यक्त्वप्रकृति इन तीन प्रकृतियों में से एक मिथ्यात्व प्रकृति का ही बन्ध होता है, शेष दो का नहीं। प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन होने पर उसके प्रभाव से यह जीव मिथ्यात्वप्रकृति के मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्वप्रकृति के भेद से तीन खण्ड करता है।[3] इस तरह सादि मिथ्यादृष्टि जीव के ही सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्वप्रकृति की सत्ता हो सकती है। सादि मिथ्यादृष्टि जीवों में मोहनीय कर्म की सत्ता के तीन विकल्प बनते हैं – 1. अट्ठाईस प्रकृतियों की सत्ता वाला, 2. सत्ताईस प्रकृतियों की सत्ता वाला और 3. छब्बीसप्रकृतियों की सत्ता वाला। जिस जीव के दर्शनमोह की तीनों प्रकृतियाँ विद्यमान हैं वह अट्ठाईस प्रकृतियों की सत्ता वाला है। जिस जीव के सम्यक्त्वप्रकृति की उद्वेलना हो गई है वह सत्ताईस प्रकृतियों की सत्ता

1. सर्वार्थसिद्धि, 1/2.
2. गोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा 648.
3. वही, कर्मकाण्ड, गाथा 26.

वाला है और जिसने सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति की भी उद्वेलना कर ली है वह छब्बीस प्रकृतियों की सत्ता वाला होता है।[1]

आत्मदृष्टि ही सम्यग्दृष्टि –

सम्यग्दर्शन के विषय में न्यायाचार्य डॉ. महेन्द्रकुमार ने तत्त्व निरूपण नामक लेख में अपने मौलिक व मर्मस्पर्शी विचार प्रकट करते हुए लिखा है – ''बुद्ध के तत्त्वज्ञान का प्रारम्भ दु:ख से होता है और उसकी समाप्ति होती है दु:खनिवृत्ति में। वे समझते हैं कि आत्मा अर्थात् उपनिषद्वादियों को नित्य आत्मा और नित्य आत्मा में स्वबुद्धि और दूसरे पदार्थों में परबुद्धि होने लगती है। स्व-पर विभाग के रागद्वेष से यह संसार बन जाता है। अत: समस्त अनर्थों की जड़ आत्मदृष्टि है। वे इस ओर ध्यान नहीं देते कि आत्मा की नित्यता और अनित्यता राग और विराग का कारण नहीं है। राग और विराग का कारण तो स्वरूप का अज्ञान और स्वरूप का सम्यग्ज्ञान से है। राग का कारण है पर पदार्थों में ममकार करना। जब इस आत्मा को समझाया जाता है कि मूर्ख, तेरा स्वरूप तो निर्विकार, अखण्ड चैतन्य है, तेरा इन स्त्री-पुत्रादि तथा शरीर में ममत्व करना विभाव है, स्वभाव नहीं, तब यह सहज ही अपने निर्विकार स्वभाव की ओर दृष्टि डालने लगता है और इसी विवेकदृष्टि या सम्यग्दर्शन से पर-पदार्थों से रागद्वेष हटाकर स्वरूप में लीन होने लगता है। इसी के कारण आस्रव रुकते हैं, और चित्त निरास्रव होने लगता है। इस प्रतिक्षण परिवर्तनशील अनन्त द्रव्यमय लोक में मैं एक आत्मा हूँ, मेरा किसी दूसरे आत्मा या पुद्गलद्रव्यों से कोई सम्बन्ध नहीं है। मैं अपने चैतन्य का स्वामी हूँ। मात्र चैतन्य रूप हूँ। यह शरीर अनन्त पुद्गल परमाणुओं का एक पिण्ड है। इसका मैं स्वामी नहीं हूँ। यह सब परद्रव्य हैं। पर पदार्थों में इष्टानिष्ट बुद्धि करना ही संसार है। आज तक मैंने पर पदार्थों को अपने अनुकूल परिणमन कराने की अनधिकार चेष्टा ही की है। मैंने यह भी अनधिकार चेष्टा की है कि संसार के अधिक-से-अधिक पदार्थ मेरे अधीन हों, जैसा मैं चाहूँ वैसा वे परिणमन करें। उनकी वृत्ति मेरे अनुकूल हो। पर मूर्ख, तू तो एक व्यक्ति है। तू तो केवल अपने परिणमन पर अर्थात् अपने विचारों और क्रिया पर ही अधिकार रख सकता है। पर पदार्थों पर तेरा वास्तविक अधिकार क्या है ? तेरी यह अनधिकार चेष्टा ही राग और द्वेष को उत्पन्न करती है। तू चाहता है कि शरीर, स्त्री, पुत्र, परिजन आदि सब तेरे इशारे पर चलें। संसार के समस्त पदार्थ तेरे अधीन हों, तू त्रैलोक्य को अपने इशारे पर नचाने वाला एकमात्र ईश्वर बन जाएं। यह सब तेरी निरधिकार चेष्टाएँ हैं। तू जिस तरह संसार के अधिकतम पदार्थों को अपने अनुकूल परिणमन कराके अपने अधीन करना चाहता है उसी तरह तेरे जैसे अनन्त मूढ चेतन भी यही दुर्वासना लिये हुए हैं और दूसरे द्रव्यों को अपने अधीन करना चाहते हैं। इसी छीना-झपटी में संघर्ष होता है, हिंसा होती है, रागद्वेष होते हैं और होता है अन्तत: दु:ख ही दु:ख।

1. तत्त्वार्थराजवार्तिक, 9/1/13 पृ. 588.

सुख और दु:ख की स्थूल परिभाषा यह है कि 'जो चाहो सो होवे, इसे कहते हैं सुख और चाहें कुछ और होवे कुछ या जो चाहे वह न होवे इसे कहते हैं दु:ख।' मनुष्य की चाह सदा यही रहती है कि मुझे सदा इष्ट का संयोग रहे और अनिष्ट का संयोग न हो। समस्त भौतिक जगत् और अन्य चेतन मेरे अनुकूल परिणति करते रहें, शरीर नीरोग हो, मृत्यु न हो, धन-धान्य हो, प्रकृति अनुकूल रहे आदि न जाने कितने प्रकार की चाह इस शेखचिल्ली मानव को होती रहती है। बुद्ध ने जिस दु:ख को सर्वानुभूत बताया है, वह सब अभावकृत ही तो है। महावीर ने इस तृष्णा का कारण बताया है 'स्वरूप की मर्यादा का अज्ञान'। यदि मनुष्य को यह पता हो कि - 'जिनकी मैं चाह करता हूँ, और जिनकी तृष्णा करता हूँ, वे पदार्थ मेरे नहीं हैं, मैं तो एक चिन्मात्र हूँ, तो उसे अनुचित तृष्णा ही उत्पन्न न होगी।' सारांश यह कि दु:ख का कारण तृष्णा है, और तृष्णा की उद्भूति स्वाधिकार एवं स्वरूप के अज्ञान या मिथ्याज्ञान के कारण होती है, पर-पदार्थों को अपना मानने के कारण होती है। अत: उसका उच्छेद भी स्वस्वरूप के सम्यग्ज्ञान यानि स्व-पर विवेक से ही हो सकता है। इस मानव ने अपने स्वरूप और अधिकार की सीमा को न जानकर सदा मिथ्याज्ञान किया है और पर पदार्थों के निमित्त से जगत् में अनेक कल्पित ऊँच-नीच भावों की सृष्टि कर मिथ्या अहंकार का पोषण किया है। शरीराश्रित या जीविकाश्रित ब्राह्मण, क्षत्रियादि वर्णों को लेकर ऊँच-नीच व्यवहार की भेदक भित्ति खड़ी कर, मानव को मानव से इतना जुदा कर दिया, जो एक उच्चाभिमानी मांसपिण्ड दूसरे की छाया से या दूसरे को छूने से अपने को अपवित्र मानने लगा। बाह्य पर पदार्थों के संग्रही और परिग्रही को महत्त्व देकर इसने तृष्णा की पूजा की। जगत् में जितने संघर्ष और हिंसाएँ हुई हैं वे सब पर पदार्थों की छीना-झपटी के कारण हुई हैं। अत: जब तक मुमुक्षु अपने वास्तविक स्वरूप को तथा तृष्णा के मूल कारण 'पर में आत्मबुद्धि' को नहीं समझ लेता तब तक दु:खनिवृत्ति की समुचित भूमिका ही तैयार नहीं हो सकती।''[1]

सम्यग्दर्शन के भेद -

यह सम्यग्दर्शन पुरुषों के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव रूप सामग्री से दर्शनमोह कर्म की तीन प्रकृतियों के क्षय, उपशम या क्षयोपशम होने से क्रमश: तीन प्रकार का है - 1. क्षायिकसम्यक्त्व, 2. उपशमसम्यक्त्व और 3. क्षयोपशमसम्यक्त्व।[2]

दर्शनमोह के नाश में भी द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव हेतु होते हैं। श्री जिनेन्द्रबिम्ब आदि तो द्रव्य हैं, समवसरण आदि क्षेत्र हैं, अर्धपुद्गल परिवर्तन विशेष काल हैं,

1. डॉ. महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य स्मृति ग्रन्थ, पृ. 266-8.
2. क्षीणप्रशान्तमिश्रासु मोहप्रकृतिषु क्रमात्।
   तत् स्याद् द्रव्यादिसामग्र्या पुंसां सद्दर्शनं त्रिधा।। - ज्ञानार्णव, 6/7.

अधःप्रवृत्तिकरण आदि भाव हैं। उस मोहनीय कर्म का अभाव होने पर ही उपशमादि की प्रतिपत्ति होती है। दूसरे प्रकारों से उन उपशम आदि के होने का अभाव है।[1]

उपशमसम्यक्त्व – उपशम सम्यक्त्व के होने पर जीव के सत्यार्थ देव में अनन्य भक्तिभाव, विषयों से विराग, तत्त्वों का श्रद्धान और विविध मिथ्यादृष्टियों (मतों) में असम्मोह प्रकट होता है। इसे क्षायिक सम्यक्त्व से कुछ भी कम नहीं जानना चाहिए। जिस प्रकार पंकादि जनित कालुष्य के प्रशान्त होने पर जल निर्मल हो जाता है, उसी प्रकार दर्शनमोह के उदय के उपशान्त होने पर जो सत्यार्थ श्रद्धान उत्पन्न होता है, उसे उपशम सम्यक्त्व कहते हैं।[2] दर्शनमोहनीय के उपशम से, कीचड़ के नीचे बैठ जाने से निर्मल जल के समान, पदार्थों का जो निर्मल श्रद्धान होता है, वह उपशमसम्यग्दर्शन है।[3] अनन्तानुबन्धी चार और दर्शनमोह की तीन इन सात प्रकृतियों के उपशम से औपशमिक सम्यक्त्व होता है।[4]

क्षायोपशमिकसम्यक्त्व – चार अनन्तानुबन्धी कषाय (क्रोध, मान, माया, लोभ) मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व इन छह प्रकृतियों के उदयाभावी क्षय और इन्हीं के सदवस्था रूप उपशम से और देशघाती स्पर्धकवाली सम्यक्प्रकृति के उदय में जो तत्त्वार्थश्रद्धान होता है वह क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होता है।[5]

क्षायिकसम्यक्त्व – दर्शन मोहनीय कर्म के सर्वथा क्षय हो जाने पर जो निर्मल श्रद्धान होता है, उसे क्षायिक सम्यक्त्व कहते हैं। वह सम्यक्त्व नित्य है और कर्मों के क्षय करने का कारण है। श्रद्धान को भ्रष्ट करने वाले वचनों से, तर्कों से, इन्द्रियों को भय उत्पन्न करने वाले रूपों से तथा बीभत्स और जुगुप्सित पदार्थों से भी चलायमान नहीं होता। अधिक क्या कहा जाय वह त्रैलोक्य के द्वारा भी चल-विचल नहीं होता। क्षायिक सम्यक्त्व के प्रारम्भ होने पर अथवा प्राप्ति या निष्ठापन होने पर, क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव के ऐसी विशाल, गम्भीर एवं दृढ बुद्धि उत्पन्न हो जाती है कि वह कुछ देखकर भी विस्मय या क्षोभ को प्राप्त नहीं होता।[6]

आप्त वचनों तथा तत्त्वों पर श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है। जो जीव पदार्थों का श्रद्धान करता है वही नियम से सम्यग्दृष्टि है।

सम्यक्त्व के पाँच लक्षण –

1. प्रशम – क्रोध, मान, माया और लोभ रूपी कषायों को शमन अर्थात् उनके उदित होने पर शान्त करना। इसका नाम प्रशम है।

1. श्लोकवार्तिक, 3/1/3/11/82
2. प्राकृत पंचसंग्रह, 1/165-6.
3. धवला, 1/1/1, 144 गा. 216/396.
4. सर्वार्थसिद्धि, 2/3/152.
5. वही, 2/5/157.
6. प्राकृत पंचसंग्रह, 1/160-2.

2. संवेग – मोक्ष की अभिलाषा करना संवेग है अथवा पाप और पाप के फल से भीति होना संवेग है।

3. निर्वेद – सांसारिक विषयों के प्रति विरक्ति होना निर्वेद है।

4. अनुकम्पा – नि:स्वार्थ भाव से दु:खी जीवों के दु:खों को दूर करने की इच्छा करना।

5. आस्तिक्य – सर्वज्ञ कथित तत्त्वों पर दृढ श्रद्धा रखते हुए उस पर शंका का भाव न लाकर विश्वास करना। इन पाँच लक्षणों से सम्यक्त्व की पहिचान होती है।[1]

सम्यक्त्व के पच्चीस दोष –

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए एवं उसकी शुद्धता के लिए पच्चीस दोषों को त्यागना अति आवश्यक है, क्योंकि उनका त्याग किये बिना सम्यक्त्व की प्राप्ति में बाधा उत्पन्न होती है।[2] वे दोष तीन मूढताएँ, आठ मद, छह अनायतन और आठ शंका आदि के रूप में कहे गए हैं।[3]

तीन मूढताएँ – 1. लोकमूढता, 2. देवमूढता और 3. गुरुमूढता।

आठ मद – कुल, जाति, बल, धन, ज्ञान, तप, रूप और ऐश्वर्य मद।

छह अनायतन – मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र, मिथ्यादृष्टि, मिथ्याज्ञानी और मिथ्याचारित्री।

आठ दोष – शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, मूढदृष्टिप्रशंसा, निन्दा, अस्थिरी-करण, अवात्सल्य और अप्रभावना।

इन आठ दोषों को साधारण व सरल रूप में निम्नत: समझा जा सकता है। जीवादि तत्त्वों के विषय में शंकित रहना शंका दोष, धर्म के पालन से भौतिक सुखों की आकांक्षा रखना कांक्षा नाम का दोष है। धार्मिक पुरुषों को देखकर ग्लानि करना विचिकित्सा दोष है। वैभव संपन्न अन्यदृष्टियों को देखकर उनकी प्रशंसा करना अन्यदृष्टिप्रशंसा नामक दोष है। धर्म का अनुपालन करते समय धार्मिकों द्वारा होने वाले स्खलन को निन्दा का विषय बनाना निन्दा दोष है। स्खलन होने पर उन्हें पुन:स्थापित करने का भाव नहीं होना अस्थिरीकरण है। धार्मिकों में परस्पर मित्रता का अभाव अवात्सल्य है तथा श्रेष्ठ कार्यों से धर्म तथा धार्मिकों के गुणों की कीर्ति विस्तारित न करना अप्रभावना नामक दोष है।

---

1. योगशास्त्र, 2/15.
2. ज्ञानार्णव, 6/8.
3. छहढाला, 3/11.

सम्यग्दर्शन के पाँच अतिचार – सम्यग्दर्शन के पाँच अतिचार इस प्रकार हैं – 1. शंका, 2. कांक्षा, 3. विचिकित्सा, 4. मिथ्यात्वियों की प्रशंसा और 5. मिथ्यादृष्टियों का संस्तव।[1]

सम्यग्दर्शन के विषयभूत सप्ततत्त्वों का विवेचन –

जीव – ज्ञानी जनों ने जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व कहे हैं।[2] तीनों लोकों के मध्य में सदाकाल अनन्त जीव राशि विद्यमान है और वह दो भेद रूप है – सिद्ध और संसारी।[3] इनमें सिद्ध जीव ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य सहित एक स्वभाव वाले हैं। जन्म-मरण आदिक सांसारिक क्लेशों से रहित हैं। संसारी जीव त्रस-स्थावर के भेद से दो प्रकार के हैं।[4] जो त्रस नामकर्म के उदय से चलने-फिरने में समर्थ होते हैं वे त्रस कहलाते हैं। किन्तु जो स्थावर नामकर्म के उदय से इच्छानुसार गमनागमन करने में असमर्थ होते हैं वे स्थावर कहे जाते हैं। स्थावर जीव पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु व वनस्पति इन भेदों से पाँच प्रकार के हैं। त्रस जीव द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय संज्ञी व असंज्ञी के भेद से अनेक प्रकार के हैं। सब संसारी जीव गति की अपेक्षा से चार भेदों में विभक्त हैं। हृदय में मोह या मूर्च्छा को धारण करने वाले वे सब संसारी जीव दुर्निवार कर्म के उदय से आरम्भ व प्रतारणा में संलग्न होकर नियम से परिभ्रमण कर रहे हैं।

परन्तु उपर्युक्त पृथिवी आदि स्वरूप पाँच स्थावर, विकलेन्द्रिय – द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय तथा असंज्ञी पंचेन्द्रिय प्राणी ये सब एक मात्र तिर्यञ्चगति में ही होते हैं, अन्य किसी गति में वे नहीं पाये जाते हैं। जीव संकोच व विस्तार रूप धर्म से युक्त और दर्शन, ज्ञान लक्षण सहित है और स्वयं कर्त्ता, भोक्ता तथा शरीर प्रमाण होकर अमूर्तिमान है।

जीव स्वभाव से अमूर्तिक है। परन्तु वह अनादिकाल से कर्म के साथ एकमेक हो रहा है। इस दृष्टि से उसे मूर्तिक भी कहा जाता है। वह यद्यपि प्रदेशों की अपेक्षा असंख्यात प्रदेशी लोक के बराबर है, फिर भी नामकर्म के उदय से जिस अवस्था में जो शरीर उसे प्राप्त होता है उसी के भीतर वह संकोच और विस्तार को प्राप्त होकर रहता है। उदाहरणार्थ – दीपक का प्रकाश यद्यपि असीमित है, फिर भी वह यथायोग्य छोटे-बड़े कमरे आदि को पाकर तत्प्रमाण ही रहता है। सांख्य प्रकृति को कर्त्री और पुरुष को भोक्ता मानते हैं। इसे लक्ष्य में रखते हुए यहाँ यह बतलाया गया है कि वह जीव स्वयं कर्ता भी है और स्वयं भोक्ता भी।

---

1. तत्त्वार्थसूत्र, 7/23.
2. वही, 1/4
3. वही, 2/10
4. तत्त्वार्थसूत्र, 2/12.

जो चेतना से संयुक्त रहकर जीता है, जीता था और जीवित रहेगा वह जीव है। स्वभाव की अपेक्षा से भव्य और अभव्य ऐसे दो भेद भी जीवों के हैं। जो जीव द्रव्य, क्षेत्र आदि रूप सामग्री को प्राप्त करके सम्यग्ज्ञानादि से परिणत होंगे वे भव्य हैं। जीवों का अभव्यपना अन्ध पाषाण के समान है, जिनको सैकड़ों जन्मों में भी सम्यग्दर्शनादि की उपलब्धि नहीं होती वे अभव्य जीव हैं। यह जीव की स्वभावगत योग्यता है। जिस प्रकार सुवर्णादि धातुओं का मल के साथ अनादि सम्बन्ध है। उसी प्रकार जीवों का कर्ममल से अनादि सम्बन्ध है। भव्य और अभव्य दोनों का ही संसार अनादि है, परन्तु भव्य का संसार तो अन्तसहित है, क्योंकि उसको मुक्ति प्राप्त होगी और अभव्य का अन्तरहित है, क्योंकि उसको मुक्ति प्राप्त नहीं होगी। ऐसा वस्तुस्वभाव है, इसमें कोई हेतु नहीं।[1]

शुद्ध सम्यग्दृष्टियों को चौदह जीवसमासों, चौदह मार्गणाओं और चौदह गुणस्थानों का आश्रय करके उन संसारी जीवों के स्वरूप को जानना चाहिए और तदनुसार श्रद्धान भी करना चाहिए।[2] संसारी जीवों के स्वरूप को जानने के लिए जीवसमास, मार्गणा और गुणस्थान आदि (पर्याप्ति व प्राण आदि) का जानना आवश्यक है, क्योंकि उनके जाने बिना उक्त जीवों का पूर्णबोध नहीं हो सकता है। उनमें जीवसमास का जीवों का संक्षेप अर्थात् जिन अवस्था विशेषों के द्वारा अनेक जीव और उनकी जातियों का सामूहिक रूप में बोध होता है, उन्हें जीवसमास कहा जाता है। वे संक्षेप से चौदह हैं, उत्तर भेदों को ग्रहण करने पर उक्त जीवसमास के सत्तावन या और भी अधिक भेद भी हो जाते हैं।

मार्गणा का अर्थ अन्वेषण होता है। तदनुसार जिन अवस्था विशेषों के द्वारा अथवा जिन अवस्थाओं में जीवों का अन्वेषण किया जाता है उनका नाम मार्गणा है। इनके मुख्यत: चौदह भेद होते हैं - गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञी और आहार।[3]

मोहनीय कर्म के उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम आदि के होने पर जीवों के जो परिणाम प्रादुर्भूत होते हैं उन्हें गुणस्थान कहते हैं। इनके भी चौदह भेद हैं जो निम्न हैं - मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, अविरतसम्यग्दृष्टि, देशसंयत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसांपराय, उपशान्तमोह, क्षीणमोह, सयोगकेवली और अयोगकेवली।[4] इन दोनों का विशेष विवरण जीवकाण्ड आदि अन्य ग्रन्थों से जाना जा सकता है, विस्तारभय से यहाँ देना योग्य नहीं है।[5]

अजीवतत्त्व - जिस प्रकार आत्मतत्त्व का ज्ञान आवश्यक है उसी प्रकार जिस अजीव के सम्बन्ध से आत्मा विकृत होता है, उसमें विभाव परिणति होती है उस अजीव

1. गोम्मटसार, कर्मकाण्ड गाथा 2.
2. तत्त्वार्थसूत्र, 5/8. द्रव्यसंग्रह, गाथा 10.
3. ज्ञानार्णव, 6/17.
4. वही, 6/19-24.
5. वही, 6/25.

तत्त्व का ज्ञान भी आवश्यक है। जब तक इस अजीवतत्त्व को नहीं जानेंगे तब तक 'किन दो में बन्ध हुआ है' यह मूल बात ही अज्ञात बनी रहेगी।

जीव से विपरीत अर्थात् अचेतन लक्षण वाला अजीव है।[1] धर्मादिक द्रव्यों में जीव का लक्षण नहीं पाया जाता है इसलिए उनकी अजीव यह सामान्य संज्ञा है। अजीवतत्त्व में धर्म, अधर्म, आकाश और काल का भले ही सामान्य ज्ञान हो, क्योंकि इनसे आत्मा का कोई भला-बुरा नहीं होता, परन्तु पुद्गल द्रव्य का किंचित् विशेष ज्ञान अपेक्षित है। शरीर, मन, इन्द्रियाँ, श्वासोच्छ्वास और वचन आदि सब पुद्गलमय ही है।[2] जिसमें शरीर तो चेतन के संसर्ग से चेतनायमान हो रहा है। जगत् में रूप, रस, गन्ध और स्पर्श वाले यावत् पदार्थ हैं वे सभी पौद्गलिक हैं।[3] पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि आदि भी पौद्गलिक हैं। इनमें किसी में कोई गुण प्रकट रहता है और कोई में अप्रकट। यद्यपि अग्नि में रस, वायु में रूप और जल में गन्ध अनुद्भूत हैं फिर भी ये सब पुद्गलजातीय ही हैं। शब्द, प्रकाश, छाया, अन्धकार, सर्दी, गर्मी सभी पुद्गल स्कन्धों की अवस्थाएँ हैं।[4]

मुमुक्षु के लिए शरीर की पौद्गलिकता का ज्ञान तो इसलिए अत्यन्त जरूरी है क्योंकि उसकी आसक्ति का मुख्य केन्द्र वही है। यद्यपि आज का 99 प्रतिशत विकास और प्रकाश शरीराधीन है। शरीर के पुर्जों के बिगड़ते ही वर्तमान ज्ञानविकास रुक जाता है और शरीर के नाश होने पर वर्तमान शक्तियाँ प्रायः समाप्त हो जाती हैं, फिर भी आत्मा का अपना स्वतंत्र अस्तित्व तेल-बत्ती से भिन्न ज्योति की तरह है ही। शरीर का अणु-अणु जिसकी शक्ति से संचालित और चेतनायमान हो रहा है वह अन्तर्ज्योति दूसरी ही है। यह आत्मा अपने सूक्ष्म कार्मण शरीर के अनुसार वर्तमान स्थूल शरीर के नष्ट हो जाने पर दूसरे स्थूल शरीर को धारण करता है।

आस्रवतत्त्व - काय, वचन व मन की क्रिया योग है और वही आस्रव है।[5] पुण्य-पाप रूप कर्मों के आगमन के द्वार को आस्रव कहते हैं। जैसे - नदियों के द्वारा समुद्र प्रतिदिन जल से भरा जाता है, वैसे ही मिथ्यादर्शनादि स्रोतों से आत्मा में कर्म आते हैं।[6] आचार्य शुभचन्द्र देव ने ज्ञानार्णव में शुभाशुभ आस्रव का वर्णन करते हुए लिखा है -

यम (अणुव्रत, महाव्रत), प्रशम (कषायों की मन्दता), निर्वेद (संसार से विरागता अथवा धर्मानुराग) तथा तत्त्वों का चिन्तवन इत्यादि का अवलम्बन हो एवं मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ इन चार भावनाओं की जिस मन में भावना हो वही मन शुभास्रव को उत्पन्न करता है। कषायरूप अग्नि से प्रज्वलित और इन्द्रियों के विषयों से व्याकुल मन संसार के संबंध के सूचक अशुभ कर्मों का संचय करता है। समस्त विश्व के व्यापारों

1. धवला, पु. 1, पृ. 132.
2. गोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा 9-10.
3. ज्ञानार्णव, 6/1-24.
4. सर्वार्थसिद्धि, 1/4.
5. तत्त्वार्थसूत्र, 5/19.
6. तत्त्वार्थसूत्र, 5/23.

से रहित तथा श्रुतज्ञान के अवलम्बनयुक्त और सत्य रूप प्रामाणिक वचन शुभास्रव के लिए होते हैं। अपवाद (निन्दा) का स्थान, असन्मार्ग का उपदेशक, असत्य, कठोर, कानों से सुनते ही जो दूसरे के लिए कषाय उत्पन्न कर दे और जिससे पर का बुरा हो जाए, ऐसे वचन अशुभास्रव के कारण होते हैं। भले प्रकार गुप्त किये गए अर्थात् अपने वशीभूत किये हुए काय से तथा निरन्तर कायोत्सर्ग से संयमी शुभ कर्म का संचय करते हैं। निरन्तर आरम्भ करने वाले और जीवघात के व्यापारों से जीवों का शरीर (काययोग) पापकर्मों का संग्रह करता है अर्थात् काययोग से अशुभास्रव करता है।[1]

मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये पाँच बन्ध के कारण हैं। इन्हें आस्रवप्रत्यय भी कहते हैं। जिन भावों से कर्मों का आस्रव होता है उन्हें भावास्रव कहते हैं और कर्मद्रव्य का आना द्रव्यास्रव कहलाता है। पुद्गलों में कर्मत्व पर्याय का विकास होना भी द्रव्यास्रव कहा जाता है। आत्मप्रदेशों तक उनका आना भी द्रव्यास्रव है। यद्यपि इन्हीं मिथ्यात्वादि भावों को भावबन्ध कहा है, परन्तु प्रथमक्षणभावी ये भाव चूंकि कर्मों के आकर्षण में साक्षात्कारणभूत योगक्रिया में निमित्त होते हैं, अतः भावास्रव कहे जाते हैं और अग्रिमक्षणभावी भाव भावबन्ध हैं। भावास्रव जैसा तीव्र, मन्द और मध्यम होता है तज्जन्य आत्मप्रदेशों का परिस्पन्द अर्थात् योगक्रिया से कर्म भी वैसे ही आते हैं और आत्मप्रदेशों से बँधते हैं। सर्वसाधारण जनों को तो कषायवश होने के कारण यह आस्रव आगामी बन्ध का कारण पड़ता है, इसलिए साम्परायिक आस्रव कहलाता है, परन्तु वीतरागी को वह इच्छा से निरपेक्ष कर्मवश होता है इसलिए आगामी बन्ध का कारण नहीं होता। वह अनन्तर क्षण में ही झड़ जाने से ईर्यापथ नाम पाता है।[2]

बन्धतत्त्व – कर्म प्रदेशों का आत्मप्रदेशों में एकक्षेत्रावगाह हो जाना बन्ध है।[3] बन्ध दो प्रकार का है – भावबन्ध और द्रव्यबन्ध। जिन राग, द्वेष और मोह आदि विकारी भावों से कर्म का बन्धन होता है उन भावों को भावबन्ध कहते हैं। कर्मपुद्गलों का आत्मप्रदेशों से सम्बन्ध होना द्रव्यबन्ध कहलाता है।[4] द्रव्यबन्ध आत्मा और पुद्गल का सम्बन्ध है। यह तो निश्चित है कि दो द्रव्यों का संयोग ही हो सकता है, तादात्म्य अर्थात् एकत्व नहीं। दो मिलकर एक दिख सकते हैं, परन्तु एक की सत्ता मिटकर एक ही शेष रह जाये, ऐसा नहीं होता।

जब पुद्गलाणु परस्पर में बन्ध को प्राप्त होते हैं तो वे एक विशेष प्रकार के संयोग को ही प्राप्त करते हैं, जिसे बन्ध कहा जाता है। बन्ध प्रकृत्यादि के भेद से चार प्रकार का है – 1. प्रकृतिबन्ध, 2. प्रदेशबन्ध, 3. स्थितिबन्ध और 4. अनुभागबन्ध।[5]

1. ज्ञानार्णव, 5/24.
2. वही, 6/1-2.
3. तत्त्वार्थराजवार्तिक, 6/2/4-5 पृ. 506.
4. ज्ञानार्णव, 2/3-8.
5. तत्त्वार्थसूत्र, 6/4.

प्रकृति का अर्थ स्वभाव है। जिस प्रकार नीम का स्वभाव कडुआपन और गुड का स्वभाव मधुरता है। उसी प्रकार ज्ञानावरण कर्म का स्वभाव है ज्ञान को न होने देना। वह ज्ञानावरणादि के भेद से आठ प्रकार का है। कर्मों का जो अधिक-से-अधिक तथा कम-से-कम काल तक आत्मप्रदेशों के साथ अवस्थान माना गया है उसे स्थितिबन्ध जानना चाहिए। उक्त कर्मों में जो फल की उत्पत्ति है - हीनाधिक फल देने की शक्ति का आविर्भाव होता है उसका नाम अनुभागबन्ध है। जीव और कर्म का जो एक-दूसरे के एक क्षेत्रावगाह स्वरूप से सम्बन्ध होता है उसे प्रदेशबन्ध कहते हैं। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये पाँचों बन्ध के कारण हैं। अतत्त्वश्रद्धान को मिथ्यात्व, अत्यागरूप परिणामों को अविरति, निश्चय-व्यवहारचारित्र में असावधानरूप परिणामों को प्रमाद, क्रोध, मान, माया और लोभ रूप परिणामों को कषाय और मन, वचन, काय के निमित्त से आत्मा के चंचल रूप होने को योग कहते हैं। इस प्रकार बन्ध का स्वरूप है।[1]

संवर तत्त्व - आस्रव का निरोध संवर है। जिनसे कर्म रुकें या कर्मों का रुकना संवर है। जैसे - जिस नगर के द्वार अच्छी तरह से बन्द हों तो वह नगर शत्रुओं को अगम्य होता है। उसी तरह गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र से कर ली है संवृत इन्द्रिय, कषाय व योग को जिसने ऐसी आत्मा के नवीन कर्मों का द्वार रुक जाना संवर है।[2] संवर रोकने अथवा सुरक्षा को कहते हैं। जिन द्वारों से कर्मों का आस्रव होता था, उन द्वारों का निरोध कर देना संवर कहलाता है। आस्रव योग से होता है, अत: योग की निवृत्ति ही मूलत: संवर के पद पर प्रतिष्ठित हो सकती है। किन्तु मन, वचन और काय की प्रवृत्ति को सर्वथा रोकना संभव नहीं है। शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए आहार करना, मलमूत्र का विसर्जन करना, चलना-फिरना, बोलना, रखना, उठाना आदि क्रियाएँ करनी ही पड़ती हैं। अत: जितने अंशों में मन, वचन और काय की क्रियाओं का निरोध है, उतने अंशों में गुप्ति होती है। मन, वचन और काय की अकुशल प्रवृत्तियों से रक्षा करने रूप गुप्ति संवर का साक्षात् कारण है।

निर्जरातत्त्व - जिसके द्वारा संसार के बीजभूत कर्म नष्ट किये जाते हैं उसे कर्म बन्ध से रहित हुए मुनियों ने निर्जरा कहा है। पूर्वबद्ध कर्मों का क्रमश: आत्मा से पृथक् होने का नाम निर्जरा है। वह दो प्रकार की है - सकामनिर्जरा और अकामनिर्जरा। इनमें प्रथम तो जो कर्म अभी उदय को प्राप्त नहीं हैं उनको तप के प्रभाव से उदयावली में प्रविष्ट कराके इच्छापूर्वक उनके फल को भोगना यह सकामनिर्जरा कही जाती है। यह तपस्वियों के हुआ करती है। और स्थिति के पूर्ण होने पर जब कर्म अपना फल देकर निर्जीण होते हैं, तब उसका नाम अकामनिर्जरा है। यह सभी प्राणियों के हुआ करती है।[3] इसमें चूंकि

1. राजवार्तिक, 6/4.
2. द्रव्यसंग्रह, 32.
3. तत्त्वार्थसूत्र, 8/3.

अनिच्छा पूर्वक कर्म का फल भोगा जाता है इसलिए इसे अकामनिर्जरा कहा गया है। इनमें सकामनिर्जरा को अविपाकनिर्जरा भी कहा जाता है। संयमी मुनि वैराग्य के मार्ग को प्राप्त होकर जैसे-जैसे तपश्चरण करता है वैसे-वैसे उसके दु:ख से जीतने योग्य कठोर कर्म क्षीण होते जाते हैं। यद्यपि कर्म अनादिकाल से जीव के साथ लगे हुए हैं तथापि वे ध्यान रूपी अग्नि से स्पर्श होने पर तत्काल ही क्षीण हो जाते हैं। उनके क्षय हो जाने से जैसे अग्नि के ताप से सुवर्ण शुद्ध होता है उसी प्रकार यह प्राणी भी तप से कर्मों का नाशकर शुद्ध हो जाता है।[1]

मोक्षतत्त्व – बन्धन मुक्ति को मोक्ष कहते हैं। बन्ध के कारणों का अभाव होने पर तथा संचित कर्मों की निर्जरा होने से समस्त कर्मों का समूल उच्छेद होना मोक्ष है।[2] आत्मा की वैभाविकी शक्ति का संसार अवस्था में विभाव परिणमन होता है। विभाव परिणमन के निमित्त हट जाने से मोक्ष दशा में उसका स्वाभाविक परिणमन हो जाता है। जो आत्मा के गुण विकृत हो रहे थे वे ही स्वाभाविक दशा में आ जाते हैं। मिथ्यादर्शन सम्यग्दर्शन बन जाता है, अज्ञान ज्ञान हो जाता है और अचारित्र चारित्र। इस दशा में आत्मा का सारा नक्शा ही बदल जाता है। जो आत्मा अनादिकाल से मिथ्यादर्शन आदि अशुद्धियों और कलुषताओं का पुंज बना हुआ था, वही निर्मल, निश्चल और अनन्त चैतन्यमय हो जाता है। उसका आगे सदा शुद्ध परिणमन ही होता है। इसी मोक्ष अवस्था का ग्रन्थकार ने इस भांति वर्णन किया है। वे लिखते हैं - जो प्रकृति, प्रदेश, स्थिति व अनुभाग रूप समस्त कर्मों के संबंध के सर्वथा नाश रूप लक्षण वाला तथा संसार का प्रतिपक्षी है, वही मोक्ष है। दर्शन और वीर्यादि गुणसहित और संसार के क्लेशों से रहित, चिदानन्दमयी आत्यन्तिक अवस्था को साक्षात् मोक्ष कहते हैं। यह अन्वय प्रधानता से मोक्ष का स्वरूप कहा है। जिसमें अतीन्द्रिय (इन्द्रियों से अतिक्रान्त) विषयों से अतीत, उपमारहित और स्वाभाविक विच्छेदरहित पारमार्थिक सुख हो, वही मोक्ष कहा जाता है। जिसमें यह आत्मा निर्मल (द्रव्यकर्म, नोकर्मरहित) शरीररहित, क्षोभरहित, शान्तस्वरूप, निष्पन्न (सिद्धरूप), अत्यन्त अविनाशी, सुखरूप, कृतकृत्य (जिसको कुछ करना शेष नहीं हो ऐसा) तथा समीचीन सम्यग्ज्ञान स्वरूप हो जाता है, उस पद को शिव अर्थात् मोक्ष कहते हैं।[3]

सम्यग्ज्ञान –

जो ज्ञान वस्तु स्वरूप को न्यूनतारहित तथा अधिकतारहित, विपरीततारहित, जैसा का तैसा, सन्देहरहित जानता है, उसको आगम के ज्ञाता पुरुष सम्यग्ज्ञान कहते हैं।[4] ज्ञान आत्मा का निज गुण है तथा स्व-पर प्रकाशक है। व्यवहारनय से आत्मा समस्त

1. ज्ञानार्णव, 6/46-9.
2. तत्त्वार्थसूत्र, 9/1.
3. ज्ञानार्णव, 2/2.
4. रत्नकरण्ड श्रावकाचार, 42

द्रव्यों को जानता है और निश्चयनय की दृष्टि से स्व को ही जानता है। ज्ञान ही आत्मा है। ज्ञान के अभाव में जड़त्व की संज्ञा प्राप्त हो जाती है। लब्ध्यपर्याप्त सूक्ष्मनिगोदिया तथा असंज्ञी जीवों में भी ज्ञान की अल्प मात्रा विद्यमान है ही। किन्तु उनका ज्ञान ज्ञानावरणादि कर्मों के प्रगाढ़ आवरणों से आच्छादित होने के कारण, निजस्वरूप को नहीं जान पाता है। सुवर्ण, पाषाण एवं बादलों के हटते ही सोना एवं सूर्य का तेज निखर आता है। वैसे ही कर्मों के आवरण उपशम, क्षय, क्षयोपशम एवं बाह्य कारण धर्मश्रवण, एकाग्रता, शुद्ध आहार, एवं धर्म जागरण से मिथ्याज्ञान, सम्यग्ज्ञान में परिणत हो जाता है। मिथ्याज्ञान के कारण ही अनादिकाल से संसार परिभ्रमण हो रहा है। उससे मुक्ति पाने के लिए सम्यग्दर्शन पूर्वक सम्यग्ज्ञान ही मुख्य साधन है। इन दोनों के बीच में कार्य-कारण का सम्बन्ध है। जो अज्ञानी है वह तो करोड़ों जन्म लेकर तप के प्रभाव से पाप को जीतता है और उसी पाप को अतुल्य पराक्रम वाला भेदविज्ञानी आधे क्षण में ही भस्म कर देता है। इस संसार रूपी उग्र मरुस्थल में दु:ख रूप अग्नि से तप्तायमान जीवों को यह सत्यार्थ ज्ञान ही अमृत रूप जल से तृप्त करने को समर्थ है। संसार के दु:ख मिटाने को सम्यग्ज्ञान ही समर्थ है।[1]

यह सम्यग्ज्ञान 1. मति, 2. श्रुत, 3. अवधि, 4. मन:पर्यय और 5. केवलज्ञान के भेद से पाँच भेद वाला है।[2] मन और इन्द्रिय की सहायता से होने वाले ज्ञान को मतिज्ञान कहते हैं। जो ज्ञान श्रुतानुसारी है, जिसमें शब्द और अर्थ का सम्बन्ध भाषित होता है तथा जो मतिज्ञानपूर्वक होता है, अथवा शब्द और अर्थ की पर्यालोचना के अनुसरण पूर्वक इन्द्रिय और मन के निमित्त से होता है उसे श्रुतज्ञान कहते हैं। इन दोनों ज्ञानों का विषय सभी द्रव्य और उनकी कुछ पर्यायों को जानना है। अवधिज्ञान मन और इन्द्रियों की अपेक्षा न रखते हुए साक्षात् आत्मा के द्वारा द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव की मर्यादा पूर्वक पदार्थों को जानता है। अवधि, मर्यादा, सीमा ये सब एकार्थवाची शब्द हैं। संज्ञी जीवों के मनोगत भावों को जानने वाला ज्ञान मन:पर्यय ज्ञान है। इस ज्ञान के होने में इन्द्रिय और मन की सहायता नहीं रहती, किन्तु आत्मा के विशिष्ट क्षयोपशम की आवश्यकता होती है। इसके दो भेद हैं - ऋजुमति मन:पर्ययज्ञान एवं विपुलमति मन:पर्ययज्ञान। केवलज्ञान ज्ञानावरणकर्म के नि:शेष रूप से क्षय हो जाने पर होता है। इसमें भूत, वर्तमान और भविष्यत् त्रैकालिक सब वस्तुएँ समस्त पर्यायों सहित युगपत् जानी जाती हैं।[3] यह ज्ञान परिपूर्ण अव्याघाति, असाधारण, अनन्त, अनन्तकाल तक रहने वाला होता है। आदि के चारों ज्ञान तदावरणीय कर्मों के क्षयोपशम से प्रकट होते हैं। जबकि केवलज्ञान की उत्पत्ति केवलज्ञानावरण कर्म के क्षय से होती है। इसलिए प्रथम के चार ज्ञान क्षायोपशमिक हैं और अन्तिम केवलज्ञान क्षायिकज्ञान है। इसीलिए केवलज्ञान को केवल, एक या असहायज्ञान भी कहते हैं। इन पाँचों सम्यग्ज्ञानों की उत्पत्ति का प्रधान कारण स्व-पर भेदविज्ञान है। इसीलिए पूज्यपाद स्वामी ने सर्वार्थसिद्धि में कहा है कि जिस-जिस प्रकार

1. ज्ञानार्णव, 2/2
2. ज्ञानार्णव, 3/6-9.
3. ज्ञानार्णव, 7/18, 12.

से जीवादि पदार्थ व्यवस्थित हैं उनको उसी प्रकार से जानना सम्यग्ज्ञान है।[1] सम्यग्ज्ञान के माहात्म्य का विवेचन करते हुए आचार्य शुभचन्द्र लिखते हैं –

जब तक ज्ञानरूपी सूर्य का उदय नहीं होता तभी तक यह समस्त जगत् अज्ञानरूपी अन्धकार से आच्छादित है। अर्थात् ज्ञान रूपी सूर्य के उदय होते ही अज्ञानरूपी अन्धकार नष्ट हो जाता है। प्रमाद को क्षीण करने वाले क्लेशों को जीतने वाले परिग्रह रहित स्थिर आशय वाले योगीगण उस ज्ञान की प्राप्ति के लिए यत्नपूर्वक तपस्या करते हैं। इन्द्रिय रूपी मृगों को बाँधने के लिए एक दृढ पाशा है अर्थात् ज्ञान के बिना इन्द्रियाँ वश में नहीं होती। तथा चित्त रूपी सर्प का निग्रह करने के लिए ज्ञान ही एक गरुड महामन्त्र है। अर्थात् मन भी ज्ञान से ही वशीभूत होता है। जिस मार्ग में अज्ञानी चलते हैं उसी मार्ग में विद्वज्जन चलते हैं, परन्तु अज्ञानी तो अपने आत्मा को बाँध लेता है और तत्त्वज्ञानी बन्धरहित हो जाता है। यह ज्ञान का ही माहात्म्य है।[2]

सम्यक्चारित्र –

जो विशुद्धि का उत्कृष्ट स्थान है, योगीजनों का जीवन है तथा समस्त पाप का परित्याग ही जिसका लक्षण है वह सम्यक्चारित्र कहलाता है।[3] अभिप्राय यह है कि समस्त पाप के परित्याग को चारित्र कहते हैं और वह योगियों के होता है। उससे आत्मा अत्यन्त निर्मल हो जाती है। उस चारित्र को सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात के भेद से पाँच प्रकार का माना गया है।[4] यही चारित्र अन्य भेद की अपेक्षा से पाँच महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्ति के भेद रूप तेरह प्रकार का भी है।

अध्यात्म साधना पद्धति में त्रिविध साधना पद्धति को महत्त्व दिया गया है। तीनों का समन्वय रूप ही मोक्षमार्ग है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान ये दोनों मोक्ष के कारण हैं। सम्यक्चारित्र तो साक्षात् मोक्ष का कारण है। मोक्ष का सर्वश्रेष्ठ अंग चारित्र ही है। जैन साधना का प्राण भी यही है।

जैन पारिभाषिक शब्दावलि में चारित्र शब्द का अर्थ आचरण किया जाता है। इस अपेक्षा से इसका क्रम होता है पहले देखना (श्रद्धा करना), फिर जानना (सम्यग्ज्ञान) और तदनन्तर इन्द्रियों के विषय एवं कषायों पर विजय प्राप्त करना ही चारित्र है।[5]

चारित्र के भेद –

सामायिकचारित्र – 'मैं सर्वसावद्य का त्यागी हूँ।' इस तरह अभेद रूप से

1. सर्वार्थसिद्धि, 1/1. 2. ज्ञानार्णव वही, 7/13, 17.
3. वही, 8/9 4. तत्त्वार्थसूत्र 9/18, ज्ञानार्णव 8/2
5. समयसार गाथा, 155

सम्पूर्ण पापों का त्याग करना सामायिक चारित्र कहलाता है। यह संयम अनुपम, दुर्लभ और दुर्धर्ष है।[1]

छेदोपस्थापनाचारित्र – प्रमाद के निमित्त से सामायिक चारित्र से च्युत होकर जो सावद्य क्रिया के करने रूप सावद्य पर्याय होती है, उसका प्रायश्चित्त विधि के अनुसार छेदन करके मुनि अपनी आत्मा को अहिंसादिक पाँच प्रकार के व्रताचरण में स्थापित करता है उसे छेदोपस्थापना चारित्र कहते हैं।[2]

परिहारविशुद्धिचारित्र – पाँच प्रकार के संयमों में से सामान्य – अभेद रूप से अथवा विशेष – भेद रूप से सर्वपापों का परित्याग करने वाला जो मुनि पाँच समिति, तीन गुप्ति को धारण कर उनसे युक्त रहकर सदा सावद्य का त्याग करता है उस पुरुष को परिहारविशुद्धिचारित्र कहते हैं। यहाँ चारित्र और संयम एकार्थवाची हैं।[3]

यह चारित्र जन्म से लेकर तीस वर्ष तक सदा सुखी रहकर पुन: दीक्षा ग्रहण करके जो तीर्थंकर के पादमूल में आठ वर्ष तक प्रत्याख्यान नामक नौवें पूर्व का अध्ययन करने वाले के होता है। परिहारविशुद्धि संयम को धारण करने वाले मुनि तीन संध्यों को छोड़कर प्रतिदिन दो कोश गमन करते हैं।[4] रात्रि में गमन नहीं करते। जिस संयम में परिहार के साथ विशुद्धि हो उसको परिहारविशुद्धि संयम कहते हैं। यहाँ परिहार का तात्पर्य प्राणी पीड़ा के परिहार से है। अर्थात् इस संयम वाला मुनि जीवराशि पर विहार करने पर भी उनका विघातक नहीं होता।

सूक्ष्मसाम्परायचारित्र – जिन क्रोधादि कषायों द्वारा संसार में परिभ्रमण होता है उनको साम्पराय कहते हैं। जिस चारित्र में सम्पराय अर्थात् कषाय का उदय अतिसूक्ष्म रहता है वह सूक्ष्मसाम्पराय चारित्र है।[5] इसमें लोभकषाय के उदय मात्र का अनुभव रहता है। इस चारित्र को प्राप्त उपशमश्रेणी अथवा क्षपकश्रेणी वाले जीव के अणुमात्र लोभ अर्थात् सूक्ष्मकृष्टि को प्राप्त लोभ कषाय का अनुभव होता है। इसके परिणाम यथाख्यातचारित्र वाले जीव के परिणामों से कुछ कम होते है। क्योंकि यह संयम दसवें गुणस्थान में होता है। इसके बाद ग्यारहवें आदि गुणस्थानों में यथाख्यातचारित्र हो जाता है।[6]

यथाख्यातचारित्र – अशुभ रूप मोहनीयकर्म के सर्वथा उपशम हो जाने से

1. गोम्मटसार, जीवकाण्ड गाथा 470
2. वही, गाथा 471.
3. वही, गाथा 472.
4. तत्त्वार्थराजवार्तिक, 9/18/2 पृ. 616.
5. वही, 9/10/6 पृ. 617.
6. वही, 9/10/8 पृ. 617.

ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती जीवों के और मोहनीय कर्म के सर्वथा क्षीण हो जाने से बारहवें, तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानवर्ती जिन के यथाख्यात चारित्र होता है। यथावस्थित आत्मस्वभाव की उपलब्धि को यथाख्यातचारित्र कहते हैं।[1] यह संयम आत्मा की शुद्ध दशा रूप होता है।

सम्यक्चारित्र में जिन पाँच महाव्रतों का उल्लेख किया गया है, योगसूत्र में भी उन्हें पाँच महाव्रतों के रूप ही माना है और यही योगाङ्गों में यम नामक प्रथम अङ्ग माना गया है। अत: यहाँ पर ज्ञानार्णव और योगसूत्र को आधार बनाकर योगाङ्गों का तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत किया जाना अपेक्षित हो सकता है।

योगाङ्ग –

भारतीय योगशास्त्रियों में इस विषय में मतैक्य नहीं है। कितने ही यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि इन आठ को योग के अङ्ग मानते हैं। कितने ही आठ अंगों में से यम और नियम को छोड़कर आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि इन छहों को ही योग के अंग मानते हैं। कतिपय इनसे भिन्न उत्साह, निश्चय, धैर्य, सन्तोष, तत्त्वनिश्चय और देशत्याग इन छह को योग की सिद्धि का हेतु मानते हैं। एक अन्य मत के अनुसार ध्यान के प्रधान चार कारण हैं – गुरूपदेश, श्रद्धान, सदाभ्यास, स्थिरमन।[2]

उपर्युक्त विभिन्न मतों के सन्दर्भों का परिशीलन करने से ज्ञात होता है कि आचार्य शुभचन्द्र के सामने योगांगों की अनेक मान्यताएँ एवं उनकी भिन्न-भिन्न संख्याएँ प्रचलित थीं। इसीलिए ज्ञानार्णव में इन मान्यताओं का, किसी का नाम के साथ और किसी का बिना नाम ही, संग्रह हुआ है। यह बात भिन्न है कि इनका विवरण क्रमश: या प्रसंगानुसार, दोनों रूपों में वहाँ उपलब्ध नहीं होता है। किन्तु उसे यत्र-तत्र बिखरी सामग्री से संगृहीत अवश्य किया जा सकता है।

ज्ञानार्णव में जिन योगांगों का नामोल्लेख के साथ वर्णन है वे हैं – आसनजय, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारण और ध्यान। इनके अलावा समाधि, यम और नियम को नामान्तरों के रूप में देखा जा सकता है। यथा – मोक्ष के मार्गभूत रत्नत्रय का वर्णन करते हुए सम्यक्चारित्र के प्रसंग में अहिंसादि पाँच महाव्रतों की प्ररूपणा सविस्तार हुई है। जिनको कि यम और नियम के रूप में देखा जा सकता है।

योगसूत्र के अनुसार योग का प्रथम अंग यम है और शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय

1. गोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा 475.
2. ज्ञानार्णव 20/12

और ईश्वरप्रणिधान इनको नियम कहा जाता है।[1] इसी प्रकार ज्ञानार्णव में परिग्रह की आशा को हेय बतलाते हुए क्रोधादि कषायों को छोड़ने और राग, द्वेष, मोह व इन्द्रियों पर विजय करने इत्यादि का जो उपदेश दिया गया है वह नियम का ही रूप है। जिसे योगसूत्र में समाधि कहा गया है उसे ही ज्ञानार्णव में शुक्ल ध्यान के नाम से वर्णित किया गया है।

इस तरह हम योग के आठों अंगों की प्ररूपणा ज्ञानार्णव में भी पाते हैं। यह और बात है कि ज्ञानार्णव में किसी-किसी अंग को पर्याप्त महत्त्व नहीं मिल पाया है या अपेक्षाकृत उनका विस्तृत विवेचन नहीं हो सका है।

यम और नियम का नामोल्लख की अपेक्षा जैन परम्परा में सर्वप्रथम उल्लेख गणधरस्वामीकृत मान्य प्रतिक्रमण पाठ में उपलब्ध होता है।[2] किन्तु इसकी विवेचना के रूप में यह आचार्य वट्टकेर द्वारा सुलभ होता है। जहाँ वे इसे कालसापेक्ष विभाजित करते हुए कहते हैं -

'सम्यग्ज्ञानादिक रत्नत्रय साध्य हैं और इसके साधन यम और नियम हैं। इस नियम और यम में से यम नामक उपाय आजन्म का है अर्थात् महाव्रतादिक आजन्म धारण करने चाहिए और नियम सामायिक, प्रतिक्रमणादि अल्पकालावधि का है। ये जीव के नियम-यम रूप परिणाम रत्नत्रय प्राप्ति के साधक हैं।'[3]

योगसूत्र के अनुसार योग के आठ अंगों के अनुष्ठान से विवेकख्याति पर्यन्त ज्ञानदीप्ति होती है।[4] तत्पश्चात् सम्प्रज्ञात समाधि परिपक्व हो जाने पर 'सर्ववृत्तिनिरोध' रूप असम्प्रज्ञात समाधि का आविर्भाव होता है। इनमें से धारणा, ध्यान और समाधि ये तीन योग के अन्तरंग साधन हैं तथा पूर्व के पाँच बहिरंग साधन हैं। इन सबका पृथक् नाम निर्देश इनकी योगसाधना में अनिवार्यता का सूचक है।

योगसूत्र के समाधिपाद में अभ्यास, वैराग्य, श्रद्धा तथा वीर्यादि के सतत् अनुष्ठान से समाधि-सिद्धि बतलाई है, किन्तु उनका अन्तर्भाव इन्हीं आठों अंगों में है। यथा - प्रत्येक योगांग का बारम्बार अनुष्ठान ही अभ्यास है। वैराग्य का नियमान्तर्गत सन्तोष में तथा श्रद्धा आदि का यथायोग्य तप आदि में अन्तर्भाव होता है। पूर्वोक्त परिकर्मों का धारणा, ध्यान और समाधि में अन्तर्भाव है। साधनपाद में वर्णित तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान रूप क्रियायोग का नियमों में सद्भाव है।

---

1. योग सूत्र 2-32
2. जम-णियम-सील-मूलुत्तर-गुणेसु ....। - प्रतिक्रमणपाठ (क्रियाकलाप) पृ.111.
3. णाणादिरयणतियमिह सज्झं तं साधयति जमणियमा।
   जत्थ जमा सस्सढिया, णियमा णियढप्पपरिमाणा ॥ - मूलाचार, (प्रक्षिप्त) गाथा 2.
4. योगसूत्र, 2/28.

महाभारत में भी योग के आठ ही अंग बतलाये गए हैं -

वेदेषु चाष्टगुणिनं योगमाहुर्मनीषिणः ।[1]

इसी का अनुकरण लिंगपुराण में भी हुआ है -

साधनान्यष्टधा चास्य ।[2]

आचार्य शुभचन्द्र ने अष्टांग योग के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए लिखा है, कि जिस मुनि ने उक्त यमादिकों का अभ्यास कर लिया है, वह परिग्रह से रहित होकर निर्ममत्व होता हुआ रागादि क्लेशों से रहित हुए मन को अपने आधीन कर लेता है। श्रेष्ठ आचार्यों ने योग के जिन आठ अंगों का उल्लेख किया है वे मन की प्रसन्नता के द्वारा मुक्ति के कारण होते हैं।[3]

विविध संक्लेश संकुल संसार से निर्वृत्ति के लिए क्रमशः अन्तर्मुख होने का सुगम साधनमार्ग अष्टांग योग है, जिसमें अन्य किसी साधना की अपेक्षा न होने से यमों का सर्वप्रथम स्थान है। इसी प्रकार क्रमानुसार उत्तरोत्तर आसन, प्राणायाम आदि स्वपूर्ववर्ती नियम, आसनजयादि कारण सापेक्ष है। यमों को अपने पूर्व अष्टांग योग में से किसी के भी अनुष्ठान की अपेक्षा नहीं होती है। इन यमों के नाम अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह हैं।

इन्हीं अहिंसादिक का अनुष्ठान जब सार्वभौम अर्थात् सबके साथ सब जगह और सब काल में समान भाव से किया जाता है तब ये महाव्रत हो जाते हैं।[4]

आचार्य समन्तभद्र स्वामी एवं सोमदेवसूरि ने भी जीवनपर्यन्त धारण किए जाने वाले व्रतों को यम एवं सावधिक - सीमित काल पर्यन्त धारण किए जाने वाले व्रतों को नियम कहा है।[5] यम रूप महाव्रतों का लक्षण मूलाचार, रत्नकरण्डश्रावकाचार आदि ग्रन्थों में निम्न प्रकार निर्दिष्ट किया है -

हिंसादि पाँच पापों का मन, वचन, काय, कृत, कारित, अनुमोदना से त्याग करना महापुरुषों के द्वारा महाव्रत कहा गया है।[6]

अहिंसा महाव्रत का स्वरूप -

जैनधर्म अहिंसा प्रधान है। परन्तु अहिंसा का क्षेत्र इतना संकुचित नहीं है जितना

1. लिंगपुराण, 1/8/7. 2. शान्ति पर्व, 216/7.
3. ज्ञानार्णव 20/3,4 4. योगसूत्र 2, 30, 31
5. रत्नकरण्डक श्रावकाचार, 87, उपाकाध्ययनांग 761, द्वात्रि (यशोविजय) 21-2,
6. मूलाचार 1-4, तत्त्वार्थसूत्र 7-1, रत्नकरण्डक श्रावकाचार 72

कि लोक में समझा जाता है। इसका व्यापार बाहर व भीतर दोनों ओर होता है। बाहर में किसी भी छोटे या बड़े जीव को अपने मन, वचन या काय से किसी प्रकार की भी हीन कम या अधिक पीड़ा न पहुँचाना तथा उसका दिल न दुखाना अहिंसा है, और अन्तरंग में रागद्वेष परिणामों से निवृत्त होकर साम्यभाव में स्थित होना अहिंसा है।[1] बाह्य अहिंसा को व्यवहार अहिंसा और अन्तरंग अहिंसा को निश्चय अहिंसा कहते हैं। वास्तव में अन्तरंग में आंशिक साम्यता आए बिना अहिंसा सम्भव नहीं है और इस प्रकार इसके अतिव्यापक रूप में सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य आदि सभी सद्गुण समा जाते हैं। इसीलिए अहिंसा को परमधर्म कहा जाता है।[2] जल, थल आदि में पूर्ण अहिंसा पलनी असम्भव है, पर यदि अन्तरंग में साम्य और बाहर में पूरा-पूरा यत्नाचार रखने में प्रमाद न किया जाए तो बाह्य जीवों के मरने पर भी साधक अहिंसक ही रहता है।[3]

आचार्य शुभचन्द्र ने अहिंसा महाव्रत का वर्णन करते हुए लिखा है - जिस व्रत में वचन, मन और शरीर से स्वप्न में भी त्रस-स्थावर प्राणियों का घात प्रवृत्त नहीं होता वह प्रथम अहिंसा व्रत कहा गया है। जो प्राणी समूह के विषय में प्रमादयुक्त होते हैं, उनके रक्षण में असावधान होते हैं उनसे प्राणघात हो अथवा न हो तब भी कर्मबन्ध अवश्य ही होता है। किन्तु जिनकी आत्मा अहिंसा से संवृत्त है, जो प्राणी रक्षण में सदा सावधान है उनके कर्मबन्ध नहीं होता।[4] अतः प्रमाद को छोड़कर परिणामों की निर्मलता पूर्वक संयम और कषायों को उपशमित करने के लिए समस्त प्राणियों के समूह को बन्धु की बुद्धि से अर्थात् मित्रता के भाव से देखना चाहिए।

आगे हिंसा की हेयता व अहिंसा की उपादेयता का विस्तृत वर्णन करते हुये लिखा है -

"हिंसा, नरकरूप घर में प्रविष्ट होने के लिए उन्नत गोपुर - द्वार है। जिस प्रकार नगर या प्रासाद में प्रविष्ट होने के लिए उसका प्रधान द्वार ही कारण है। उसी प्रकार नरकों में भीतर प्रवेश पाने के लिए मुख्य कारण हिंसा है।

उत्तमक्षमादि की वृद्धि से प्राप्त धर्म को हिंसा क्षणभर में नष्ट कर देती है। क्षणभर के लिए प्राणी घात का विचार किया जाता है उससे तप संयमादि सब नष्ट हो जाते हैं।

विषय-कषाय से पीड़ित पाखण्डी हिंसा का उपदेश देने वाले शास्त्र रचकर जीवों को भयानक नरकादि में ले जाते हैं, यह अनर्थ है।

---

1. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, 44.
2. उपासकाध्ययन, 781.
3. प्रवचनसार, 3/17.
4. ज्ञानार्णव, 7, 8, 10

जो मांस भक्षण करते हैं। अन्य प्राणीघात में प्रयत्नशील रहते हैं। वे भयानक रौरवादि नरकों में प्रविष्ट हो पीड़ा अनुभवन करते हैं।

जो मनुष्य रोगादि की शान्ति, देवपूजा, यज्ञसिद्धि के लिए प्राणीघात करते हैं वह इस कारण शीघ्र ही नरक में जाते हैं।

हिंसा नरकादि रूप दुर्गति का द्वार है। वह पाप का समुद्र और भयानक नरक का गाढा-अन्धकार है।

सुख के निमित्त से की गई हिंसा दु:ख को, मंगल के निमित्त से की गई हिंसा अमंगल को, जीवित इच्छा के निमित्त से की गई हिंसा मरण को देती है।

जो मूढ अधम धर्मबुद्धि से जीवों को मारता है सो वह पाषाण की शिलाओं पर बैठकर समुद्र को तैरने की इच्छा करता है।

जिस शास्त्र में हिंसा का पोषण है और जिस आचरण में हिंसा का संसर्ग है उस आचरण से भी क्या लाभ है ? कुछ नहीं। उसके संसर्ग से दुर्गति प्राप्त होती है।

सर्व प्राणियों पर दया भाव को प्रगट करने वाला एक अक्षर श्रेष्ठ है, परन्तु विषयकषायी पुरुष द्वारा रचित इन्द्रियपोषक पापरूप कुशास्त्र श्रेष्ठ नहीं है।''[1]

इस हिंसा - निषेध के प्रसंग में देव, धर्म, गुरु और शास्त्र को निमित्त बनाकर की जाने वाली हिंसा का ज्ञानार्णवकार द्वारा जो बार-बार निषेध किया गया है उससे ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य शुभचन्द्र देव के समय धर्म के नाम पर हिंसा का बोलबाला था। शान्तिकर्म, यज्ञकर्म आदि में हिंसा के निषेध से वैदिक काल में होने वाली पशुहिंसा का निषेध समझना चाहिये।[2] जैन धर्म के अनुसार किसी भी हालात में हिंसा उपादेय नहीं हो सकती भले ही हम अपने जीवन में पूर्ण अहिंसक न बन पाए फिर भी धर्म का लक्षण तो पूर्ण अहिंसा ही है। अहिंसा की पूर्णता को बडे-बड़े तीर्थंकर जैसे महायोगी श्रमण मुनि ही प्राप्त कर पाते हैं। फिर भी हमें अपनी स्थिति और सामर्थ्य के अनुसार अहिंसा का पालन करना चाहिए।

यह सब ही शास्त्रों में और सब ही मतों में सुना जाता है कि धर्म का लक्षण अहिंसा है और इसके विपरीत प्राणियों का घात किया जाना पाप है।[3]

उपर्युक्त विवेचन से यह बात स्पष्ट है कि आचार्य शुभचन्द्र की दृष्टि में वही धर्म, गुरु और शास्त्र समीचीन है जिसमें अहिंसा को ही धर्म का श्रेष्ठ लक्षण माना है और कहीं

1. ज्ञानार्णव, 12 से 242, वही 26
2. स्वयंभूस्तोत्र पद्य 119
3. वही 8 अध्याय 30 पद्य

पर किसी भी परिस्थिति में हिंसा का समर्थन नहीं किया गया हो।[3] धर्म के नाम पर की जाने वाली हिंसा स्व-पर के लिए महान् अनर्थकारी है। जिन मतों में धर्म को आश्रय बनाकर पूजा, यज्ञ, शान्तिकर्म देवता आदि के निमित्त से प्राणी वध होता है या उसका अनुमोदन किया जाता है वह सब कुमत है और उसका उपदेश करने वाला गुरु कुगुरु और शास्त्र कुशास्त्र है। सम्पूर्ण योग साधना का मूल अहिंसा ही है। योगशास्त्रीय व्यास भाष्य की टीका में महर्षि व्यास ने भी प्राणी वर्ग पर सर्वदा अनभिद्रोह को अहिंसा कहा है।[1] यह भी स्मरणीय है कि केवल वध न करना ही अहिंसा नहीं है, अपितु समस्त प्राणियों के प्रति मन, वचन, काय से मैत्री, करुणा आदि सद्भावों का पोषण भी अहिंसा के अन्तर्गत है। मन, वाणी एवं शरीर क्रमशः अनिष्ट चिन्तन, परुषभाषण तथा ताड़न आदि से किसी प्राणी को पीड़ा पहुँचाना हिंसा है। अतः इससे विपरीत आचरण अर्थात् मन, वचन और कर्म द्वारा सर्वदा और सर्वथा प्राणीमात्र के प्रति द्रोह त्याग करना योग सम्मत है। इसीलिए भगवान् व्यास ने समस्त प्राणीवर्ग का अनभिद्रोह कहकर अहिंसा की व्याख्या की है।[2]

सत्य महाव्रत -

जो बात जैसी है उसे वैसी ही कह देना सत्य तथा अन्यथा कहना असत्य है, ऐसा लोक में सत्य और असत्य का लक्षण प्रचलित है। किन्तु सत्य और असत्य की परिभाषा तात्त्विक दृष्टि से बड़ी ही महत्त्वपूर्ण है। इस दृष्टि से असत् अभिप्राय पूर्वक वचन कहना, चाहे वह ज्यों-की-त्यों बात को ही प्रकट क्यों न करता हो, असत्य हैं और सदभिप्राय पूर्वक वचन का व्यवहार करना सत्य है।[3] जैसा कि ज्ञानार्णवकार ने लिखा है -

'जिनेन्द्र भगवान् ने यम-नियमादि व्रतों का समूह कहा है वह एक मात्र अहिंसा व्रत की रक्षा के लिए ही कहा है। क्योंकि अहिंसाव्रत यदि असत्य वचन से दूषित हो तो वह उत्कृष्ट पद को प्राप्त नहीं होता अर्थात् असत्य वचन के होने से अहिंसा व्रत पूर्ण नहीं होता। जो वचन जीवों का इष्ट (हित) करने वाला हो, वह असत्य हो तो भी सत्य है और जो वचन पापसहित हिंसा रूप कार्य को पुष्ट करता हो, वह सत्य हो तो भी असत्य और निन्दनीय है।'[4]

नियमसार में आचार्य कुन्दकुन्द ने सत्य महाव्रत का लक्षण इस प्रकार निरूपित किया है - 'जो साधु राग से द्वेष से अथवा मोह से होने वाले मृषा भाषा के परिणाम को छोड़ता है उसी के सदा दूसरा सत्य महाव्रत होता है।'[5]

1. योगशास्त्र, (व्यासभाष्य) 2/30.
2. पातंजलयोगसूत्र का विवेचनात्मक एवं तुलनात्मक अध्ययन, पृ. 126.
3. जैनधर्म विश्वधर्म, पृ. 42.
4. ज्ञानार्णव, 9/2-3.
5. नियमसार, गाथा 57.

मूलाचार में भी सत्यव्रत के विषय में इन्हीं से मिलते-जुलते भावों को व्यक्त किया गया है।[1]

सम्भाषण करने योग्य वचन का निर्देश करते हुए आचार्य शुभचन्द्र ने लिखा है - 'जो वचन सत्य और दया से व्याप्त है, विरोध से रहित, आकुलता को दूर करने वाला, ग्राम्य स्वरूप से रहित, सभ्य व शिष्ट, गौरव से सहित महानता का कारण हो उसकी शास्त्र में प्रशंसा की जाती है।'[2] नहीं बोलने योग्य वचनों का निर्देश करते हुए लिखा है - 'जो वचन शंका को उत्पन्न करने वाला, पाप स्वरूप, दोषों से परिपूर्ण और ईर्ष्या को उत्पन्न करने वाला हो ऐसे वचन पूछे जाने पर भी सत्पुरुषों को नहीं बोलना चाहिए और न वैसे वचनों को किसी प्रकार से सुनना चाहिए। जो वचन मर्म को विदीर्ण करने वाला, मन में काँटे के समान चुभने वाला, स्थिरता से भ्रष्ट करने वाला, विरोध को उत्पन्न करने वाला और दयारहित है उसे कण्ठगत प्राण होने पर भी नहीं बोलना चाहिए।'[3]

सत्यवादी पुरुषों की प्रशंसा करते हुए लिखा है - 'इस जगत् में वे पुरुष धन्य हैं, जिनके हृदय में करुणा रूप समुद्र उत्पन्न होकर वचन रूपी लहरों के समूह के उल्लासों से जीवों को शान्ति प्रदान करता है। जहाँ धर्म का नाश होता हो, क्रिया बिगड़ती हो तथा समीचीन सिद्धान्त का लोप होता हो तो वहाँ समीचीन धर्म, क्रिया और सिद्धान्त के प्रकाशनार्थ बिना पूछे भी विद्वानों को बोलना चाहिए। क्योंकि यह सत्पुरुषों का कार्य है।'[4]

सत्य वाणी का माहात्म्य वर्णन करते हुए कहा है - 'जीवों को जिस प्रकार कर्णप्रिय वाणी सुखी करती है, उसी प्रकार चन्दन, चन्द्रमा, चन्द्रमणि, मोती तथा मालती के पुष्पों की माला आदि शीतल पदार्थ सुखी नहीं कर सकते। जिन पुरुषों ने अपना जन्म यम व व्रतादि गुणों से संयुक्त सत्य शास्त्रों के अध्ययन पूर्वक व्यतीत किया है वे ही धन्य हैं और वे विद्वानों के द्वारा भी पूजनीय हैं।'[5]

सत्य वचन का सुफल - जिन मनुष्यों की सेवा देवादिक करते हैं, ऐसे तीर्थंकर चक्रवर्ती आदि होते हैं उनके अग्नि में प्रवेश करने पर या जल में गिरने पर भी देवादिक उनकी सहायता करते हैं, यह सत्य सुवचन का सुफल है।[6]

संसार का अधिकांश व्यवहार वचनों के माध्यम से ही चलता है। यदि मानव जगत् से वचन की प्रवृत्ति नष्ट हो जाए तो मनुष्य और पशु व्यवहार में कुछ भी अन्तर न रहे। वचन में असीम शक्ति निहित है। एक वचन वह है जो दु:खी, अशान्त और व्याकुल मनुष्य के अन्त:करण में अमृत घोलकर मृत्यु के मुख से भी निकालकर जीवन प्रदान

1. मूलाचार, गाथा 6/290.
2. ज्ञानार्णव, 9/5.
3. वही, 9/12.
4. वही, 9/14-15.
5. ज्ञानार्णव, 9/20.
6. वही, 9/42.

करता है। इससे विपरीत एक वचन ऐसा भी होता है जो हृदय में तीर-जैसा चुभ जाता है और तलवार, छुरी और बंदूक की गोली के आघात से भी अधिक पीड़ा पहुँचाता है। अतः मनुष्यों को चाहिए कि वह वचन का ठीक-ठीक व्यवहार करे।

अस्तेय महाव्रत -

'स्तिन् स्तेये' धातु से भावार्थक यत् प्रत्यय और न का लोप होने से स्तेय शब्द निष्पन्न होता है, इसका अर्थ चोरी अथवा तस्करता है। स्तेयाभाव को अस्तेय कहते हैं। अतः अस्तेय का अर्थ है चोरी अथवा बलात्कारपूर्वक किसी के द्रव्य को ग्रहण न करना।[1] अस्तेय के विपरीत स्तेय है। अर्थात् बिना दिये परवस्तु को ललचाकर ग्रहण करना अदत्तादान या चोरी है। चोरी में दूसरों की धनादि वस्तुओं को चुराकर हड़प जाने की तीव्र लालसा रहा करती है। इससे व्यक्ति का नैतिक पतन तो होता ही है साथ में जिसकी चीज चुराई जाती है, उसे भी कष्ट पहुँचता है। इसलिए यह भी हिंसा का एक अंग है।

धन-सम्पत्ति को लोक में मनुष्य का बाहिरी प्राण कहा जाता है। इसे प्राप्त करने में मनुष्य दिन-रात परिश्रम करते हुए शारीरिक और मानसिक अनेक प्रकार के कष्ट सहन करते हैं। अपने कमाये हुए धन को प्राणों से भी प्यारा समझते हुए उसे सुरक्षित रखने का भी प्रयत्न करते हैं। एक पैसा भी खो जाए या सुई-जैसी वस्तु का भी पता न चले तो उनके प्राण व्याकुल हो जाते हैं। फिर भला अधिक कीमती वस्तुओं को उसकी बिना मर्जी या आज्ञा के चुरा लेने में किसे दुःख न होगा ? अपनी किसी वस्तु के दूसरों द्वारा चुरा लिये जाने पर उसके कष्ट का अनुभव आसानी से हो सकता है। इसके सिवाय बिना दिए पर वस्तु को चुराते समय अन्तरात्मा में भी भय एवं आकुलता का अनुभव होता है। इसलिए स्व-पर कष्टप्रद होने के कारण चोरी हिंसा का ही अंग है।[2]

संसारी जीवों के जिस प्रकार जीवन के कारणभूत इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वासादि अन्तःप्राण हैं, उसी प्रकार धन, धान्य, सम्पदा, बैल, घोड़ा, दासी, दास, मन्दिर, पृथ्वी आदिक जितने पदार्थ पाए जाते हैं, वे सब उनके जीवन के कारणभूत बाह्य प्राण हैं। इसलिए उनमें से एक भी पदार्थ का वियोग होने से जीवों को प्राणघात सदृश दुःख होता है, इसी से कहते हैं कि चोरी साक्षात् हिंसा है।[3]

भाई, माता, पिता, पुत्र, स्त्री, मित्रादि कोई भी चोर का संसर्ग क्षणभर के लिए नहीं चाहते अथवा चोर का कोई सगा नहीं होता। इस लोक में चोर के संसर्ग से महापुरुष लघुता को प्राप्त हुए। गुणी पुरुष खंडित किये गए और मुनिगण भी मारे गए। अतः आचार्य कहते हैं कि 'हे आत्मन्! नदी, पर्वत, ग्राम, वन तथा घर में रखे हुए, गिरे हुए, नष्ट हुए पर धन को मन, वचन, काय से ग्रहण करना छोड़ दे।'[4].

1. योगसारसंग्रह, पृ. 62.
2. ज्ञानार्णव, 10/3.
3. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, 103.
4. ज्ञानार्णव, 10/9, 13, 16.

बुद्धिमानों को परधन ग्रहण करने की इच्छा तो स्वप्न में भी दूर है किन्तु दन्त धोने को तृण भी बिना दिया हुआ ग्रहण नहीं करना चाहिए। जो धर्म रूपी वृक्ष को विषयविरति रूप जड़ से स्थिर, संयम रूप ऊँची शाखाओं से विस्तृत महाव्रत रूप पत्तों से एवं कषायोपशम रूप पुष्पों से सुशोभित ज्ञान की लीलारूप फलों से संयुक्त और पण्डित जन रूप पक्षियों से सेवित है उसे मुनि भी यहाँ चोरी रूप तीव्र अग्नि के द्वारा जला डालता है।[1]

महर्षि व्यास ने भी अशास्त्रीय विधि से दूसरों के धन के स्वीकरण को स्तेय तथा उसके विरुद्ध स्तेय में स्पृहा के अभाव को अस्तेय कहा है।[2] इन्द्रिय से परद्रव्याप-हरण तो दूर की बात है, मन से भी अन्यायपूर्वक परद्रव्य स्वीकरण के इच्छाराहित्य को अस्तेय कहते हैं। अत: निज स्वरहित वस्तु के ग्रहण एवं उसके ग्रहणस्पृहा के परित्याग की चेष्टा ही अस्तेय का साधन है। इस विषय में श्रुति भी दृष्टव्य है -

मा गृद्धः कस्यचिद्धनम्।[3]

ब्रह्मचर्य महाव्रत -

ब्रह्मचर्य यम का चतुर्थ अंग है। ब्रह्म का अर्थ आत्मा और चर्य का अर्थ रमण करना अर्थात् स्त्री आदि बाह्य वस्तुओं से उपयोग को हटाकर आत्मा का आत्मा में ही रमण करना (लीन होना) वास्तविक ब्रह्मचर्य है। इसका पालन शारीरिक, नैतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से भी बहुत आवश्यक है। शारीरिक दृष्टि से इसलिए कि इसके द्वारा वीर्य की रक्षा होने से बल का ह्रास नहीं हो पाता।

ब्रह्म शब्द का अर्थ निर्मल ज्ञानस्वरूप आत्मा है, उस आत्मा में लीन होने वाले जिस मुनि का मन अपने शरीर के भी सम्बन्ध में निर्ममत्व हो चुका है, उसी के ब्रह्मचर्य होता है।[4] अथवा मन, वाणी एवं कर्म द्वारा सब अवस्थाओं में सर्वत्र, समस्त प्राणियों में मैथुन का परित्याग ब्रह्मचर्य कहलाता है।[5]

बाह्याभ्यन्तर ब्रह्मचर्य - अध्यात्म मार्ग में ब्रह्मचर्य को सर्वप्रधान माना जाता है। निश्चय से देखने पर क्रोधादि निग्रह का भी इसी में अन्तर्भाव हो जाने से इसके जो उत्तर भेद अठारह हजार हैं वे भी सम्मिलित हैं। परन्तु स्त्री के त्याग रूप ब्रह्मचर्य की भी लोक व परमार्थ दोनों क्षेत्रों में बहुत महत्ता है। वह ब्रह्मचर्य अणुव्रत रूप से भी ग्रहण किया जाता है और महाव्रत रूप से भी।

जो पुण्यात्मा स्त्रियों के सारे सुन्दर अंगों को देखकर भी उनमें राग रूप बुरे

1. ज्ञानार्णव, 10/20.
2. पातंजलयोगसूत्र, पृ. 62.
3. ईशावास्योपनिषद् 2.
4. पद्मनन्दिपंचविंशतिका, 12/2.
5. योगसार संग्रह, 63.

परिणाम करना छोड़ देता है, वही दुर्धर ब्रह्मचर्य को धारण करता है।[1] अथवा अनुभूत स्त्री का स्मरण न करनें से, स्त्री विषयक कथा के सुनने का त्याग करने से और स्त्री के सटकर सोने और बैठने का त्याग करने से परिपूर्ण ब्रह्मचर्य होता है। अथवा स्वतन्त्र वृत्ति का त्याग करने के लिए गुरुकुल में निवास करना भी ब्रह्मचर्य है।[2]

ब्रह्मचर्य महाव्रत का स्वरूप – जिस व्रत का आलम्बन करके योगीगण परब्रह्म परमात्मा को जानते हैं अर्थात् उसे अनुभवते हैं और जिसको धीर-वीर पुरुष ही धारण कर सकते हैं, किन्तु सामान्य पुरुष धारण नहीं कर सकते, वह ब्रह्मचर्य नामक महाव्रत है। इन तीनों लोकों में ब्रह्मचर्य नाम का व्रत ही प्रशंसा करने योग्य है, क्योंकि जिन पुरुषों ने इस व्रत की निर्मलता निरतिचारता पूर्वक प्राप्त की है, वे पूज्य पुरुषों के द्वारा पूजे जाते हैं।[3]

आचार्य शुभचन्द्र ने ब्रह्मचर्यव्रत के प्रतिपक्षी मैथुन के दस प्रकारों का उल्लेख किया है, वे निम्न हैं – 1. शरीरसंस्कार, 2. पुष्टरस का सेवन, 3. गीत-वादित्र-नृत्य का देखना, 4. स्त्रीसंसर्ग करना, 5. स्त्री में किसी प्रकार संकल्प व विचार करना, 6. स्त्री अंग देखना, 7. स्त्री का सत्कार करना, 8. पूर्व में अनुभव किये गए सम्भोग का स्मरण करना, 9. आगे पाने की चिन्ता और 10. वीर्यक्षरण।[4]

योगभाष्यविवृत्ति में भी महर्षि दक्षमुनि ने अष्टमैथुनराहित्य को ब्रह्मचर्य का लक्षण कहा है। उनके अनुसार मैथुन के आठ भेद निम्न हैं – 1. स्मरण, 2. कीर्तन, 3. केलि, 4. प्रेक्षण, 5. गुप्तभाषण, 6. संकल्प, 7. अध्यवसाय और 8. क्रियानिवृत्ति।[5]

ब्रह्मचर्य पालन के उपाय – आचार्य शुभचन्द्र ने इन कामभोगों की निसारता को निदर्शित करते हुए विस्तार के साथ इनके परित्याग का उपदेश अपने ग्रन्थ ज्ञानार्णव में दिया है। वे कहते हैं –

'जो सज्जन कामभोगों से विरक्त होकर ब्रह्म की उपासना करते हैं। उन्हें अपने परिणामों को निर्मल रखने के लिए इन दस दोषों का परित्याग करना चाहिए।'[6]

'काम रूप अग्नि निश्चय से प्राणियों के हृदय में जलती है। परन्तु वह पीछे निर्दयतापूर्वक उनके अंग एवं उपांगों को जला डालती है। अभिप्राय यह है कि हृदय में कामवासना के उत्पन्न होने पर प्राणियों का सारा शरीर पीडित होता है।'[7]

पं. आशाधर ने इस दुर्निवार कामरोग के संयमन का विचार करते हुए कतिपय उक्तियाँ प्रस्तुत की हैं, जिनमें उसके लिए उचित परामर्श एवं उपाय भी निरूपित

1. बारसाणुवेक्खा, 80.
2. सर्वार्थसिद्धि, 9/6/413.
3. ज्ञानार्णव, 11/3.
4. ज्ञानार्णव, 11/7-9.
5. योगभाष्यविवृत्ति,
6. ज्ञानार्णव, 11/11.
7. वही, 11/15.

किये हैं -

'कामदेव रूप शत्रु ज्ञानियों की संगति, तप और ध्यान से भी नहीं जीता जाता है। वह केवल शरीर और आत्मा के भेदज्ञान से उत्पन्न हुए वैराग्य के ही प्रभाव से जीता जाता है।'[1]

इसी तरह अन्यत्र भी इस प्रकार के उपदेशों को देखा जा सकता है। यथा - मन के द्वारा ब्रह्मचर्य के विपरीत बातों का सोचना, जिसमें किसी नारी का चिन्तन करना, उससे सम्बन्धित घटनाओं का याद करना। इस प्रकार का चिन्तन व स्मरण करने का त्याग करने से ब्रह्मचर्य की रक्षा होती है।

वाणी को ब्रह्मचर्य के अनुरूप प्रयोग में लाना वाचिक ब्रह्मचर्य है। तात्पर्य यह है कि स्त्रियों से सम्बन्धित चर्चा नहीं करनी चाहिए। आमोद, प्रमोद, रहन-सहन रूपादि भावों के त्याग से ब्रह्मचर्य का पालन होता है।

ब्रह्मचर्यव्रत के पालन की निर्भरता शरीर पर भी है। मन या वाणी से किसी प्रकार की भूल या उच्छृंखलता हो जाने पर शरीर में प्रवृत्ति न होने से ब्रह्मचर्य की रक्षा होती है।

इस व्रत की सुरक्षा के लिए आचार्य शुभचन्द्र का उपदेश तो इतना भी है कि - 'ब्रह्मचर्यव्रत को निर्मल रखने के लिए केवल स्त्रियों के ही संसर्ग का परित्याग करना आवश्यक नहीं है, बल्कि कामकला का आलम्बन करने वाले दुराचारियों के भी संसर्ग का परित्याग करना आवश्यक है।'[2]

इस सन्दर्भ में आचार्य महाचन्द मुनि का यह मत विशेष उल्लेखनीय है - 'जिस तरह नदी के निकट रहे हुए वृक्ष का समय आने पर विनाश होता है, वैसे तपस्वियों का तप स्त्री-संग से नाश होता है।'[3]

ब्रह्मचर्य की साधना के लिए वृद्ध सेवा की अनिवार्यता का प्रतिपादन आचार्य शुभचन्द्र का अपना विशिष्ट प्रमेय है। इसे उन्होंने जितना परिपुष्ट और पल्लवित किया है वह अन्यत्र दुर्लभ ही नहीं अपितु अलभ्य भी है। उनके कतिपय सन्दर्भों का निदर्शन कराना उचित होगा। यथा -

'दोनों लोकों की सिद्धि, परिणामों की निर्मलता तथा ज्ञान एवं विनय की वृद्धि के लिए वस्तुतः वृद्धजनों की सेवा की ही प्रशंसा की जाती है। वृद्धजनों से अभिप्राय यहाँ उन वृद्धों का नहीं है जो केवल आयु से अधिक होते हैं, किन्तु जो आगम मे पारंगत होकर

1. सागारधर्मामृत, 6/32.
2. अष्टांगयोगरहस्य, पृ. 39.
3. वही, पृ. 39.

संयम का परिपालन करते हैं। जो आत्म-पर स्वरूप के ज्ञाता होने से संसार, शरीर एवं भोगों की ओर से विरक्त रहते हैं, तथा जो दृढ़तापूर्वक तप एवं ध्यान में लीन रहते हैं, उन महात्माओं को यहाँ वृद्ध पद से ग्रहण करना चाहिए। कारण कि ऐसे महापुरुष ही आत्महित के साथ परहित के सम्पादन में भी समर्थ होते हैं। इसके विपरीत जो अवस्था में वृद्ध होते हैं वे पर का कल्याण तो कर ही नहीं सकते, किन्तु साथ ही वे आत्महित के साधन में भी असमर्थ हो जाते हैं। इसका कारण यह है कि उस समय उनका शरीर शिथिल हो जाता है, इन्द्रियाँ अपना कार्य नहीं करती हैं तथा स्मृति क्षीण और विचारशक्ति नष्ट हो जाती है।'[1]

'जो पुरुष वृद्धसेवा का आश्रय लेते हैं उनकी कषायरूप अग्नि रागादि सहित शान्त हो जाती है, मन प्रसन्न वा निर्मल हो जाता है।' आगे वृद्ध सेवा की प्रेरणा करते हुए आचार्य कहते हैं - 'कि हे दुर्बुद्धि आत्मन्! गुरुजनों की साक्षीपूर्वक अर्थात् गुरुजनों के निकट रहकर तू अपने वैराग्य को तो निर्मल कर और संसार, देह, भोगों से लेश मात्र भी राग मत कर तथा चित्तरूपी दैत्य जो कि स्वेच्छा से प्रवर्तता है, उसे वश में कर और उत्कृष्ट बुद्धि को अंगीकार कर, क्योंकि ये गुण गुरुजनों की सेवा करने से ही प्राप्त होते हैं।'[2]

'वृद्ध' शब्द के अर्थावधारण में आचार्य शुभचन्द्र की अपनी ही अवधारणा प्रतीत होती है, जो परम्परा से हटकर नए व विकसित अर्थ की ओर प्रवृत्त हुई है। वे कहते हैं - 'जो मुनि तप, शास्त्राध्ययन, धैर्य, ध्यान, विवेक, यम तथा संयमादि से वृद्ध हुये हैं वे ही वृद्ध होते हैं। केवल अवस्था मात्र अधिक होने से व केश (बाल) सफेद होने से ही वृद्ध नहीं होते।'[3]

वृद्धसेवा का फल बतलाते हुए आचार्य शुभचन्द्र ने अनेक कार्यों की सिद्धि उससे मानी है। वे कहते हैं - 'वृद्धों की सेवा करने वाले पुरुषों के ही चारित्र आदि सम्पदा होती है। क्रोधादि कषायों से मलिन मन निर्मल हो जाता है। जिनकी आत्मा सत्समागमरूप अमृत के प्रवाह से निरन्तर आर्द्र की गई है, उन मनुष्यों की विषय-तृष्णा भोगों के सुलभ होने पर भी शान्त हो जाती है। जिस मनुष्य की आत्मा सत्संगति से उत्पन्न हुए सम्यग्ज्ञान से अनुरंजित है वह कातरता को छोड़कर स्वयं धैर्य का ही आश्रय लेता है। योगीश्वरों की सत्संगति में रहने से आत्मानुभव की प्राप्ति और कर्मों का नाश होता है। संसारी मुनि योगीश्वरों के महापवित्र आचरण के अनुष्ठान को देखकर वा सुनकर उन योगीश्वरों की सेवित पदवी में सरलता से प्रवृत्त हो जाता है।'[4]

'जीवों को समस्त विद्याओं में चतुरता, विनय में अतिप्रवीणता तथा अपने सिद्धान्त में भावों की शुद्धि अर्थात् नि:सन्देहता आदि गुण सत्पुरुषों की सत्संगति से ही प्राप्त होते

1. वही, पृ. 40.
2. ज्ञानार्णव, 14/43.
3. बारहक्खर-कक्क, 205.
4. ज्ञानार्णव, 15/1.

हैं। जिसने गुरुकुल - गुरुसमूह की उपासना नहीं की, उसका विज्ञान प्रशंसा करने योग्य नहीं है। किन्तु वह मयूर के नृत्य के समान निन्दनीय है।'[1]

नीतिकारों का भी यही कहना है -

संदिग्धं हि परिज्ञानं गुरुप्रत्ययवर्जितम्।

अर्थात् जिस ज्ञान के उपार्जन में गुरुजन का विश्वास उपलब्ध नहीं हुआ वह परिमाण में अधिक होने पर भी समीचीनता के विषय में सन्देहास्पद ही रहता है। इससे वृद्ध समागम की उपोद्धयता सिद्ध ही है।[2]

अपरिग्रह महाव्रत -

परिग्रह का शाब्दिक एवं निरुक्ति अर्थ - परिग्रह शब्द में दो शब्द हैं - परि और ग्रह, परि उपसर्ग है और ग्रह ग्रहण करने के अर्थ में आने वाली धातु है। जो चारों ओर से ग्रहण करे, चारों ओर से बाँध दे उसका नाम परिग्रह है।

परिगृह्यत इति परिग्रहः बाह्यार्थः क्षेत्रादिः परिगृह्यते अनेनेति च परिग्रहः बाह्यार्थग्रहणहेतुरत्र परिणामः।'[3]

अर्थात् जो ग्रहण किया जाता है वह परिग्रह है। इस निरुक्ति के अनुसार क्षेत्रादि रूप बाह्य पदार्थ परिग्रह कहे जाते हैं। अथवा उन बाह्य पदार्थों के कारणभूत परिणाम भी परिग्रह में परिगणित होते हैं।

साधु का सब प्रकार के अन्तरंग एवं बाह्य परिग्रह से मुक्त होना अपरिग्रह महाव्रत है। अपरिग्रह का शाब्दिक अर्थ है अपने पास कुछ न रखना या किसी भी वस्तु पर अपना अधिकार नहीं जताना अथवा अपनी आवश्यकतानुसार ही वस्तु को रखना और अन्य अनावश्यक तृण भी परिग्रह है।

आचार्य उमास्वामी ने परिग्रह का लक्षण करते हुए कहा है - **मूर्च्छा परिग्रहः**[3] अर्थात् पर पदार्थों में ममत्व भाव रखना ही परिग्रह है। इसी लक्षण को लगभग समस्त आचार्यों एवं विचारकों ने बिना किसी विवाद के स्वीकार भी किया है।[4]

परिग्रह के भेद - बाह्य और आभ्यन्तर के भेद से परिग्रह दो प्रकार का है। बाह्य परिग्रह चेतन और अचेतन के भेद से दो प्रकार का है, जबकि अन्तरंग परिग्रह केवल चेतन रूप है। क्योंकि वे सब आत्मा के विकारी परिणाम हैं।[5] बहिरंग परिग्रह के वास्तु

1. ज्ञानार्णव, 15/2-3.
2. वही, 15/4.
3. राजवार्तिक सूत्र, सर्वार्थसिद्धि टीका
4. तत्त्वार्था सूत्र 7/17
5. ज्ञानार्णव 15/29 का उद्धरण 1.

(घर), क्षेत्र (खेत), धन, धान्य, द्विपद (मनुष्य), चतुष्पद (पशु, हाथी, घोडे), शयनाशन, यान, कुप्य और भाण्ड के भेद से दश प्रकार का है।[1]

अन्तरंग परिग्रह के चौदह अवान्तर भेदों के नाम इस प्रकार हैं - मिथ्यात्व, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद, पुंवेद, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, क्रोध, मान, माया और लोभ अथवा अनन्तानुबन्धी, प्रत्याख्यानावरण, अप्रत्याख्यानावरण, संज्वलनकषाय।[2]

दोनों प्रकार के परिग्रह के त्याग का निर्देश करते हुए आचार्य शुभचन्द्र लिखते हैं - 'कदाचित् अन्तरंग के परिग्रह में कोई परिग्रह विद्यमान रहे तो फिर उन्हें आत्मदृष्टा योगियों की संगति करनी चाहिए। क्योंकि मुनि को समस्त संघ का त्यागकर ध्यानस्थ रहने को कहा है। यदि ध्यानस्थ नहीं रहा जाए तो आत्मध्यानी योगीश्वरों की संगति में रहना चाहिए।'[3]

परिग्रह के दोष और अपरिग्रह से लाभ - परिग्रह के दोषों का वर्णन करते हुए आचार्य श्री शुभचन्द्र ने लिखा है - जिस प्रकार नाव में पाषाण आदि का बोझ बढ़ने से गुणवान अर्थात् रस्सी से बँधी हुई भी नाव समुद्र में डूब जाती है उसी प्रकार संयमी मुनि यदि गुणवान है तो भी परिग्रह के भार से संसार रूपी सागर में डूब जाता है। परिग्रह से काम (वाँछा) होता है और काम से क्रोध, क्रोध से हिंसा, हिंसा से पाप, पाप से नरकगति होती है। उस नरकगति में वचनों के अगोचर अतिदु:ख होता है। इस प्रकार दु:ख का मूल परिग्रह है। सूत्र सिद्धान्त में परिग्रह ही समस्त अनर्थों का मूल माना गया है। क्योंकि जिसके होने से रागादिक शत्रु न हो तो भी क्षणमात्र में उत्पन्न हो जाते हैं। परिग्रह से मोहित मुनि के रागादिक का जीतना सत्य, क्षमा, शौच और तृष्णा रहितपना आदि गुण नष्ट हो जाते हैं। यह मनुष्य परिग्रहों से पीड़ित होकर विषयरूपी सर्पों से काटा जाता है। कामरूपी वाणों से बेधा जाता है। स्त्रीरूपी शिकारी से रोका जाता है अर्थात् बांधा जाता है। अणुमात्र (थोड़ा सा) परिग्रह रखने से मोह कर्म की गाँठ दृढ़ होती है और इससे तृष्णा की ऐसी वृद्धि हो जाती है कि उसकी शान्ति के लिए समस्त लोक के राज्य से भी पूरा नहीं पड़ता।[4]

जब तक हृदय में सन्तोषवृत्ति का उदय नहीं होता, तब तक यह दुष्पूर्य तृष्णा एवं आसक्ति समाप्त नहीं होती।

नि:संगता का महत्त्व - जो मुनि परिग्रह रूपी कर्दम से निकल गया हो वही निराशता का अवलंबन कर सकता है और उस निराशता के होने पर वही मुनि परतन्त्रता स्वरूप दु:खों से कदापि घेरा व दबाया नहीं जाता। ठीक ही है, आशारहित होने पर

1. धवला, पु. 12 पृ. 282.
2. तत्त्वार्थसूत्र, 7/17.
3. ज्ञानार्णव, 1/14. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, 111 आदि।
4. ज्ञानर्णव, 16/3.

पराधीनता का दु:ख क्यों हो ?[1]

परिग्रह रहित संयमी चाहे निर्जन वन में रहे, चाहे भवन में, चाहे सुख में रहे, चाहे दु:ख में, उसको कहीं भी प्रतिबद्धता नहीं है, वह सब जगह सम्बन्ध रहित निर्मोही रहता है।[2]

विषयों में आसक्ति को संग कहते हैं। वह भी दोष है, क्योंकि इससे प्रबल भोगेच्छा जाग्रत होती है। भोगाभ्यास से विषय राग दृढतर होता है तथा इन्द्रियों में भोगपाटव की वृद्धि होती है। प्राणीपीड़न के बिना भोग सम्भव नहीं होता और प्राणिपीड़न हिंसा है। अत: योगसाधक के लिए शास्त्रीय विषय भी यथासंभव परित्याज्य है। यही अपरिग्रह है।[3] शास्त्रोक्त विपरीत द्रव्य के ग्रहण में तो स्पष्ट ही दोष है, विषयों के ग्रहण में भी पूर्वोक्त दोष होते हैं।

आचार्य शुभचन्द्र की दृष्टि से सर्वपरिग्रह का त्याग करना ही महाव्रत है। उपकरण के बहाने से किसी भी बाह्य परिग्रह- वस्त्र, भिक्षापात्र आदि भी उपकरण की सीमा में नहीं आते। उन्होंने लिखा है - श्रीमज्जिनेन्द्र भगवान् के परम आगम में समस्त परिग्रहों के त्याग को ही महाव्रत कहा है। जो कोई इससे अन्यथा कहता है वह अधम है और अपना तथा पर का घात करने वाला है।[4]

साधुता परिग्रह के त्याग में ही सुशोभित होती है और परिग्रहों में एक शरीर को छोड़ जितने भी पदार्थ हैं वे सभी बाहिरी परिग्रह हैं। जो परिग्रह को रखते हैं या अनुमोदना करते हैं वे स्वयं मोक्षमार्ग से भ्रष्ट होते हैं और दूसरों को भी निष्परिग्रहता से शिथिल करते हैं। अत: वे स्व-पर के घातक हैं।

आचार्य शुभचन्द्र का स्पष्ट मन्तव्य है कि 'जिस मुनि का चित्त परिग्रह रूपी पिशाच से अनेक प्रकार से पीड़ित है, उसका चित्त ध्यान करते समय कदापि स्वप्न में भी स्थिर नहीं रह सकता।'[5]

परिग्रह महाव्रत की सिद्धि के साधक को प्रथम ही आशा को छोड़कर निराशता का अवलम्बन करना होता है। कारण कि आशा के बने रहने से परिग्रह तो कभी भी संगृहीत हो सकता है। मनुष्यों के जैसे-जैसे शरीर तथा धन में आशा बढ़ती है, वैसे-वैसे उनके मोहकर्म की गाँठ दृढ़ होती जाती है। इस आशा को रोका नहीं जाए तो यह निरन्तर लोक पर्यन्त फैलती है और उससे इसका मूल दृढ़ होता जाता है। तब इसका नाश हो पाना अशक्य हो जाता है। इसलिए इसको प्रारम्भ में ही रोकना श्रेष्ठ है।

विषयाशा की व्यर्थता को निर्दर्शित करते हुए आचार्य शुभचन्द्र की ही तरह आचार्य

1. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, 116.
2. ज्ञानार्णव, 16/8.
3. ज्ञानार्णव, 16/23-4.
4. वही, 34.
5. वही, 35.

गुणभद्र की दृष्टि पवित्रता से भर उठती है, जब वे कहते हैं - 'हर एक जीवों की आशा रूपी गर्त इतना बड़ा है कि जिसमें विश्व ही अणु के समान अत्यल्प है। फिर किसके लिए क्या हिस्से में आएगा ? अत: तुम्हारी विषयों की इच्छा व्यर्थ है।'[1]

पञ्च समितियाँ -

तेरह प्रकार के चारित्र में, पञ्च महाव्रतों का वर्णन करने के पश्चात् उन व्रतों की सुरक्षा के लिए आचार्यों ने पाँच समितियों का विधान किया है।

समिति शब्द की व्याख्या सम्यक् प्रवृत्ति के रूप में की गई है। समिति श्रमण जीवन की साधना का विधायक पक्ष है। उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार समितियाँ आचरण की प्रवृत्ति के लिए हैं। श्रमण-जीवन में शरीर धारण के लिए अथवा संयम के निर्वाह के लिए जो क्रियाएँ की जाती हैं उनको विवेकपूर्वक संपादित करना ही समिति है। समितियाँ पाँच हैं - 1. ईर्या (गमन), 2. भाषा, 3. एषणा, (निर्दोष आहार ग्रहण), 4. आदान-निक्षेपण और 5. उत्सर्ग।[2]

1. ईर्यासमिति - मुनि प्रसिद्ध सिद्धक्षेत्रों तथा जिनप्रतिमाओं की वन्दना के लिए तथा गुरु आचार्य वा जो तप से बड़े हों उनकी सेवा करने के लिए, बहुत लोग जिसमें गमन करते हे ऐसे मार्ग में दया से आर्द्रचित्त होकर जीवों की रक्षा करता हुआ धीरे-धीरे गमन करे। चलने से पहले ही जिसने युग (चार हाथ प्रमाण) परिमाण मार्ग को भले प्रकार देख लिया हो और प्रमाद रहित हो ऐसी मुनि की ईर्यासमिति कही गई है।[3]

मुनि को आवागमन की क्रिया इस प्रकार संपादित करना चाहिए कि उसमें किसी भी प्रकार की हिंसा की संभावना न हो। इन समितियों की समग्र विवेचना में प्रमुख दृष्टि अहिंसा महाव्रत की रक्षा ही है।

2. भाषा समिति - धूर्त (मायावी), कामी, मांसभक्षी, चोर, नास्तिकमती चार्वाकादि से व्यवहार में लाई हुई भाषा तथा संदेह उपजाने वाली वा पापसंयुक्त हो ऐसी भाषा बुद्धिमानों को त्यागनी चाहिए तथा वचनों के दश दोष रहित सूत्रानुसार साधु पुरुषों को मान्य हो ऐसी भाषा को कहने वाले मुनि के उत्कृष्ट भाषा समिति होती है।[4]

विवेकपूर्ण भाषा का प्रयोग करना भाषा समिति है। इसके धारक मुनि को सदोष, कर्मबन्ध कराने वाली, कर्कश, परुष, परकोपिनी, अनीति व अनर्थकारी, हृदयविदारिणी, अतिमानिनी, जीवों को आघात और परिताप देने वाली अर्थात् दशधा भाषा नहीं बोलनी चाहिए। वरन् घबराये बिना, विवेकपूर्वक, समभाव रखते हुए और निक्षेप से युक्त हित, मित, मधुर एवं सत्य भाषा बोलना चाहिए।[5]

---

1. आत्मानुशासन, 36.
2. ज्ञानार्णव, 16/22.
3. वही, 16/39.
4. ज्ञानार्णव, 18/8-9
5. ज्ञानार्णव प्रक्षिप्त श्लोक 18/1-2.

वस्तुत: वाणी का विवेक सामाजिक जीवन की महत्त्वपूर्ण मर्यादा है। बर्क का कथन है कि 'संसार को दु:खमय बनाने वाली अधिकांश दुष्टताएँ शब्दों से ही उत्पन्न होती हैं।'[1] अत: वाणी का विवेक श्रमण और गृहस्थ दोनों के लिए आवश्यक होता है। श्रमण तो साधना की उच्च भूमिका पर स्थित होता है अत: उसे तो अपनी वाणी के प्रति बहुत ही सावधान रहना चाहिए।

3. एषणा समिति – एषणा का सामान्य अर्थ आवश्यकता या चाह होता है। साधक गृहस्थ हो या मुनि, जब तक शरीर का बन्धन है, जैविक आवश्यकताएँ उसके साथ लगी रहती हैं। जीवन धारण करने के लिए आहार, स्थान आदि की आवश्यकताएँ बनी रहती हैं। मुनि को अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति अयाचकवृत्ति के द्वारा किस प्रकार करना चाहिए, इसका विवेक रखना ही एषणा समिति है।

एषणा का अर्थ खोज या गवेषणा है। इस अर्थ की ही दृष्टि से यहाँ आहार, पानी, वसतिका आदि की विवेकपूर्वक गवेषणा करना एषणासमिति है।[1]

एषणा की शुद्धि सोलह उद्गमदोष, सोलह उत्पादन दोष, दश एषणा दोष, और धुआँ, अंगार, प्रमाण व संयोजन इन चार के मिलाने से होने वाले छयालीस दोषों से रहित होने से होती है। इसके अतिरिक्त इसमें चौदह मलदोष और बत्तीस अन्तरायों का भी परिहार किया जाता है। तात्पर्य यह है कि छयालीस दोषों से रहित और मन-वचन-काय, कृत-कारित-अनुमोदना आदि से रहित तथा शीतादि में समता भाव रूप जो आहार होता है वह निर्मल एषणासमिति होती है।[2]

आचार्य अकलंक स्वामी ने तत्त्वार्थ राजवार्तिक में एषणा का लक्षण लिखते हुए एक सुन्दर रूपक प्रस्तुत किया है, जो निम्नत: है – 'गुण रत्नों को ढोने वाली शरीर रूपी गाड़ी को समाधि नगर की ओर ले जाने की इच्छा रखने वाले साधु का जठराग्नि के दाह को शमन करने के लिए औषधि की तरह या गाड़ी में ओंगन देने की तरह अन्नादि आहार को बिना स्वाद के ग्रहण करना एषणा समिति है। यह देश, काल, प्रत्यय और नव कोटियों से विशुद्ध आहार ग्रहण करने से होती है।'[3]

4. आदाननिक्षेपण समिति – उपयोग में आने वाली प्रत्येक वस्तु को देख-भाल कर उठाना या रखना, जिससे कि किसी भी प्राणी की हिंसा न हो, आदाननिक्षेपण हैं। तात्पर्य वस्तुओं के उठाने-रखने आदि में पूर्ण सावधानी रखनी चाहिए।[4]

1. वही, 18/5-7, मूलाचार गाथा 10-11.
2. ज्ञानार्णव, 18/8-9., मूलाचार गाथा 12.
3. आचारांग, 2/3/133-140., दशवैकालिक, अध्ययन 7.
4. अमरवाणी, पृ. 107. तत्त्वार्था राजवार्तिक 9/5/6, पृ. 514

ज्ञान का उपकरण शास्त्र, संयम का उपकरण पिच्छी, शौच का उपकरण कमंडलु अथवा अन्य भी उपकरणों को प्रयत्नपूर्वक ग्रहण करना और रखना आदाननिक्षेपण समिति है।[1]

5. उत्सर्ग समिति (प्रतिष्ठापना समिति) – अहिंसाव्रत के निरतिचार पालनार्थ शारीरिक मलों को विवेकपूर्वक, एकान्त, जीवजन्तु रहित, गूढ, दूरस्थित, मर्यादित, विस्तीर्ण और विरोधरहित स्थान में मल-मूत्रादि का त्याग प्रतिष्ठापना समिति है।[2]

तात्पर्य जहाँ पर असंयतजनों का गमनागमन नहीं हो, ऐसे विजन स्थान को एकान्त कहते हैं। हरितकाय और त्रसकाय आदि से रहित जले हुए अथवा जले के समान, ऐसे स्थण्डिल - खुले मैदान को जीवजन्तुरहित कहा है। संवृत्त-मर्यादा सहित स्थान अर्थात् जहाँ लोगों की दृष्टि नहीं पड़ सकती है ऐसे स्थान को गूढ़ कहते हैं। विशाल या विलादि से रहित स्थान विस्तीर्ण कहा जाता है और जहाँ पर लोगों का विरोध नहीं है वह विरोधरहित स्थान है।[3]

बौद्ध-परम्परा और पाँच समितियाँ – बौद्ध परम्परा में यद्यपि समिति शब्द का प्रयोग उस अर्थ में नहीं हुआ है जिस अर्थ में जैनपरम्परा में व्यवहृत है। फिर भी समिति का आशय बौद्ध परम्परा में भी स्वीकृत है। संयुत्तनिकाय में बुद्ध कहते हैं 'भिक्षुओ! भिक्षु आने-जाने में सचेत रहता है। समेटने-पसारने में सचेत रहता है, देखने-भालने में सचेत रहता है। जाते, खड़े होते, बैठते, सोते, जागते, कहते, चुप रहते में सचेत रहता है। भिक्षुओ, इस तरह भिक्षु सम्प्रज्ञ होता है।'[4]

इस प्रकार हम देखते हैं कि बुद्ध पाँचों समितियों का विवेचन कर देते हैं मुनि की आवागमन की क्रिया के विषय में विनयपिटक में उल्लेख है कि मुनि सावधानीपूर्वक मन्थर गति से गमन करे। गमन करते समय वरिष्ठ भिक्षुओं से आगे न चले, चलते समय दृष्टि नीचे रखे तथा जोर-जोर से हँसता हुआ और बातचीत करता हुआ न चले।[5]

सुत्तनिपात में मुनि की भिक्षा वृत्ति के सम्बन्ध में बुद्ध के निर्देश उपलब्ध हैं, वे कहते हैं - रात्रि के बीतने पर मुनि गाँव में पैठे, वहाँ न तो किसी का निमन्त्रण स्वीकार करे न किसी के द्वारा गाँव से लाये गए भोजन को, न मुनि गाँव में आकर सहसा विचरण करे, चुपचाप भिक्षा करे और (भिक्षा के लिए) किसी भी प्रकार का संकेत करते हुए कोई बात न बोले। यदि कुछ मिले तो अच्छा है और न मिले तो भी ठीक, इस प्रकार दोनों अवस्थाओं में

1. ज्ञानार्णव, 18/10-11., मूलाचार गाथा 13.
2. वही, 9/5/7 पृ. 594.
3. 1. उत्तराध्ययन, 24/14., ज्ञानार्णव, 18/12-13., मूलाचार गाथा 14. मूलाचार, गाथा 15.
4. संयुत्तनिकाय, 34/5/1/7. 5. विनयपिटक, 8/4/4.

अविचलित रहकर वापस वन की ओर लौटे। गूंगे की तरह मौन हो, हाथ में पात्र लेकर वह मुनि थोड़ा दान मिलने पर उसकी अवहेलना न करे और न दाता का तिरस्कार करे।[1]

धम्मपद एवं सुत्तनिपात में मुनि की भाषा-समिति के सम्बन्ध में भी उल्लेख है। धम्मपद में कहा गया है कि जो भिक्षु वाणी में संयत है, मितभाषी है तथा विनीत है, वही धर्म और अर्थ को प्रकाशित करता है, उसका भाषण मधुर होता है।[2]

इस प्रकार बुद्ध ने चाहे समिति शब्द का प्रयोग न किया हो, फिर भी उन्होंने परम्परा के समान ही आवागमन, भाषा, भिक्षा एवं वस्तु के आदान-प्रदान व मलमूत्र विसर्जन आदि प्रवृत्तियों पर विचार किया है। बुद्ध के ये ही विचार उनके जैन परम्परा के निकटतम होने की पुष्टि करते हैं।

वैदिक परम्परा और पाँच समितियाँ - वैदिक परम्परा में भी संन्यासी को गमनागमन की क्रियाएँ काफी सावधानीपूर्वक करने का निर्देश दिया गया है।

महर्षि मनु का कथन है कि - संन्यासी को बिना जीवों को कष्ट पहुँचाए चलना चाहिए।[3] जबकि महाभारत के शान्तिपर्व में मुनि को त्रस और स्थावर प्राणियों की हिंसा को बचाकर ही गमनागमन की क्रिया करने का उल्लेख है।[4] भाषासमिति के सन्दर्भ में भी दोनों परम्पराओं में विचारसाम्य है। इसी तरह भिक्षावृत्ति के सम्बन्ध में भी वैदिक परम्परा के कुछ नियम जैन-परम्परा के समान ही हैं। जैसे - भिक्षावृत्ति के सम्बन्ध में दोनों जगह पाँच-पाँच भेद माने हैं। इनका विवरण *धर्मशास्त्र का इतिहास* के पहले भाग में विस्तार के साथ देखा जा सकता है। जो निम्न प्रकार है -

1. माधुकर - जिस प्रकार मधुमक्खी विभिन्न पुष्पों से उन्हें कोई कष्ट दिए बिना मधु एकत्रित करती है। उसी प्रकार दाता को कष्ट दिए बिना तीन, पाँच या सात घरों से जो भिक्षा प्राप्त की जाती है वह माधुकर है। 2. प्राक्प्रणीत - शयनस्थान से उठने के पूर्व ही भक्तों के द्वारा भोजन के लिए प्रार्थना कर दी जाती है और उससे जो भोजन प्राप्त होता है, वह प्राक्प्रणीत है। 3. अयाचित - भिक्षाटन करने के लिए उठने के पूर्व ही भोजन के लिए निमन्त्रित कर देना अयाचित है। 4. तात्कालिक - संन्यासी के पहुँचते ही जब कोई ब्राह्मण भोजन करने की सूचना दे वह तात्कालिक है और 5. उपपन्न - मठ में लाया गया पका भोजन उपपन्न है। इन पाँचों में माधुकर भिक्षावृत्ति को ही श्रेष्ठ माना गया है।[5]

1. सुत्तनिपात, 37/32-5.
2. धम्मपद, 363., सुत्तनिपात, 26/11.
3. मनुस्मृति, 6/40., धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 1 पृ. 492.
4. महाभारत, शान्तिपर्व, 109/15-9.
5. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 1, पृ. 492.

निक्षेपण और प्रतिष्ठापना समिति के सन्दर्भ में कोई निर्देश उपलब्ध नहीं होता, फिर भी इतना निश्चित है कि वैदिक परम्परा का दृष्टिकोण इस सम्बन्ध में जैन परम्परा का विरोधी नहीं है।

तीन गुप्तियाँ – पूर्वोक्त महाव्रतों के रक्षण एवं उनकी परिपुष्टि करने के लिए जैन परम्परा में पाँच समितियों और तीन गुप्तियों का विधान है। इन्हें अष्टप्रवचन माता भी कहा जाता है। ये आठ गुण श्रमण-जीवन का संरक्षण उसी प्रकार करते हैं, जैसे माता अपने पुत्र का करती है। इसीलिए इन्हें माता कहा गया है।[1] इनमें तीन गुप्तियाँ श्रमण साधना का निषेधात्मक पक्ष प्रस्तुत करती हैं और पाँच समितियाँ विधेयात्मक।

गुप्ति शब्द 'गुप्लृ रक्षणे' धातु से गोपन अर्थ में निष्पन्न होता है। इसके अन्य अर्थ होते हैं खींच लेना या दूर कर लेना। गुप्ति शब्द का दूसरा अर्थ ढँकने वाला या रक्षा-कवच भी है। प्रथम अर्थ के अनुसार मन, वचन और काय को अशुभ प्रवृत्तियों से हटा लेना गुप्ति है और दूसरे अर्थ के अनुसार आत्मा की अशुभ से रक्षा करना। ये तीन गुप्तियाँ हैं – 1. मनोगुप्ति, 2. वचनगुप्ति और 3. कायगुप्ति।[2]

मनोगुप्ति – रागद्वेष से अवलम्बित समस्त संकल्पों को छोड़कर जो मुनि अपने मन को स्वाधीन कर समताभावों में स्थिर रखता है तथा सिद्धान्त-सूत्र की रचना में निरन्तर प्रेरणा करता है उस बुद्धिमान् मुनि के सम्पूर्ण मनोगुप्ति होती है।

वचनगुप्ति – जो अपने वचन व्यापार पर नियन्त्रण रखता है अथवा जो संज्ञा (संकेत) आदि का परित्याग करके मौन पर आरूढ होता है, उसको स्वीकार करता है उस अतिशय बुद्धिमान् मुनि के वचनगुप्ति होती है।

कायगुप्ति – स्थिर किया है शरीर जिसने तथा परीषह आ जाने पर भी अपने आसनादि में स्थिर रहता है, उससे विचलित नहीं होता उस मुनि के कायगुप्ति मानी गई है।[3]

उत्तराध्ययन सूत्र में मुनि जीवन की अशुभ प्रवृत्तियों से निवृत्त होने के लिए इन तीन गुप्तियों का विधान किया गया है।[4] श्रमण साधक इन तीनों गुप्तियों के द्वारा अपने को अशुभ प्रवृत्तियों से दूर रखे, यही इसका तात्पर्य है।

रत्नत्रय का महत्त्व –

आचार्य शुभचन्द्र ने रत्नत्रय की महत्ता को स्थापित करते हुए लिखा है – इस त्रिभुवन के पूजित सम्यक्रत्नत्रय को द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव रूप सामग्री के अनुसार

1. ज्ञानार्णव 18/19
2. वही 18/4
3. वहीं 18/15 से 18 तक
4. उत्तराध्ययन 24/1

अंगीकार करके भव्य पुरुष शीघ्र ही कर्मों से छूटता है। निश्चय करके इस रत्नत्रय को अखंडित (परिपूर्ण) आराधन करके ही संयमी मुनि आज तक पूर्वकाल में मोक्ष गये हैं, वर्तमान में जा रहे हैं तथा भविष्य में जाएंगे। और इस रत्नत्रय को प्राप्त न होकर करोड़ों जन्म धारण करने पर भी कोई मुक्ति रूपी लक्ष्मी के मुखरूपी कमल को साक्षात् नहीं देख सकता।[1]

जैन परम्परा के लगभग प्रत्येक ग्रन्थ में रत्नत्रय के महत्त्व को प्रख्यापित किया गया है। उनमें क्या आचार्य कुन्दकुन्द और क्या आचार्य यतिवृषभ, क्या आचार्य वीरसेन या कोई अन्य आचार्य, सभी ने समस्वर से इसकी महिमा प्रकट की है। जिनके सन्दर्भ भी पढ़े-पढ़े उपलब्ध हैं।

नियम -

यह योग का दूसरा अंग है। योगसूत्र में सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान को नियम कहा गया है।[2] यम का विधान जहाँ सार्वकालिक और सार्वदेशिक है। वहीं नियम का विधान मर्यादित और देशकाल से सम्बद्ध है।[3] समाधिसार ग्रन्थ में शौच, तप, सन्तोष, स्वाध्याय, देवस्मरण यह पाँच प्रकार का नियम बताया गया है।[4] ज्ञानार्णव में परिग्रह वा आशा की हेयता बतलाते हुए कषायों के छोड़ने, राग, द्वेष, मोह व इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने और समताभाव धारण करने इत्यादि का जो स्थान-स्थान पर उपदेश दिया गया है वह सब नियम का ही रूप है।

रूपस्थ और रूपातीत ध्यान के अन्तर्गत जो सकल परमात्मा, अष्टप्रातिहार्य समन्वित अरहंतदेव के स्वरूप के चिन्तवन (ध्यान) करने और रूपातीत ध्यान में निकल परमात्मा - सिद्धों के निरंजन स्वरूप के ध्यान करने का निर्देश है उसकी योगसूत्र में कथित ईश्वरप्रणिधान नामक नियम से तुलना की जा सकती है। यद्यपि परमात्मा के स्वरूप के विषय में जैन परम्परा और वैदिक परम्परा में किञ्चित् भिन्नता हो सकती है।

जैनदर्शन का ध्येय है - आध्यात्मिक अनुभव। आध्यात्मिक अनुभव का अर्थ स्वतन्त्र आत्मा का, ईश्वर में मिल जाना नहीं, किन्तु अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व का अनुभव करना है। जैनदर्शन की दृष्टि में प्रत्येक आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता है। प्रत्येक आत्मा अनन्त शक्ति सम्पन्न है। आत्मा और परमात्मा सर्वथा भिन्न सत्तात्मक तत्त्व नहीं है। अशुद्ध दशा में जो आत्मा होती है वही शुद्ध दशा में परमात्मा बन जाती है। अशुद्ध दशा में आत्मा के ज्ञान और शक्ति जो आवृत्त होते हैं वे शुद्ध दशा में पूर्ण विकसित हो जाते हैं।

जैन आचार सिद्धान्त के अनुसार श्रावकों के बारह व्रतों में भोगोपभोगपरिमाण व्रत में यम-नियम का स्वरूप बताया गया है। वहाँ कहा गया है कि जो परिमित काल के

1. ज्ञानार्णव 18/21, 23, 24
2. योगसूत्र, 2/32.
3. रत्नकरण्डश्रावकाचार, 87., उपासकाध्ययन, 761.
4. समाधिसार 136.

लिए धारण किया जाता है वह नियम है और जो जीवन पर्यन्त के लिए त्याग किया जाता है उसे यम कहते हैं।[1] श्रावक भोजन, वाहन आदि का कुछ समय के लिए त्याग करता है उसका वह नियम है। इसके अतिरिक्त नियम की दूसरी परिभाषा आचार्य कुन्दकुन्द देव ने दी है - 'नियम से जो करने योग्य है वह नियम जैनदर्शन का रत्नत्रय है।[2] इस परिभाषा के अनुसार योगसूत्र में मान्य शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान इन नियम के भेदों का अन्तर्भाव रत्नत्रय में ही हो जाता है, इससे ऐसा माना जा सकता है कि आचार्य शुभचन्द्र ने रत्नत्रय का वर्णन किया किन्तु नियमों का अलग से उल्लेख नहीं किया अत: उनको आचार्य कुन्दकुन्द देव द्वारा स्वीकृत नियम का लक्षण मान्य होगा, ऐसा प्रतीत होता है। शौच, संतोष और तप को चारित्र में गर्भित करने पर चारित्र के भेद पाँच महाव्रतों में से अपरिग्रहत्याग महाव्रत एवं ब्रह्मचर्य महाव्रत में शौच और संतोष नियमों का एवं तप चारित्र का ही एक विशेष भेद है। जैसे कि तप के दो भेद हैं - अन्तरंग और बहिरंग। इनमें बहिरंग के अनशन, ऊनोदर, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन, कायक्लेश ये छह भेद हैं। अन्तरंग तप के भी प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग ये छह ही भेद हैं। इनमें चौथा स्वाध्याय नियम सम्यग्ज्ञान में गर्भित समझना चाहिए। ईश्वरप्रणिधान को सम्यग्दर्शन में गर्भित कर सकते हैं। क्योंकि सच्चे देव, गुरु, शास्त्र के श्रद्धान को ही सम्यग्दर्शन कहते हैं जिनके प्रति श्रद्धा होती है, उनके प्रति भक्ति, अनुराग, स्मरण, मनन, चिन्तन होता ही है। इस तरह योगसूत्र में विवेचित नियमों का अन्तर्भाव रत्नत्रय में ही हो जाता है। अत: रत्नत्रय को नियम के रूप में स्वीकार करना युक्तिसंगत लगता है।'

आवश्यक -

जैन आचार दर्शन में आचरण के कुछ ऐसे सामान्य नियम हैं, जिनका पालन करना गृहस्थ और श्रमण, दोनों के लिए आवश्यक है। ऐसे वे आवश्यक नियम छह हैं। इसलिए इन्हें षट् आवश्यक के नाम से जाना जाता है।

सामान्य लक्षण - जो कषाय राग-द्वेष आदि के वशीभूत न हो वह अवश है, और उस अवश का जो आचरण है वह आवश्यक है।[3] अथवा जो इन्द्रियों के वश्य - आधीन नहीं होता उसको अवश्य कहते हैं। ऐसे संयमी के अहोरात्रिक - दिन और रात में करने योग्य कर्मों का नाम ही आवश्यक है। अतएव व्याधि आदि से ग्रसित हो जाने पर भी इन्द्रियों के वश न पड़कर जो दिन और रात के काम मुनियों को करने ही चाहिए उन्हीं को आवश्यक कहते हैं।[4]

1. नियमपरिमितकालो यावज्जीवं यमो ध्रियते। - रत्नकरण्डश्रावकाचार, 87.

2. नियमेण य जं कज्जं तण्णियमं णाणदंसणचरित्तं। - नियमसार, गाथा 3.

3. मूलाचार गाथा 515 4. अनगार धर्मामृत 8/16

इस आवश्यक को छह भेदों में विभाजित किया जाता है, जिनके नाम निम्नत: हैं - 1. सामायिक, 2. चतुर्विंशतिजिनस्तव, 3. वन्दना, 4. प्रतिक्रमण, 5. कायोत्सर्ग और 6. प्रत्याख्यान।[1]

सामायिक आवश्यक - सम आय अर्थात् समताभाव का आना ही सामायिक है। अर्थात् देहधारण और प्राणवियोग में, इच्छित वस्तु का लाभ-अलाभ, इष्टानिष्ट के संयोग-वियोग, सुख-दु:ख, भूख-प्यास आदि बाधाओं में राग-द्वेषरहित परिणाम होना सामायिक है। जो मन, वचन और काय की पापपूर्ण प्रवृत्तियों से हटाकर आत्म स्वरूप में तल्लीन होना, उसे सामायिक कहते हैं।[2]

जैनदर्शन में समत्व की साधना नैतिक जीवन का अनिवार्य तत्त्व है। वह नैतिक साधना का अथ और इति दोनों हैं। समत्व साधना के दो पक्ष हैं - बाह्य रूप में वह सावद्य (हिंसक) प्रवृत्तियों का त्याग और आन्तरिक रूप में वह सभी प्राणियों के प्रति आत्मभाव तथा सुख-दु:ख, जीवन-मरण, लाभ-अलाभ, निन्दा-प्रशंसा में समभाव रखना है।[3] लेकिन दोनों पक्षों से भी ऊपर वह विशुद्ध रूप में आत्मरमण या आत्मसाक्षात्कार का प्रयत्न है। सामायिक कोई रूढ़ क्रिया नहीं, वह तो समत्व वृत्ति रूप पावन आत्मगंगा में अवगाहन है।

ज्ञानार्णव में आचार्य शुभचन्द्र ने समत्वयोग (साम्यभाव) का वर्णन करते हुए साम्यभावधारक योगी की अवस्था को इन शब्दों में स्पष्ट किया है - जिस मुनि का चित्त महलों के शिखर में और स्मशान में तथा स्तुति और निन्दा के विधान में कीचड़ और केशर में, पल्यंक-शय्या और काँटों के अग्रभाग में, पाषाण और चन्द्रकान्तमणि में, चर्म और चीनदेशीय रेशम के वस्त्रों में, और क्षीणशरीर व सुन्दर स्त्री में अतुल्य शान्तभाव के प्रभाव से विकल्पों से स्पर्शित न हो, वही एक प्रवीण मुनि समभाव की लीला के विलास का अनुभव करता है अर्थात् वास्तविक समभाव ऐसे मुनि के ही जानना।[3]

जिस मुनि की ऐसी वृत्ति हो कि कोई तो नम्रीभूत होकर पारिजात के पुष्पों से पूजा करता है और कोई मनुष्य क्रुद्ध होकर मारने की इच्छा से गले में सर्प की माला पहनाता है, इन दोनों में ही जिसकी सदा रागद्वेष रहित समभावरूप वृत्ति हो, वही योगीश्वर समभाव रूपी आराम (क्रीडावन) में प्रवेश करता है और ऐसे समभाव रूप क्रीडावन में ही केवलज्ञान के प्रकाश होने का अवकाश है। जिस मुनि के मन में वन से नगर, शत्रु से मित्र, लोष्ट से कांचन (सुवर्ण), रस्सी व सर्प से पुष्पमाला, पाषाणशिला से चन्द्रमा समान उज्ज्वल

1. मूलाचार गाथा, 1/22., योगसार प्राभृत 5/46

2. मूलाचार गाथा, 23, योगसार प्राभृत 5/47, उत्तराध्ययन, 19/90-1, प्रवचनसार, 3/41

3. ज्ञानार्णव 24/29

शय्या, इत्यादि पदार्थ अन्त:करण की कल्पना से किञ्चिन्मात्र भी उत्कृष्ट नहीं दीखते उस मुनि को आर्य - सत्पुरुष परम उपशान्तरूप पदवी को प्राप्त हुआ कहते हैं। वनादिक से नगरादिक में कुछ भी उत्तमता न मानें वही मुनि रागद्वेष रहित साम्यभावयुक्त है।[1]

साम्यभावधारक योगीश्वरों का माहात्म्य - ग्रन्थकार ने साम्यभाव के माहात्म्य का कथन करते हुए लिखा है - जिस प्रकार शरद ऋतु में अगस्त्य तारा के संसर्ग होने से जल निर्मल हो जाता है। उसी प्रकार समतायुक्त योगीश्वरों की संगति से जीवों के मलिन चित्त भी प्रसन्न अर्थात् निर्मल हो जाते हैं। समभावयुक्त योगीश्वरों के प्रभाव से ग्रह, यक्ष, किन्नर, मनुष्य ये क्षोभ को प्राप्त होते हैं और नाकेश्वर अर्थात् इन्द्रगण हर्षित होते हैं तथा हाथी दैत्य सिंह अष्टापद, सर्प इत्यादि क्रूर प्राणी अपनी क्रूरता को छोड़ देते हैं और यह जगत् रोग, बैर, प्रतिबन्ध, विभ्रम, भयादिक से रहित हो जाता है। इस पृथ्वी में ऐसा कौन-सा कार्य है, जो योगीश्वरों के समभावों से साध्य न हो अर्थात् समभावों से सर्वमनोवांछित सधते हैं। जिस प्रकार चन्द्रमा जगत में किरणों से झरता हुआ सघन अमृत वर्षाता है, सूर्य तीव्र किरणों के समूह से अन्धकार का नाश करता है, पृथ्वी समस्त भुवनों को धारण करती है तथा पवन इस समस्त लोक को धारण करता है, उसी प्रकार मुनीश्वर भी साम्यभावों से जीवों के समूह को शान्तभाव रूप करते हैं। क्षीण हो गया है मोह जिसका और शान्त हो गया है कलुष कषाय रूप मैल जिसका ऐसे समभावों में आरूढ हुए योगीश्वर को आश्रय करके हरिणी तो सिंह के बालक को अपने पुत्र की बुद्धि से स्पर्श करती वा प्यार करती है और गौ हे सो व्याघ्र के बच्चे को पुत्र की बुद्धि से प्यार करती है, मार्जारी हंस के बच्चे को स्नेह की दृष्टि से वशीभूत हो स्पर्शती है तथा मयूरनी सर्प के बच्चे को प्यार करती है, इसी प्रकार अन्य प्राणी भी जन्म से जो बैर है उसको छोड़कर मद्ररहित हो जाते हैं। यह साम्यभाव का ही प्रभाव है।[2]

बौद्धदर्शन में भी यह समत्ववृत्ति स्वीकृत है। धम्मपद में कहा गया है - सब पापों को नहीं करना और चित्त को समत्ववृत्ति में स्थापित करना ही बुद्ध का उपदेश है।[3]

गीता के अनुसार सभी प्राणियों के प्रति आत्मवत् दृष्टि, सुख-दु:ख, लौह-कंचन, प्रिय-अप्रिय और निन्दा-स्तुति, मान-अपमान, शत्रु-मित्र में समभाव और सावद्य (आरम्भ) का परित्याग ही नैतिक जीवन का लक्षण है।[4] श्रीकृष्ण अर्जुन को यही उपदेश देते हैं कि हे अर्जुन ! तू अनुकूल और प्रतिकूल सभी स्थितियों में समभाव धारण कर।[5]

गृहस्थ साधक सामायिक व्रत सीमित समय कम-से-कम 48 मिनिट के लिए

1. ज्ञानार्णव, 24/27-8.
2. ज्ञानार्णव, 24/23-6.
3. धम्मपद, 183.
4. मूलाचार, गाथा, 26.
5. गीता 18/16.

ग्रहण करता है। आवश्यक कृत्यों में इसको स्थान देने का प्रयोजन यह है कि साधक चाहे वह गृहस्थ हो या श्रमण, सदैव यह स्मृति बनाए रखे कि वह समत्व योग की साधना के लिए साधनापथ में प्रस्थित हुआ है। अपने निषेधात्मक रूप में सामायिक सावद्य कार्यों अर्थात् पापकार्यों से विरक्ति है, तो अपने विधायक रूप में वह समत्व भाव की साधना है।

स्तव आवश्यक – ऋषभ आदि तीर्थंकरों के नाम का कथन और गुणों का कीर्तन करके तथा उनकी पूजा करके उनको मन, वचन, काय पूर्वक नमस्कार करना स्तव नाम का दूसरा आवश्यक जानना चाहिए।[1]

जैन दर्शन और आचार के अनुसार प्रत्येक साधक का यह कर्त्तव्य है कि वह नैतिक एवं साधनात्मक जीवन के आदर्श पुरुष के रूप में जैन तीर्थंकरों की स्तुति करे। जैन साधना में स्तुति का स्वरूप बहुत कुछ भक्तिमार्ग की जपसाधना या नामस्मरण से मिलता है। स्तुति अथवा भक्ति के माध्यम से साधक अपने अहंकार का नाश और सद्गुणों के प्रति अनुराग की वृद्धि करता है। फिर भी यह स्मरण रखना चाहिए कि जैन-विचारधारा के अनुसार साधना के आदर्श के रूप में जिसकी स्तुति की जाती है, उन आदर्श पुरुषों से किसी प्रकार की लौकिक उपलब्धि की अपेक्षा नहीं होती। तीर्थंकर एवं सिद्ध परमात्मा किसी को कुछ नहीं देते, वे मात्र साधना के आदर्श हैं, तीर्थंकर न तो किसी को बुद्धिपूर्वक संसार से पार करते हैं और न किसी प्रकार की उपलब्धि में सहायक होते हैं। फिर भी स्तुति के माध्यम से साधक उनके गुणों के प्रति अपनी श्रद्धा को सजीव बना लेता है। साधक के सामने उनका महान् आदर्श जीवन्त रूप में उपस्थित हो जाता है। साधक भी अपने हृदय में तीर्थंकरों के आदर्श का स्मरण करता हुआ आत्मा में एक आध्यात्मिक पूर्णता की भावना प्रकट करता है। वह विचार करता है कि आत्मतत्त्व के रूप में मेरी आत्मा और तीर्थंकरों की आत्मा समान ही है। यदि मैं स्वयं प्रयत्न करूँ तो उनके समान ही बन सकता हूँ। मुझे अपने पुरुषार्थ से उनके समान बनने का प्रयत्न करना चाहिए। जैन तीर्थंकर गीता के कृष्ण के समान यह उद्घोषणा नहीं करते कि तुम मेरी भक्ति करो, मैं तुम्हें सब पापों से मुक्त कर दूँगा।[2] जैन और बौद्ध मान्यता तो यह है कि व्यक्ति अपने ही प्रयत्नों से आध्यात्मिक उत्थान या पतन कर सकता है। स्वयं पाप से मुक्त होने का न प्रयत्न करके केवल भगवान् से मुक्ति की प्रार्थना करना जैन-विचारणा की दृष्टि से सर्वथा निरर्थक है। ऐसी विवेकशून्य प्रार्थनाओं ने मानव जाति को सब प्रकार से हीन-दीन एवं परापेक्षी बनाया है। जब मनुष्य किसी ऐसे उद्धारक में विश्वास करने लगता है, तो उसकी स्तुति से प्रसन्न होकर उसे पाप से उबार लेगा। ऐसी आस्था से सदाचार की मान्यताओं को गहरा धक्का लगता है।

1. आवश्यकचूर्णि (उद्धरण), श्रमणसूत्र, पृ. 80.
2. जैनदर्शन और भगवद्गीता का तुलनात्मक अध्ययन

जैन विचार की यह स्पष्ट मान्यता है कि केवल तीर्थंकरों की स्तुति करने से मोक्ष एवं समाधि की प्राप्ति नहीं होती, जब तक कि मनुष्य स्वयं उसके लिए प्रयत्न न करे। डॉ. राधाकृष्णन् ने भी विष्णुपुराण एवं बाइबिल के आधार पर इस कथन की पुष्टि की है।[1] विष्णुपुराण में कहा है कि जो लोग अपने कर्त्तव्य को छोड़ बैठते हैं और केवल 'कृष्ण-कृष्ण' कहकर भगवान् का नाम जपते हैं, वे वस्तुतः भगवान् के शत्रु हैं और पापी हैं क्योंकि धर्म की रक्षा के लिए तो स्वयं भगवान् ने भी जन्म लिया था। बाइबिल में भी कहा है कि वह हर कोई, जो 'ईसा-ईसा' पुकारता है, स्वर्ग के राज्य में प्रवेश नहीं पाएगा, अपितु वह पाएगा, जो परम पिता की इच्छा के अनुसार काम करता है। महावीर ने कहा है कि एक मेरा नाम-स्मरण करता है और दूसरा मेरी आज्ञाओं का पालन करता है, उसमें जो मेरी आज्ञाओं के अनुसार आचरण करता है, वही यथार्थतः मेरी उपासना करता है।[2] बुद्ध भी कहते हैं कि जो धर्म को देखता है, वही मुझे देखता है।[3]

फिर भी हमें स्मरण रखना चाहिए कि जैन परम्परा में भक्ति का लक्ष्य आत्मस्वरूप का बोध या साक्षात्कार है, अपने में निहित परमात्मशक्ति को अभिव्यक्त करना है। आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि सम्यग्ज्ञान और आचरण से युक्त हो निर्वाणाभिमुख होना ही गृहस्थ और श्रमण की वास्तविक भक्ति है। मुक्ति को प्राप्त पुरुषों के गुणों का कीर्तन करना व्यावहारिक भक्ति है। वास्तविक भक्ति तो आत्मा को मोक्षपथ में योजित करना है, जो राग-द्वेष एवं सर्वविकल्पों का परिहार करके विशुद्ध आत्मतत्त्व से योजित होना है, यही वास्तविक भक्ति-योग है। ऋषभ आदि सभी तीर्थंकर इसी भक्ति के द्वारा परमपद को प्राप्त हुए हैं।[4]

जैनदर्शन में भक्ति के सच्चे स्वरूप को स्पष्ट करते हुए उपाध्याय देवचन्द्र लिखते हैं - जिस प्रकार अज-कुल में पालित सिंह शावक वास्तविक सिंह के दर्शन से अपने प्रसुप्त सिंहत्व को प्रकट कर लेता है, उसी प्रकार साधक तीर्थंकरों के गुणकीर्तन या स्तवन के द्वारा निज में जिनत्व की शोध कर लेता है, स्वयं में निहित परमात्मशक्ति को प्रकट कर लेता है।[5] लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि जैनसाधना में भगवान् की स्तुति निरर्थक है। जैन साधना यह स्वीकार करती है कि भगवान् की स्तुति प्रसुप्त अन्तश्चेतना को जाग्रत करती है और हमारे सामने साधना के आदर्श का एक जीवन्त चित्र उपस्थित करती है। इतना ही नहीं, वह उस आदर्श की प्राप्ति के लिए प्रेरणा भी बनती है। जैन

1. भगवद्गीता, (डॉ. राधाकृष्णन्), पृ. 71., बाइबिल, जोन 2/9-11.
2. इतिवुत्तक 3/43.
3. धम्मपद 108
4. आवश्यकवृत्ति, पृ. 661-2.
5. उत्तराध्ययन अजितजिनस्तवन

विचारकों ने यह भी स्वीकार किया है कि भगवान् की स्तुति के माध्यम से मनुष्य अपना आध्यात्मिक विकास कर सकता है। यद्यपि प्रयत्न व्यक्ति का ही होता है, तथापि साधना के आदर्श उन महापुरुषों का जीवन उसकी प्रेरणा का निमित्त होता है। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है कि स्तवन से व्यक्ति की दर्शनविशुद्धि होती है। यह भी कहा है कि भगवद्भक्ति के फलस्वरूप पूर्वसंचित कर्मों का क्षय होता है। यद्यपि इसका कारण परमात्मा की कृपा नहीं, वरन् व्यक्ति के दृष्टिकोण की विशुद्धि ही है।[1]

आचार्य कुन्दकुन्द देव भगवान् की स्तुति करते हुए कहते हैं - जो उत्कृष्ट भक्ति सम्बन्धी राग से जिनेन्द्र देव के चरण कमलों को नमस्कार करते हैं वे उत्तम भाव रूपी शस्त्र के द्वारा संसार रूपी लता के मूल को उखाड़ देते हैं।[2]

ज्ञानार्णव में आचार्य शुभचन्द्र ने शान्तिनाथ तीर्थंकर को नमस्कार करना, विश्वविघ्नों की शान्ति करने वाला बताया है।[3]

जैन विचार में स्तुति के दो रूप माने गए हैं - द्रव्य और भाव। सात्त्विक वस्तुओं द्वारा तीर्थंकर की प्रतिमा की पूजा करना द्रव्यस्तव है और भगवान् के गुणों का स्मरण करना भावस्तव है। द्रव्यस्तव के पीछे मूलत: यही भावना होती है कि उसके माध्यम से मनुष्य ममत्व का त्याग करे। वस्तुओं सम्बन्धी ममत्व का त्याग कर देना ही द्रव्यस्तव का प्रयोजन है। द्रव्यस्तव केवल गृहस्थ उपासकों के लिए है। क्योंकि साधु को न तो ममत्व होता है और न उसके पास कोई संग्रह, अत: उसके लिए भावस्तव ही मुख्य माना जाता है। वस्तुत: स्तवन का मूल्य आदर्श को उपलब्ध करने वाले महापुरुषों की जीवनगाथा के स्मरण के द्वारा साधना के क्षेत्र में प्रेरणा प्राप्त करना है। आचार्य समन्तभद्र कहते हैं -

हे नाथ, आप तो वीतराग हैं, आपको अपनी पूजा से कोई प्रयोजन नहीं है। आप न पूजा करने वालों से खुश होते हैं और न निन्दा करने वालों से नाराज, क्योंकि आपने तो बैर का पूरी तरह वमन कर दिया है। तब यह निश्चित है कि आपके पवित्र गुणों का स्मरण हमारे चित्त को पाप रूप कलंकों से हटाकर पवित्र बना देता है।[4]

योगसूत्र में लिखा है कि ईश्वरप्रणिधान में दृढ़प्रतिष्ठित होने से समाधि की सिद्धि होती है।[5] इस स्तव नामक आवश्यक में योग प्ररूपित ईश्वरप्रणिधान नामक नियम से स्तव नामक आवश्यक की तुलना की जा सकती है।

वन्दना आवश्यक - श्रीमद् वट्टकेराचार्य ने मूलाचार में वन्दना आवश्यक का स्वरूप इन शब्दों में लिखा है - 'अर्हन्त, सिद्ध और उनकी प्रतिमा तप में, श्रुत या गुणों में

1. उत्तराध्ययन, अजितजिनस्तवन.
2. भावपाहुड, गाथा 151.
3. ज्ञानार्णव 114
4. स्वयंभू स्तोत्र पद्य 57
5. योग सूत्र 2/45

बड़े गुरु का और स्वगुरु का कृतिकर्मपूर्वक अथवा बिना कृतिकर्म के मन, वचन, काय की विशुद्धि द्वारा विधिपूर्वक प्रणाम करना वन्दना है।"[1]

साधना के आदर्श रूप में तीर्थंकर देव की उपासना के पश्चात् साधनामार्ग के पथ-प्रदर्शक गुरु की विनय करना वन्दन है। वन्दन, मन, वचन और काया का वह प्रशस्त व्यापार है जिससे पथ-प्रदर्शक गुरु एवं विशिष्ट साधनारत साधकों के प्रति श्रद्धा और आदर प्रकट किया जाता है। इसमें उन व्यक्तियों को प्रणाम किया जाता है जो साधना-पथ पर अपेक्षाकृत आगे बढ़े हुए हैं।

जैन विचारधारा के अनुसार जो चारित्र एवं गुणों से सम्पन्न हैं, वे ही वन्दनीय हैं।[2] द्रव्य (बाह्य) और भाव (अन्तरंग) दोनों दृष्टियों से शुद्ध संयमी पुरुष ही वन्दनीय होता है। आचार्य भद्रबाहु ने यह निर्देश किया है कि जिस प्रकार वही सिक्का ग्राह्य होता है जिसकी धातु भी शुद्ध हो और मुद्रांकन भी ठीक हो, उसी प्रकार द्रव्य और भाव दोनों दृष्टियों से शुद्ध व्यक्ति ही वन्दन का अधिकारी होता है।[3]

वन्दन करने वाला व्यक्ति विनय के द्वारा लोकप्रियता प्राप्त करता है। भगवती सूत्र के अनुसार वन्दन के फलस्वरूप गुरुजनों के सत्संग का लाभ होता है। सत्संग से शास्त्रश्रवण, शास्त्रश्रवण से ज्ञान, ज्ञान से विज्ञान फिर क्रमशः प्रत्याख्यान, संयम, अनास्रव, तप, कर्मनाश, अक्रिया एवं अन्त में सिद्धि की उपलब्धि हो जाती है।[4]

वन्दन का मूल उद्देश्य है जीवन में विनय को स्थान देना। आचार्य कुन्दकुन्द ने विनय की महत्ता प्रकट करते हुए लिखा है कि - विनय मोक्ष का द्वार है। विनय से संयम, तप और ज्ञान होता है। विनय के द्वारा आचार्य और सर्वसंघ आराधित होता है। कीर्ति, मैत्री, मान का भंजन, गुरुजनों में बहुमान, तीर्थंकरों की आज्ञा का पालन और गुणों का अनुमोदन, ये सब विनय के गुण हैं।[5]

श्रमण साधकों में दीक्षा पर्याय के आधार पर वन्दन किया जाता है। सभी पूर्व दीक्षित साधक वन्दनीय होते हैं। जैन और बौद्ध दोनों परम्पराओं में श्रमण जीवन की वरिष्ठता और कनिष्ठता ही वन्दन का मूल आधार है। यद्यपि दोनों परम्पराओं में दीक्षा की दृष्टि से वरिष्ठ श्रमणों को भी कनिष्ठ या नवदीक्षित श्रमण को प्रतिवन्दना करने का विधान है। गृहस्थ साधकों के लिए सभी श्रमण-श्रमणी तथा आयु में वृद्ध गृहस्थ यथायोग्य वन्दनीय हैं।

वन्दना के सम्बन्ध में बुद्ध का कथन है कि पुण्य की अभिलाषा करता हुआ

1. मूलाचार, गाथा, 25.
2. आवश्यकनिर्युक्त, 1138.
3. उत्तराध्ययन, 29/10.
4. भगवतीसूत्र, 2/5/112.
5. मूलाचार, गाथा 386, 388.

व्यक्ति वर्ष भर जो कुछ यज्ञ व हवन आदि करता है उसका फल पुण्यात्माओं के अभिवादन के फल का चौथा भाग भी नहीं होता। अत: सरल वृत्ति महात्माओं का अभिवादन करना ही अधिक श्रेयस्कर है।[1]

मनुस्मृति में भी कहा है कि - अभिवादनशील और वृद्धों की सेवा करने वाले व्यक्ति की आयु, विद्या, यश और बल ये चारों बातें सदैव बढ़ती रहती हैं।[2] गीता में भी वन्दना को साधना का आवश्यक अंग माना है तभी तो गीता के अन्त में 'माम् नमस्कुरु' कहकर वन्दना का निर्देश किया है।[3]

इसी तरह भागवतपुराण में नवधाभक्ति में वन्दन भी भक्ति का एक प्रकार है।[4] वन्दना करते समय स्वार्थ-भाव, आकांक्षा, भय और अनादर का भाव होना तथा योग्य सम्मानसूचक वचनों का सम्यक् प्रकार से उच्चारण नहीं करना तथा शारीरिक रूप से सम्मान विधि का परिपालन नहीं करना आदि वन्दना के दोष हैं। उपर्युक्त दोषों से रहित वन्दना के निर्दिष्ट अवसरों पर वन्दना करना यह साधक का आवश्यक कर्त्तव्य है। ज्ञानार्णव में इसका विवरण वृद्धसेवा की प्रशंसा प्रकरण में उपलब्ध होता है।

प्रतिक्रमण आवश्यक - निन्दा और गर्हा पूर्वक मन, वचन, काय के द्वारा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के विषय में किये गए अपराधों का शोधन करना प्रतिक्रमण है।[5]

मन, वचन और काय से जो अशुभ आचरण हो जाता है अथवा दूसरों के द्वारा कराया जाता है और दूसरे लोगों के द्वारा आचरित पापाचरण का जो अनुमोदन किया जाता है, उन सबकी निवृत्ति के लिए कृतपापों की आलोचना करना प्रतिक्रमण है।

व्यक्ति को अपनी जीवन यात्रा में कषायवश पद-पद पर अन्तरंग, बाह्य दोष लगा करते हैं, जिनका शोधन एक श्रेयोमार्गी के लिए आवश्यक है। भूतकाल में जो दोष लगे हैं उनके शोधनार्थ प्रायश्चित्त या पश्चात्ताप व गुरु के समक्ष अपनी निन्दा, गर्हा करना प्रतिक्रमण कहलाता है।

नियमसार में आचार्य कुन्दकुन्द ने प्रतिक्रमण का वर्णन करते हुए कहा है कि - 'अनाचार को छोड़कर आचार में, उन्मार्ग त्याग करके जिनमार्ग में शल्य भाव को छोड़कर नि:शल्य भाव में, अगुप्ति भाव को छोड़कर त्रिगुप्ति भाव में, आर्त-रौद्रध्यान को छोड़कर धर्मध्यान वा शुक्लध्यान में, मिथ्यादर्शन को छोड़कर सम्यग्दर्शन की भावना करता है वह प्रतिक्रमण है।'[6]

---

1. धम्मपद, 108.
2. मनुस्मृति, 2/121.
3. गीता, 18/65.
4. भागवतपुराण, 7/5/23.
5. मूलाचार, गाथा, 26.
6. नियमसार, गाथा, 184.

आचार्य हरिभद्र ने प्रतिक्रमण के तीन भेदों का उल्लेख किया है - 1. प्रमादवश - स्वस्थान से परस्थान में गये हुए साधक का पुन: स्वस्थान में लौट आना यह प्रतिक्रमण है। 2. क्षायोपशमिक भाव से औदयिक भाव में परिणत हुआ साधक जब पुन: औदयिकभाव से क्षायोपशमिक भाव में लौट आता है तो यह भी प्रतिकूल गमन के कारण प्रतिक्रमण कहलाता है। 3. अशुभ आचरण से निवृत्त होकर मोक्ष फलदायक रूप शुभ आचरण में नि:शल्य भाव से प्रवृत्त होना प्रतिक्रमण है।[1]

प्रतिक्रमण के अन्य तरह से भी भेद मिलते हैं, जो कि निम्न हैं -

1. सर्वातिचार - दीक्षा ग्रहण से लेकर तपश्चरण के काल तक जो दोष लगे हों उनकी शुद्धि करना।
2. त्रिविध - जल के बिना तीन प्रकार का आहार का त्याग करने में जो अतिचार लगे हों उनका शोधन करना।
3. उत्तमार्थ - जीवन पर्यन्त जल पीने का त्याग किया था उसके दोषों की शुद्धि करना।

काल सापेक्ष होने वाले प्रतिक्रमण के निम्न भेदों का प्रचलन ही अब सर्वत्र उपलब्ध होता है -

1. दैवसिक, 2. रात्रिक, 3. ऐर्यापथिक, 4. पाक्षिक, 5. चातुर्मासिक, 6. सांवत्सरिक और 7. उत्तमार्थ। इस प्रकार प्रतिक्रमण के सात प्रकार भी होते हैं।[2]

प्रतिक्रमण और बौद्धपरम्परा - तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि प्रतिक्रमण की परम्परा न्यूनाधिक रूप में सभी परम्पराओं में रही है। बौद्धधर्म में प्रतिक्रमण के स्थान पर, प्रतिकर्म, प्रवारणा और पाप देशना नाम मिलते हैं। बुद्ध की दृष्टि में पापदेशना का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वे कहते हैं - खुला हुआ पाप नहीं रहता अर्थात् पापाचरण की आलोचना करने पर व्यक्ति पाप के भार से हल्का हो जाता है। बौद्ध आचार एवं दर्शन में प्रावरणा के नाम से पाक्षिक प्रतिक्रमण परम्परा स्वीकार की गई है।[3]

बोधिचर्यावतार में तो आचार्य शान्तिदेव ने पापदेशना के रूप में दिन और रात्रि में तीन बार प्रतिक्रमण का निर्देश किया है। वे लिखते हैं - तीन बार रात में और तीन बार दिन में त्रिस्कन्ध की आवृत्ति करना चाहिए। इससे अनजान में हुई विपत्तियों का शमन हो जाता है।[4]

प्रतिक्रमण और वैदिक तथा अन्य परम्पराएँ - वैदिक परम्परा में संध्या

1. आवश्यकटीका (उद्धरण) श्रमणसूत्र, पृ. 84. 2. मूलाचार, गाथा 120, 613,
3. बोधिचर्यावतार, 5/98. 4. वही, पृ. 193-4.

कृत्य में जिस यजुर्वेद के मन्त्र का उच्चारण किया जाता है वह भी जैन प्रतिक्रमण विधि का एक संक्षिप्त रूप ही है। संध्या के संकल्प वाक्य में ही साधक यह संकल्प करता है कि मैं आचरित पापों के क्षय करने के लिए परमेश्वर के प्रति इस उपासना को सम्पन्न करता हूँ। यजुर्वेद के उस मन्त्र का मूल आशय भी यही है कि - मेरे मन, वाणी, शरीर से जो भी दुराचरण हुआ हो उसका मैं विसर्जन करता हूँ।

पारसी धर्म में भी पाप आलोचना की प्रणाली स्वीकार की गई है। खोरदेह अवस्था में कहा गया है - मैंने मन से बुरे विचार किए, वाणी से तुच्छ भाषण किया और शरीर से निंद्य कार्य किया इत्यादि प्रकार से जो गुनाह किए उन सबके लिए पश्चात्ताप करता हूँ। अभिमान, गर्व से लोगों की निन्दा करना, स्वच्छन्दता, आलस्य, कानाफूसी, पवित्रता भंग, झूठी गवाही, चोरी, लूट-खसोट, व्यभिचार, बेहद शौक करना इत्यादि जो गुनाह मुझसे जाने-अनजाने हुए हों और जो गुनाह साफ दिल से मैंने प्रकट न किए हों, उन सबसे मैं पवित्र होकर अलग होता हूँ। ईसाई धर्म में भी पापदेशना आवश्यक मानी गई है।[1]

कायोत्सर्ग आवश्यक - कायोत्सर्ग शब्द का शाब्दिक अर्थ है शरीर का उत्सर्ग करना। लेकिन जीवन रहते हुए शरीर का त्याग सम्भव नहीं। यहाँ शरीरत्याग का अर्थ है शारीरिक चंचलता एवं देहासक्ति का त्याग। किसी सीमित समय के लिए शरीर पर होने वाले ममत्व का त्याग कर शारीरिक क्रियाओं की चंचलता को समाप्त करने का प्रयास करना ही कायोत्सर्ग है।

जैन साधना में कायोत्सर्ग का महत्त्व बहुत अधिक है। प्रत्येक अनुष्ठान के पूर्व कायोत्सर्ग करने की परम्परा है। वस्तुत: देहाध्यास को समाप्त करने के लिए कायोत्सर्ग आवश्यक है। कायोत्सर्ग शरीर के प्रति ममत्व भाव को कम करता है। प्रतिदिन जो कायोत्सर्ग किया जाता है वह चेष्टा कायोत्सर्ग है अर्थात् उसमें एक निश्चित समय के लिए समग्र शारीरिक चेष्टाओं का निरोध किया जाता है एवं उस समय शरीर पर होने वाली क्रियाओं को उपसर्ग के समान समभाव पूर्वक सहन किया जाता है।

आचार्य वट्टकेर ने मूलाचार में शुद्ध कायोत्सर्ग के स्वरूप के सम्बन्ध में प्रकाश डालते हुए लिखा है - 'चाहे कोई भक्तिभाव से चन्दन लगाए, चाहे कोई द्वेषवश वसूले से छीले, चाहे जीवन रहे, चाहे उसी क्षण मृत्यु आ जाए, परन्तु जो साधक देह में आसक्ति नहीं रखता है, उक्त सभी प्रकार की परिस्थितियों में समभाव रखता है, वस्तुत: उसी के कायोत्सर्ग होता है।'[2]

दैवसिक, रात्रिक आदि नियम क्रियाओं में आगम में कथित प्रमाण के द्वारा जिनेन्द्र

1. दर्शन और चिन्तन, भाग 2, पृ. 193.
2. मूलाचार, गाथा, 23.

के गुणों के चिन्तन से सहित होते हुए शरीर से ममत्व का त्याग करना कायोत्सर्ग नाम का आवश्यक है।[1] जिस मुनि का शरीर जल्ल और मल से लिप्त हो, जो दुस्सह रोग के हो जाने पर भी उसका इलाज नहीं करता हो, मुख धोना आदि शरीर के संस्कार से उदासीन हो और भोजन-शय्या आदि की अपेक्षा नहीं करता हो तथा अपने स्वरूप के चिन्तन में ही लीन रहता हो, दुर्जन और सज्जन में मध्यस्थ हो और शरीर से भी ममत्व न करता हो उस मुनि के कायोत्सर्ग नाम का तप होता है।[2]

योग्य आसन – कायोत्सर्ग खडगासन, पद्मासन अथवा लेटकर किया जा सकता है। मूलाचार आदि ग्रन्थों में कायोत्सर्ग के बत्तीस दोष बतलाए हैं। अत: शक्त्यनुसार इन दोषों को टालकर कायोत्सर्ग करने का विधान है। उन दोषों के नाम निम्नत: हैं – घोटक, लता, स्तम्भ, कुडय, माला, शबरवधू, निगड, लम्बोत्तर, स्तनदृष्टि, वायस, खलीन, युग, कपित्थ, शिर:प्रकंपित, मूकत्व, अंगुलि, भ्रूविकार, वारुणीपायी, दिशावलोकन, ग्रीवोन्नमन, प्रणमन, निष्ठीवन और अंगमर्षण।[3]

कायोत्सर्ग का फल – कायोत्सर्ग का परम्परया फल तो मोक्ष ही है। किन्तु इसका साक्षात् फल होता है चित्त की एकाग्रता एवं कर्मों की निर्जरा। जैसा कि आचार्य वट्टकेर ने मूलाचार में प्ररूपित किया है – 'ईर्यापथ के अतिचार को सोधने के लिए मोक्षमार्ग में स्थित शरीर में ममत्व को छोड़ने वाले मुनि दु:ख के नाश करने के लिए कायोत्सर्ग करते हैं। कायोत्सर्ग करने पर जैसे अंगोपांगों की संधियाँ भिद जाती हैं उसी प्रकार इससे कर्मरूपी धूलि भी अलग हो जाती है।'[4]

कायोत्सर्ग और गीता – गीता में कायोत्सर्ग की विधि ध्यान-योग के सन्दर्भ में देखी जा सकती है। गीता में कहा गया है कि – 'शुद्धभूमि में कुशादि या वस्त्र के आसन को, जो न अति ऊँचा हो न अति नीचा हो, स्थिर करके काया, शिर और ग्रीवा को समान और अचल धारण कर दृढ होकर अपने नासिका के अग्र भाग को देखकर अन्य दिशाओं को न देखता हुआ और ब्रह्मचर्य के व्रत में स्थिर रहता हुआ भयरहित यथायोग्य अच्छी प्रकार शान्त अन्त:करण वाला और सावधान होकर, मन को वश में करके मेरे में लगे हुए चित्तवाला और मेरे में परायण हुआ स्थित होवे।'[5]

प्रत्याख्यान आवश्यक – इच्छाओं के निरोध के लिए प्रत्याख्यान एक आवश्यक कर्त्तव्य है। प्रत्याख्यान का अर्थ है प्रवृत्ति को मर्यादित अथवा सीमित करना।[6] संयमपूर्ण जीवन के लिए त्याग आवश्यक है, इस रूप में प्रत्याख्यान का अर्थ

1. मूलाचार गाथा 28. 2. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा, 467.
3. मूलाचार गाथा 662, 666. मूलाचार, गाथा, 670, 673.
4. मूलाचार गाथा 668
5. गीता, 6/11, 13-4. 6. योगशास्त्र, स्वोपज्ञवृत्ति, पृ. 104.

त्याग भी माना जा सकता है। नित्य कर्मों में प्रत्याख्यान का समावेश इसलिए किया गया है कि साधक आत्मशुद्धि के लिए प्रतिदिन यथाशक्ति किसी-न-किसी प्रकार का त्याग करता है। नियमित त्याग करने से अभ्यास होता है, साधना परिपुष्ट होती है और जीवन में अनासक्ति का विकास व तृष्णा की मंदता होती है। दैनिक प्रत्याख्यान में सामान्यतया उस दिवस विशेष के लिए कुछ प्रतिज्ञाएँ ग्रहण की जाती हैं। जैसे सूर्य उदय के पश्चात् एक प्रहर अथवा दो प्रहर आदि तक कुछ नहीं खाना या सम्पूर्ण दिवस के लिए आहार का परित्याग करना अथवा केवल नीरस या रूखा भोजन करना आदि।

मूलाचार में वट्टकेर आचार्य ने प्रत्याख्यान का लक्षण इस प्रकार निर्दिष्ट किया है - नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इन छहों में शुभ मन, वचन व काय से आगामी काल के लिए अयोग्य का त्याग करना प्रत्याख्यान है।[1] जो महापुरुष समस्त कर्मजनित वासनाओं से रहित आत्मा को देखने वाले हैं, उनके जो पापों के आने में कारणभूत भावों का त्याग है, उसे ही प्रत्याख्यान कहते हैं।[2] त्याग प्रारम्भ करते समय प्रत्याख्यान की प्रतिष्ठापना और अवधिपूर्ण होने पर उसकी निष्ठापना की जाती है। वीतराग भाव सापेक्ष किया गया प्रत्याख्यान ही वास्तविक है।

प्रत्याख्यान और गीता - गीता में प्रत्याख्यान के स्थान पर त्याग के सम्बन्ध में विवेचन उपलब्ध होता है। वहाँ तीन प्रकार का त्याग बतलाया गया है - 1. सात्त्विक, 2. राजसिक और 3. तामसिक।

1. शास्त्रविधि से नियम किया हुआ कर्त्तव्य - कर्म करते हुए उसमें आसक्ति और फल का त्याग कर देना सात्त्विक त्याग है।
2. सभी कर्म दुःख रूप हैं, ऐसा समझकर शारीरिक क्लेश के भय से कर्मों का त्याग करना राजस त्याग है।
3. तामसिक नियतकर्म का त्याग करना योग्य नहीं है, इसलिए मोह से उसका त्याग करना तामस त्याग है।[3]

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन आचार एवं गीता के आचार दर्शन में षट् आवश्यकों का विवेचन प्रकारान्तर से मिल ही जाता है। यह भिन्न बात होती है कि उनमें किंचित्-कदाचित् नामादिक का भेद होता है या किंचित् स्वरूप का भी भेद दिखाई देता है। किन्तु निष्कर्षतः दोनों के अभिप्रायों में अद्भुत सादृश दिखाई देता है।

आसन -

स्थिरतापूर्वक सुखावह उपवेशन ही आसन है।[4] 'आस्यते आसने वा अनेन इति

1. मूलाचार, गाथा 27.
2. योगसार (अमितगति आचार्य), 5/51.
3. गीता, 18/4, 7-9.
4. योगसूत्र, 2/46.

आसनम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिसके द्धारा स्थिरता एवं सुख प्राप्त हो वही आसन है।

आचार्य शुभचन्द्र ने आसन निर्देश के पूर्व आसन योग्य स्थान का स्वरूप बतलाते हुए कहा है - 'सिद्धक्षेत्र, जहाँ कि बड़े-बड़े प्रसिद्ध पुरुष ध्यान कर सिद्ध हुए हो तथा पुराणपुरुष अर्थात् तीर्थंकरादिकों ने जिसका आश्रय किया हो, ऐसे महातीर्थ, जो तीर्थंकरों के कल्याणक स्थान हों ऐसे स्थानों में ध्यान की सिद्धि होती है।'[1]

संयमी मुनि को संसार की पीड़ा को शान्त करने के लिए आगे लिखे स्थानों में निरन्तर सावधान होकर रहना चाहिए - समुद्र के किनारे पर, वन में, पर्वत के शिखर पर, नदी के किनारे, कमलवन में, प्राकार में, शालवृक्षों के समूह में, नदियों का जहाँ संगम हुआ हो, जल के मध्य जो द्धीप हो उसमें, प्रशस्त वृक्ष के कोटर में, पुराने वन में, श्मशान में, सिद्धकूट तथा कृत्रिम-अकृत्रिम चैत्यालयों में जहाँ कि महाऋद्धि के धारक, महाधीर, वीर, योगीश्वर सिद्धि की वाँछा करते हैं, मन को प्रीति देने वाले रमणीय सर्व उपद्धवरहित स्थान में, पर्वत की जीवरहित गुफा में, शून्य घर तथा सूने ग्राम में, पृथ्वी के नीचे-ऊँचे प्रदेश में, कदलीगृह में, नगर के उपवन की वेदी के अन्त में, वेदी के मंडप में, चैत्यवृक्ष के समीप, मूसलाधार वर्षा, आतप, हिम, शीतादि तथा प्रचण्ड पवनादि से वर्जित स्थान में निरन्तर आसन लगाकर ध्यान करे। जिस स्थान में रागादि द्धोष निरन्तर लघुता को प्राप्त हों उसी स्थान में मुनि को बसना चाहिए तथा ध्यान के काल में तो अवश्य ही योग्य स्थान को ग्रहण करना चाहिए।[2]

आसन का विधान करते हुए लिखा है कि - धीर वीर पुरुष को ध्यान की सिद्धि के लिए लकड़ी के पटिए या शिलापट्ट पर पृथ्वी के ऊपर बालुमय जमीन के ऊपर अतिशय दृढ़ आसन ग्रहण करना चाहिए।

पर्यंकासन, अर्द्धपर्यंकासन, वज्रासन, वीरासन, सुखासन, कमलासन और कायोत्सर्ग ये ध्यान के लिए योग्य आसन माने गए हैं। जिस-जिस आसन से सुख रूप उपविष्ट मुनि अपने मन को निश्चल कर सके वही सुन्दर आसन मुनियों को स्वीकार करना चाहिए। जिस आसन से ध्यान करते समय साधक का मन खिन्न न हो, वही उपादेय है। किन्तु कालद्धोष के कारण सामर्थ्यहीनता से पद्मासन या कायोत्सर्ग ये ही आसन प्रमुख हैं अथवा जिस आसन से बैठकर साधक अपने मन को निश्चल कर सके, वही आसन उसके लिए प्रशस्त है।[3]

आचार्य शुभचन्द्र के अनुसार पराक्रमशील स्थिर तथा सशक्त व्यक्तित्व ही ध्यान

1. ज्ञानार्णव, 28/1-7. 2. ज्ञानार्णव, 28/8.
3. वही, 28/9-12.

सिद्धि में विशेष रूप से सहायक होता है। अतएव उन्होंने लिखा है – पूर्वकाल में वज्रकाय, वज्रवृषभसंहनन युक्त शरीरधारी, महापराक्रमी, अविचलित मनस्वी स्थिर आसन में अवस्थित होते हुए सभी अवस्थाओं में रत रहकर शिव को अर्थात् परम कल्याण को प्राप्त हुए हैं।

ध्यान की सिद्धि में आसन की आवश्यकता और उपयोगिता के सम्बन्ध में आचार्य शुभचन्द्र ने लिखा है – 'स्थान, आसन और विधि ये तीनों मिलकर ध्यान की सिद्धि में निबन्धन – कारण हैं। इनमें से यदि एक भी न हो तो साधक का मन विक्षेपरहित, अचंचल या स्थिर नहीं हो सकता।'[1]

वे आगे कहते हैं कि – जिनको आसन सम्यक् रूप से सिद्ध है उनका मन समाधि एवं ध्यान प्रक्रिया में जरा भी खिन्न नहीं बनता है।

जिनके आसन सिद्ध नहीं होता उन्हें शारीरिक स्थिरता प्राप्त नहीं होती शरीर की विकलता – अस्थिरता के कारण ध्यानमूलक प्रयत्न खेद का रूप ले लेता है अर्थात् सुखपूर्वक ध्यान सध नहीं पाता।

ध्यानयोग्य दिशा – जो ध्याता प्रसन्नमुख हो ध्यान के समय पूर्वदिशा या उत्तर दिशा के अभिमुख होता है वह प्रशंसा का भाजन होता है। अर्थात् ध्यान के समय पूर्व अथवा उत्तर दिशा में मुख करना योग्य है।[2]

आसन विधि – आसन अपनी सुविधानुसार कोई भी अपनाया जाय, सभी आसनों में मेरुदण्ड को सीधा रखना चाहिए, जिससे वक्ष, ग्रीवा एवं शिर उन्नत एवं सम अवस्था में रहें।

इस प्रकरण के सन्दर्भ पर गीता में स्पष्ट उल्लेख है कि – '' **समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिर:।**''[3]

अभीष्ट, रमणीय एवं मन के प्रसन्न करने वाले स्थान को पा करके हर्ष से रोमांच को प्राप्त हुआ योगी पर्यंक आसन से अधिष्ठित होता है। इस आसन में योगी चंचलता से रहित और खुले हुए दोनों हाथों रूप कलिकाओं को पर्यंक भाग के मध्य में स्थित करके विकसित कमल के आकार में करता है। अभिप्राय यह है कि दोनों जंघाओं के नीचे के भाग को दोनों पाँवों के ऊपर रखकर दोनों खुली हुई हथेलियों में से बाईं हथेली को नाभि के पास नीचे और उसके ऊपर दाहिनी हथेली के रखने पर पर्यंक आसन होता है। इस आसन में योगी अतिशय स्थिर, प्रसन्न, शान्त, स्पन्दनरहित और पुतलियों की मन्दतायुक्त दोनों नेत्रों को नासिका के अग्रभाग में रखता है। इसके साथ ही अपने मुख को सोते हुए

1. ज्ञानार्णव, 26/13, 20. 2. वही, 28/23
3. गीता, 6/12.

मत्स्य से संयुक्त तालाब के समान भृकुटि रूप बेलों के विकार से रहित और अधरोष्ठ रूप नवीन पत्रों के सुन्दर संयोग से सहित करता है।[1]

आसन की उपयोगिता – यौगिक क्रियाओं की निष्पन्नता अथवा चित्त-स्थिरता के लिए आसनों का महत्त्व है, क्योंकि आसन में शरीर तथा मन अन्य चेष्टाओं से रहित होकर किसी एक दशा में केन्द्रित हो जाते हैं। यही कारण है कि आसनों के द्धारा संकल्पशक्ति को विकसित करके वांछित परिणाम प्राप्त किये जाते हैं। अत: आसन, मन तथा शरीर दोनों को काबू में करके आत्मा को शक्तिशाली बनाने का साधन है और यही मन एवं शरीर पर अधिकार प्राप्त करना योग का आधार है।[2]

प्राणायाम –

आसनसिद्धि के पश्चात् श्वास एवं प्रश्वास की नैसर्गिक गति का नियमन प्राणायाम कहलाता है।[3] बाह्य वायु का नासिकारन्ध्र द्धारा अन्दर प्रविष्ट करना श्वास कहलाता है। कोष्ठस्थ वायु का नासिका से बाहर निष्कासन प्रश्वास कहलाता है। इन श्वास एवं प्रश्वासों की स्वाभाविक गति का रेचक, पूरक तथा कुम्भक द्धारा विच्छिन्न करना प्राण का आयाम अर्थात् नियन्त्रण प्राणायाम कहा जाता है। इस प्रकार प्राणवायु को दीर्घ, विशाल और लम्बा बनाने की साधना प्राणायाम की साधना है।

पूरक प्राणायाम में श्वास का विच्छेद नहीं, अपितु सद्भाव ही होता है। इसी भाँति रेचक में प्रश्वास का सद्भाव होता है। केवल कुम्भक में श्वास एवं प्रश्वासों की अनियमित गति का विच्छेद होने के कारण, प्रत्येक प्राणायाम में उनका गति विच्छेद-ग्राह्य है। आसनजय होने से शारीरिक स्थैर्य एवं मानसिक शून्यवत् भावना या अन्य किसी समापन्न भाव की अनुभूति संभव होने के कारण तत्पूर्वक प्राणायाम का अभ्यास होता है। अतएव आसनजय के साथ ईश्वरभाव, आध्यात्मिक मर्मस्थान में ज्योतिर्मय भावाद्धि का अभ्यास करना अपेक्षित है। उससे एकाग्रता होती है और तभी प्राणायाम समाधि में सहायक होता है।

प्राणायाम के भेद बताते हुए महर्षि पंतजलि ने कहा है कि 'वह प्राणायाम बाह्यवृत्ति, आभ्यन्तरवृत्ति और स्तम्भवृत्ति रूप होता है। फिर देश, काल तथा संख्या द्धारा परिदृष्ट होकर दीर्घ और सूक्ष्म होता है।'[4] गीता में भी इन्हीं भेदों को दर्शाया गया है।[5]

मनुष्य नाक और मुख से जो साँस लेता है, वह साँस प्राणवायु का ही अभिव्यक्त रूप है। इसलिए यदि स्थूल अभिव्यक्त वायु पर नियन्त्रण द्धारा प्राणवायु के नियंत्रण की यह क्रिया ही प्राणायाम के नाम से विख्यात है।

1. ज्ञानार्णव, 26/34, 36.
2. योगमनोविज्ञान, पृ. 190.
3. योगसूत्र, 2/49.
4. योगसूत्र 2/50.
5. गीता, 4/29.

प्राण वायु पाँच प्रकार मानी गई है - प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान। किन्तु इन पाँच प्राणों के अतिरिक्त पाँच उपप्राण भी माने जाते हैं - नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनंजय। हृदय में प्राण, अपान गुदमंडल में, समान नाभिदेश में, उदान कण्ठमध्य में और व्यान सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त माना जाता है। इनका वर्ण क्रमशः हरा, काला, इन्द्रधनुषी, लाल श्वेत है। ये पंचवायु प्रधान माने जाते हैं। डकार में नाग, आँख खोलने में कूर्म, छींकने में कृकल (कृकर) और देवदत्त जँभाई लेने में होता है। मृत्यु हो जाने पर बिना नष्ट हुए शरीर में कार्यरत जो वायु है, उसे धनंजय कहते हैं।[1]

आचार्य शुभचन्द्र ने ज्ञानार्णव में ध्यान की सिद्धि और अन्तःकरण की स्थिरता के लिए प्राणायाम को जैनागमानुसार प्रशंसनीय माना है। प्राणायाम के बिना मन के ऊपर विजय प्राप्त नहीं की जा सकती इसलिए बुद्धिमान् मुनिजनों को उसे पहले ही स्पष्ट रूप से जान लेना चाहिए। पूर्वाचार्यों ने इस पवन के स्तम्भन स्वरूप प्राणायाम के लक्षण भेद से तीन प्रकार का कहा है - 1. पूरक, 2. कुम्भक, और 3. रेचक।

1. पूरक - द्वादशान्त अर्थात् ब्रह्मतालु मस्तक के छिद्र से अथवा द्वादश अंगुलपर्यन्त से खेंचकर पवन को अपनी इच्छानुसार अपने शरीर में पूरण करे उसको वायुविज्ञानी पंडितों ने पूरक पवन कहा है।
2. कुम्भक - उस पूरक पवन को स्थिर करके नाभि रूप कमल के भीतर घड़े के आकार में अतिदृढ़तापूर्वक रोकना कुम्भक प्राणायाम है।
3. रेचक-श्वासवायु को जो उदर के भीतर अतिशय प्रयत्नपूर्वक बाहर निकाले उसको पवनाभ्यास के शास्त्रों में विद्वानों ने रेचक प्राणायाम कहा है।

चार प्रकार के प्राणायाम का भी उल्लेख मिलता है - 1. प्रत्याहार, 2. शान्त, 3. उत्तर एवं 4. अधर।[2]

घेरण्डसंहिता में कुम्भक प्राणायाम के आठ भेद उल्लिखित हैं - 1. सहित, 2. सूर्यभेदी, 3. उज्जायी, 4. शीतली, 5. भस्त्रिका, 6. भ्रामरी, 7. मूर्च्छा तथा 8: केवली।[3]

सिद्धसिद्धान्तपद्धति के अनुसार प्राण की स्थिरता प्राणायाम है और इसके रेचक, पूरक, कुम्भक और संघट्टीकरण ये चार प्रकार हैं। इनमें पाप एवं दुःख का नाश होता है, तेज एवं सौन्दर्य बढ़ता है, दिव्यदृष्टि, श्रवणशक्ति, कामाचारशक्ति, वाक्शक्ति आदि शक्तियाँ प्राप्त होती हैं।[4] इस प्रकार प्राणायाम से अनेक सिद्धियों की प्राप्ति होती है।

प्राणायाम और बौद्धदर्शन - बौद्धदर्शन में प्राणायाम को आनापानस्मृति

1. शिवसंहिता, 3/29, 30, 54.
2. Tibetan Yoga and Secret Doctrines, P. 187-9
3. ज्ञानार्णव 26/4/42, 43
4. सिद्धसिद्धान्तपद्धति, 2/35.

कर्मस्थान कहा गया है।[1] आन का अर्थ है श्वॉस लेना और अपान का अर्थ है श्वॉस छोडना। इन्हें आश्वास-प्रश्वास भी कहते हैं।[2] कर्मस्थान[3] चालीस होते हैं और इन्हीं कर्मस्थानों की भावना कर सभी बुद्ध, प्रत्येकबुद्ध तथा बुद्धश्रावकों ने विशेष फल प्राप्त किया था।[4]

प्राणायाम और जैनपरम्परा - जैन परम्परा में प्राणायाम के सम्बन्ध में आपेक्षिक दो मत मिलते हैं - एक अपेक्षा के अनुसार हठात् प्राण का निरोध करने से शरीर में व्याकुलता उत्पन्न होती है और मन भी विचलित हो जाता है, जिससे मन स्वस्थ तथा स्थिर नहीं रह पाता। अत्यधिक पूरक, कुम्भक और रेचक करने में परिश्रम करना पड़ता है, जिससे मन में अल्प संक्लेश पैदा होता है।[5] दूसरी अपेक्षा के अनुसार प्राणायाम की प्रक्रिया से शरीर को कुछ देर के लिए साधा जा सकता है, रोग का निवारण किया जा सकता है, परन्तु साध्य को सिद्ध नहीं किया जा सकता।[6] इन मतों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्राणायाम किसी-न-किसी प्रकार साधना के एक साधन के रूप में अपेक्षित है।

ज्ञानार्णव में एक और 'परमेश्वर' नामक प्राणायाम का भी उल्लेख मिलता है अर्थात् जो वायु नाभिस्कन्ध से निकलकर हृदय में आता है और वहाँ से चलकर ब्रह्मरन्ध्र अथवा तालुरन्ध्र में स्थित हो जाता है, उसे परमेश्वर प्राणायाम कहते हैं।[7]

इस सन्दर्भ में वायु के अन्य चार प्रकार वर्णित हैं, जो कि नासिका विवर के क्रमशः चार मण्डलों से सम्बन्ध रखते हैं।[8] जैसे - 1. पुरन्दर - यह वायु पीला, उष्ण और स्वच्छ है और आठ अंगुल नासिका से बाहर तक रहता है। इस वायु का सम्बन्ध पार्थिव मण्डल से है जो पृथ्वी के बीज से परिपूर्ण तथा वज्रचिह्न से युक्त है। 2. वरुण - यह श्वेत तथा शीतल है और नीचे की ओर बारह अंगुल तक शीघ्रता से बहता है। यह वरुणमण्डल के अन्तर्गत अक्षर 'व' के चिह्न से युक्त, अष्टमी के चन्द्रमा के आकार का होता है। 3. पवन - यह वायु काला तथा उष्णशीत होता है और छह अंगुल प्रमाण बहता रहता है। यह वायव्य-मण्डल के अन्तर्गत गोलाकार, मध्यबिन्दु के चिह्न से व्याप्त, पवनबीज 'य' अक्षर से घिरा हुआ और चंचल होता है। 4. दहन - यह वायु लाल तथा उष्ण स्पर्श और बवण्डर की तरह चार अंगुल ऊँचा बहने वाला है। यह आग्नेय - मण्डल के अन्तर्गत त्रिकोण, स्वस्तिक चिह्न से युक्त तथा अग्निबीज रेफ "र" चिह्न से युक्त होता है।

---

1. बौद्धधर्मदर्शन, पृ. 81., मज्झिमनिकाय, 2/2/2, 3/2/8., विसुद्धिमग्गो, पृ. 269.
2. योगशास्त्र, 6/4-5.
3. योगशास्त्र : एक परिशीलन, पृ. 41.
4. ज्ञानार्णव, 26/47.
5. योगशास्त्र, 5/48-51.
6. वही, 5/42.
7. ज्ञानार्णव 26/47
8. ज्ञानार्णव 26/47

उक्त चारों प्रकार के वायु बाईं तथा दाहिनी नाड़ी से होकर शरीर में प्रवेश करते हैं। इस प्रकार इनका प्रवेश शुभ फलदायक समझा जाता है और जब उक्त वायु दोनों नाड़ियों से निकल रही होती है तो अशुभ फलदायक है।[1]

अत: निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि योगसाधना के लिए प्राणायाम अपेक्षित है, क्योंकि जहाँ इससे शरीर तथा मन का शुद्धीकरण होता है, वहाँ इसकी सिद्धि से जन्म और मृत्युकाल अथवा शुभाशुभ का ज्ञान होता है। फिर भी विभिन्न प्राणायामों की सिद्धि में मानसिक अवरोध उत्पन्न होने से जैनयोग इसे विशेष महत्त्व नहीं देता, यद्यपि प्राणायाम के विषय में कई प्रकार के विवेचन, विश्लेषण जैनयोग ग्रन्थों में उपलब्ध हैं।

प्रत्याहार –

धारणा जो प्रशान्तबुद्धि विशुद्धतायुक्त मुनि अपनी इन्द्रियों और मन को इन्द्रियों के विषयों से खींचकर जहाँ-जहाँ अपनी इच्छा हो, वहाँ-वहाँ धारण करे सो प्रत्याहार कहा जाता है। अर्थात् मुनि के इन्द्रिय और मन वश में होते हैं, तब मुनि जहाँ अपना मन लगाते हैं वहाँ लग सकता है, यह प्रत्याहार है।[2] वस्तुत: प्रत्याहार का अर्थ है उल्टा लौटना (प्रति-आहार, प्रति = प्रतिलोम-विपरीत भाव)। प्रत्याहारसाधना में स्वभावत: बहिर्मुखी इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों से विमुख कर अन्तर्मुखी बनाई जाती हैं, अत: उसे प्रत्याहार कहते हैं। भगवद्गीता में प्रत्याहार का वर्णन इन शब्दों में किया गया है –

प्रत्याहार साधना के लिए यत्नविशेष की आवश्यकता नहीं पड़ती। इन्द्रिय व्यापार चित्त की गति के अधीन है। यम, नियम, प्राणायामादि के अनुष्ठान से चित्त बाह्य विषयों से विरत हो चुकता है। अत: इन्द्रियाँ भी स्वत: विषयों से प्रत्याहृत हो जाती हैं। तात्पर्य यह है कि इन्द्रियाँ अनुकरण जैसा करती हैं, पर वास्तव में अनुकरण नहीं करतीं, क्योंकि चित्त तो प्रथम बाह्य विषयों से विमुख होकर बाद में आत्मतत्त्वाभिमुखी होता है, किन्तु इन्द्रियाँ केवल बाह्य विषयों से विमुख होती हैं, चित्तवत् आत्मतत्त्वाभिमुख नहीं होती। इस प्रकार प्रत्याहार इन्द्रियों का धर्म है, चित्त का नहीं।[3]

ग्रन्थकार प्रत्याहार का वर्णन करते हुए लिखते हैं – नि:संग (परिग्रहरहित) और संवर रूप हुआ है मन जिसका और कछुए के समान संकोच रूप है इन्द्रियाँ जिसकी ऐसा मुनि ही रागद्वेष रहित समभाव को प्राप्त होकर ध्यानरूपी तंत्र में स्थिरस्वरूप होता है। जितेन्द्रिय योगी विषयों से इन्द्रियों को तथा इन्द्रियों से मन को पृथक् करके तथा

1. ज्ञानार्णव, 27/1.
2. योगदर्शन (भाष्यबोधिनी).
3. ज्ञानार्णव, 27/2-4.

अपने मन को निराकुल करके अपने ललाट पर निश्चलतापूर्वक धारण करे, यह विधि प्रत्याहार में कही गई है।

आचार्य शुभचन्द्र कहते हैं कि समाधि को भलीभांति सिद्ध करने के लिए प्रत्याहार की प्रशंसा की जाती है। प्राणायाम से क्षोभ को प्राप्त हुआ मन स्वस्थता को प्राप्त नहीं होता है।[1] इन्द्रियसमूह का निरोध करके इन्हें अपने-अपने अभीष्ट विषय से विमुख करके समताभाव का आलम्बन लेता हुआ योगी मन को भालप्रदेश में भलीभांति लीन करके उसे स्थिर करे। इस प्रकार करने से समाधि की सिद्धि होती है। आचार्य ध्यान के स्थान ललाट के अतिरिक्त अन्य स्थानों का वर्णन करते हैं। निर्मल बुद्धि आचार्यों ने ध्यान करने के लिए नेत्रयुगल, दोनों कान, नासिका का अग्रभाग, ललाट, मुख, नाभि, मस्तक, हृदय, तालु, दोनों भौहों का मध्य भाग इन दश स्थानों में से किसी एक स्थान में अपने मन को विषयों से रहित करके आलम्बित करना अर्थात् इन स्थानों में से किसी एक स्थान पर ठहराकर ध्यान में लीन करना चाहिए। यही धारणा है।

इन पूर्वोक्त स्थानों में विश्राम रूप ठहराये हुए लक्ष्य चिंतन करने योग्य ध्येय वस्तु का विस्तार करते हुए मुनि के स्वसंवेदन रूप से ध्यान के कारण बहुत ही उत्पन्न होते हैं अर्थात् जिसका ध्यान किया चाहे, उसकी ही सिद्धि होती है।[1]

उपर्युक्त छह योगांगों के अतिरिक्त ध्यान और समाधि इन दो योगांगों का विवेचन ध्यान के विशद विवेचन नामक अध्याय में किया गया है। अत: उनको वहीं पर देखना चाहिए। इसलिए यहाँ पर उनका अलग से विवेचन नहीं किया गया है। धर्मध्यान के भेदों में ध्यान का और शुक्ल ध्यान के भेदों में समाधि का अन्तर्भाव किया गया है, ऐसा समझना चाहिए।

साधना की सिद्धि के लिए मत-मतान्तरों के विविध जाल में उलझा साधक का मन सहायक सामग्री के उचित चुनाव या निर्धारण करने में किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाता है। वहाँ द्विविध - बाह्य एवं अन्तरंग सहायक सामग्री की शुद्धि एवं सक्रियता को बनाएं रखने की प्रतिबद्धता होती है। आचार्य शुभचन्द्र ने ध्यान-योग परम्परा में व्याख्यायित मानकों का पुनरीक्षण करते हुए वृद्धसेवा एवं अपरिग्रह जैसे नवीन मानकों को स्थापित कर ध्यानसाधना को नया आयाम दिया है। उनका यह अवदान श्रेष्ठता एवं मानकीय रूप होने के कारण सदैव स्मरणीय किया जाएगा।

1. ज्ञानार्णव 27/12-14.

पञ्चम अध्याय

ध्यान योग का विशद वर्णन

जगत् में जीवों की संख्या अनन्त है और सभी सुख की इच्छा करते हैं। यद्यपि सुख की इच्छा सबकी एक-सी नहीं है, तथापि विकास की न्यूनाधिकता या कमीवेशी के अनुसार संक्षेप में जीवों के और उनके सुख के दो वर्ग किये जा सकते हैं - एक, अल्प विकास वाले प्राणी, जिनके सुख की कल्पना बाह्य साधनों तक ही सीमित है। वे प्रेय मार्ग में ही आनन्द मानते हैं। जबकि दूसरे, अधिक विकास वाले प्राणी, जो बाह्य (भौतिक साधनों) संपत्ति में सुख न मानकर सिर्फ आध्यात्मिक गुणों की प्राप्ति में ही सुख मानते हैं। वे श्रेयो मार्ग के पुजारी होते हैं। इन दोनों वर्ग के माने हुए सुख में अन्तर इतना ही है कि पहला सुख पराधीन है और दूसरा सुख स्वाधीन। पराधीन सुख को काम और स्वाधीन सुख को मोक्ष कहते हैं। ये दो ही पुरुषार्थ हैं। धर्म्य और अर्थ तो उसके साधन हैं। साधन के बिना साध्य सिद्ध नहीं हो सकता। इन दोनों में कार्य-कारणभाव समाविष्ट है। इन दो साधनों के द्वारा ही प्राणी असंख्य प्रकार की विचारधारा में परिणमन करता रहता है। विचारों के अनेक पडाव होने पर भी मुख्य रूप से वे दो रूपों में ही होते हैं - एक शुभ और दूसरी अशुभ। यद्यपि ये विचारधारा चाहे शुभ हो या अशुभ, किन्तु ये आत्मा की ही वैभाविक स्वाभाविक परिणतियाँ होती हैं। इन असंख्य विचारधाराओं को ही बोधगम्य बनाने की दृष्टि से ज्ञानियों ने इन्हें चार भागों में विभाजित किया है। वे चार भाग ही ध्यान की संज्ञा को प्राप्त होते हैं।

आचार्य शुभचन्द्रदेव ने ध्यान के भेदों का वर्णन करते हुए सर्वप्रथम ध्यान के प्रशस्त ध्यान एवं अप्रशस्त ध्यान ये दो भेद किये हैं। जो कि पूर्वोक्त परम्परा के निर्वाह के साथ नामान्तरकरण ही है। उनके लक्षणों को लिखते हुए आचार्यदेव लिखते हैं -

जिस ध्यान में मुनि राग से रहित होकर वस्तु स्वरूप का विचार करते हैं उसे पाप से रहित हुए आचार्य प्रशस्त ध्यान मानते हैं। तथा जो जीव वस्तुस्वरूप के यथार्थ ज्ञान से रहित है तथा जिसका मन राग-द्वेषादि विकारों से आहत है उसके मन की जो स्वतन्त्रता से प्रवृत्ति होती है, वह जो यद्धा तद्धा विचार करता है, उसे अप्रशस्त ध्यान कहा जाता है।[1]

---

1. प्रशस्तेतरसंकल्पवशात्तद्विधते द्विधा।
इष्टानिष्टफलप्राप्तेर्बीजभूतं शरीरिणाम्॥
अस्तरागो मुनिर्यत्र वस्तुतत्त्वं विचिन्तयेत्।
तत्प्रशस्तं मतं ध्यानं सूरिभिः क्षीणकल्मषैः॥
अज्ञातवस्तुतत्त्वस्य रागाद्युपहतात्मनः।
स्वातन्त्र्याद् वृत्तिर्या जन्तोरस्तद्धसद्धयानमुच्यते॥ - ज्ञानार्णव, 23/15-18.

पुन: इन्हीं ध्यानों में अप्रशस्त ध्यान के आर्त्त और रौद्र तथा प्रशस्त ध्यान के धर्म्य और शुक्ल इस प्रकार चार भेद किये हैं। इसी प्रकार आगम ग्रन्थों में भी इन्हीं चार भेदों का उल्लेख है।[1]

1. आर्त्तध्यान –

आर्त्तध्यान शब्द का अर्थ – चेतना की अरति या वेदनामय एकाग्र परिणति को आर्त्तध्यान कहा गया है। 'ऋते: भवम् आर्त्तम्' इस निरुक्ति के अनुसार दु:ख में होने वाली संक्लिष्ट परिणति का नाम आर्त्तध्यान है। दु:ख के निमित्त से या दु:ख में होने वाली दशा या परिणति को आर्त्तध्यान कहा गया है। इसी प्रकार राग भाव से जो उन्मत्तता होती है, वह केवल अज्ञान के कारण ही होती है जिसके फलस्वरूप जीव उस अवांछनीय वस्तु की प्राप्ति– अप्राप्ति के प्रति दु:खी होता है वही आर्त्तध्यान है। आर्त्तध्यान सामान्यत: तो दु:ख– क्लेश रूप परिणाम है।

अनिष्ट संयोगज, इष्टवियोगज, रोगप्रकोपजनित या पीडाचिन्तन तथा निदान के आधार पर आर्त्त ध्यान के चार प्रकार हैं।

तत्त्वार्थसूत्र के कर्त्ता आचार्य उमास्वामी ने भी आर्त्तध्यान के चार प्रकार बतलाये हैं।[2] तत्त्वार्थसूत्र की परम्परा के सभी मनीषियों ने एक स्वर में इन चारों ही भेदों का कथन किया है।[3] ध्यान से सम्बन्धित अन्य ग्रन्थों में भी आर्त्त ध्यान के चार भेदों का ही कथन हुआ है।[4]

1. अनिष्टसंयोगज – अपने कुटुम्बीजन, धन, शरीर को नष्ट करने वाले, अग्नि, जल, विष, शस्त्र, सर्प, सिंह, भूमि तथा बिल में रहने वाले जीव जन्तु, दुर्जन, शत्रुत्व रखने वाले राजा इत्यादि के कारण अनिष्ट संयोग या अनभीप्सित स्थिति का प्राप्त होना प्रथम अनिष्टसंयोग नामक आर्त्तध्यान है। इसमें अपने समक्ष आए हुए या नहीं आये हुए भी अनिष्ट पदार्थों के द्वारा जो क्लेश होता है वह भी अन्तर्भूत हो जाता है।

2. इष्टवियोगज – इष्टवियोगज आर्त्तध्यान का वर्णन करते हुए आचार्य शुभचन्द्र ने लिखा है – राज्य, ऐश्वर्य, स्त्री, पारिवारिकजन, सुहृद्, सौभाग्य, भोग्यपदार्थ, चित्त के लिए प्रीतिकर, सुन्दर इन्द्रिय विषय – इनका नाश होने पर संत्रास, भ्रम, शोक

1. अट्टं रुद्दं धम्मं सुक्कं झाणाइ तत्थ अंताइं।
   णिव्वाणसाहणाइं भवकारणमट्टरुद्दाइं॥ – ध्यानशतक, 5.
2. आर्त्तरौद्रधर्म्यशुक्लानि॥ – तत्त्वार्थसूत्र 9/28.
3. प्रियभ्रंशेऽप्रियप्राप्तौ निदाने वेदनोदये।
   आर्त्तकषायसंयुक्तं ध्यानमुक्तं समासत:॥ – तत्त्वार्थसार 7/36.
4. मूलाचार 5/197, तत्त्वानुशासन 34. ध्यानस्तव 9.

और मोह के कारण रात-दिन रिक्तता का अनुभव करना, उसी में एकाग्रता लिए घुले रहना इष्टवियोग जनित आर्त्तध्यान है। वे कैसे प्राप्त हों क्षण-क्षण उसे यही व्यथा या आकुलता बनी रहती है वह और सभी भूल जाता है, इसी पर टिका रहता है।

चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, मांडलिक राजा आदि का राज्य-वैभव, सामान्य राज्य वैभव, भोगभूमि के अखण्ड सुख सौभाग्य, प्रधानमंत्री, मुख्यसेनापति आदि की पदवियाँ, मनुष्य-देव सम्बन्धी कामभोगों की प्राप्ति, नवयुवतियों का संयोग, पर्यंक, शय्या, अश्व, गज, रथ, कार आदि विविध वाहनों का योग, चन्दन, इत्र, सुगन्धित तेल आदि मोहक पदार्थों की प्राप्ति, रत्न एवं सुवर्णजडित अनेक प्रकार के आभूषण, धन-धान्यादि की विपुल प्राप्ति आदि इन सभी पदार्थों का संयोग होने पर सातावेदनीय कर्म के उदय से उनके वियोग न होने का अध्यवसाय करना तथा भविष्य में भी उनका वियोग न हो ऐसा निरन्तर चिन्तन करना द्वितीय आर्त्तध्यान है।

इसके अतिरिक्त भोगों का नाश, मनोज्ञ इन्द्रियों के विषयों का प्रध्वंस, व्यापारादि में हानि, काल ज्ञान विषयक ग्रन्थ, स्वरादि लक्षणों, ज्योतिष आदि विद्या से अल्प आयु का ज्ञान होने पर चिन्तित होना, स्वजन के छोड़ जाने से मूर्च्छित होना, मित्रादि के वियोग से दुःखी होना, मृत्यु का चिन्तन करना, धन-संपत्ति का अपहरण होने पर खिन्न होना, यशःकीर्त्ति, मान-सम्मान के लिए प्रयत्नशील रहना, प्रतिष्ठा के लिए धनादि का अधिक व्यय करना, दुर्बलता एवं दरिद्रता के कारण पश्चात्ताप करना, मनोज्ञ वस्तु की प्राप्ति के लिए सतत् प्रयत्नशील रहना और उनकी प्राप्ति के बाद उनके वियोग की निरन्तर चिन्ता करना ही मनोज्ञ अवियोग चिन्ता नामक द्वितीय आर्त्तध्यान है।[1]

3. रोगप्रकोपजनितपीडाचिन्तन - वात, पित्त, कफ के प्रकोप से होने वाले भयंकर कंठमाला, कोढ, राजयक्ष्मा, क्षय, अपस्मार - मूर्च्छा, मिर्गी, नेत्ररोग, शरीर की जड़ता, अपङ्गता, कुब्जकपना, उदररोग- जलोदरादि, मूक, सूजन-शोथ, भस्मकरोग, कम्पन, पीठ का झुकना, श्लीपद (हाथीपाँव), मधुमेह और प्रमेह इन सोलह महारोगों से उत्पन्न पीड़ा और कष्ट अति दुःखदायक है।

मनुष्य के शरीर में साढे तीन करोड रोम माने जाते हैं। उनमें से प्रत्येक रोम में पौने दो रोग कहे जाते हैं। जब तक मनुष्य के सातावेदनीय कर्म का उदय रहता है, तब तक रोगों की अनुभूति नहीं होती। परन्तु जैसे ही असातावेदनीय कर्म का उदय होता है कि इन सोलह रोगों में से किसी भी एक रोग का विपाक होता है। रोग के विपाक होते ही उसकी भयंकर वेदना से मन व्याकुल हो जाता है। उसे दूर करने के लिए प्रयत्न शुरु किये जाते हैं। नाना प्रकार के आरम्भ, समारम्भ, छेदन, भेदन, पचन, पाचन, आदि क्रियाएँ की

1. ध्यान शतक, गाथा . 8, ज्ञानार्णव 25/29-31, ध्यानदीपिका गाथा, 73-74, सिद्धान्तसारसंग्रह 11/38, श्रावकाचारसंग्रह भाग 5, पृ. 351.

जाती हैं। इस प्रकार रोग के विपाक होने पर उसके वियोग का सतत् चिन्तन करना ही आतंक नामक तीसरा आर्त्तध्यान है।[1]

4. निदान (भोगेच्छा) - तप-जप के फल रूप में देवेन्द्र, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव आदि ऋद्धि, राज्य की प्राप्ति, इन्द्र पद की इच्छा, विद्याधरों का आधिपत्य, धरणेन्द्र के भोगने योग्य भोग, स्वर्ग सम्पदा, स्वर्ग लक्ष्मी, संसार का विपुल वैभव, देवांगना का सुख-विलास, पूजा, मान-सम्मान, यश:कीर्ति की कामना, क्रोधाग्नि से दूसरे का अहित करने की भावना, कुलविनाशक भावना की कामना करना ही निदान नामक चतुर्थ आर्त्तध्यान है।[2]

पाँचों इन्द्रियों में दो इन्द्रियाँ (आँख और कान) कामी हैं तथा शेष तीन इन्द्रियाँ (स्पर्शन, रसना, घ्राण) भोगी हैं। इन इन्द्रियों द्वारा अर्थात् श्रोतेन्द्रिय द्वारा राग-रागिनी का श्रवण, किन्नरियों का गायन, वाद्यादि के मनोहर राग सुनने के भाव उत्पन्न होना एवं उसमें आनन्द मानना, चक्षुरिन्द्रिय से नृत्य, सोलह शृङ्गारों से सुसज्जित स्त्री, विभिन्न मनोहर रमणीय दृश्यों एवं चित्रों को देखना, घ्राणेन्द्रिय से इत्र-पुष्पादि सुगन्धित पदार्थों को सूंघना, रसनेन्द्रिय से षट् रस भोजन एवं अभक्ष्य सेवन की भावना होना तथा भक्षण करना, स्पर्शेन्द्रिय से शयनासन, वस्त्र एवं आभूषण आदि विलासमय भोगों को भोगने की भावना होना ही भोगेच्छा अथवा भोगार्त्त नामक चतुर्थ आर्त्तध्यान है।

यह चार प्रकार का आर्त्तध्यान संसारवर्धक, रागद्वेष- मोहादि से कलुषित जीव को होता है। तिर्यञ्चगति का कारण एवं रागद्वेषमोहादि भाव का जनक होने से संसार वृक्ष का बीज है।[3]

संसार के अधिकतर प्राणियों को आर्त्तध्यान ही होता है। ये जीव आर्त्तध्यान में ही निमग्न रहते हैं। किसी को इष्ट का वियोग होने के कारण दु:ख है तो किसी को अनिष्ट

1. आचारांगसूत्र, ज्ञानार्णव 25/32,
   ध्यान शतक गाथा 7.
   ध्यानदीपिका (गुजराती - विजयकेशरसूरि) गाथा 76.
   तत्त्वार्थसूत्र 9/32.
2. तत्त्वार्थसूत्र 9/34.
   ध्यानशतक गाथा 9.
   ज्ञानार्णव 25/35-36.
3. एवं चउव्विहरागद्दोसमोहकियस्स जीवस्स।
   अट्टज्झाणं संसारवद्धणं तिरियगइमूलं ॥
   रागो दोसो मोहो य जेण संसार हेयवो भणिया।
   अट्टंमि य ते तिण्णि वि, तो तं संसार तरुबीयं ॥ -ध्यानशतक गाथा 10, 13.

संयोग में, किसी को अनिष्ट से संयोग न हो जाए इसकी पीड़ा है तो कहीं रोग की चिन्ता और किन्हीं लोगों को काम-भोगों की तीव्र लालसा ने विकल कर रखा है। ये सभी प्रकार के आर्त्तध्यान संसार के कर्मबन्धन के कारण हैं। ये अशुभध्यान सदा अच्छे पुण्य आदि का नाश करके जीव को सांसारिक विषय भोगों की ओर उन्मुक्त करते हैं। जिससे उसका मोक्षमार्ग अवरुद्ध हो जाता है। इसलिए ये आर्त्तध्यान सर्वदा त्याज्य हैं।

आर्त्तध्यान के अवान्तर भेद को निदर्शित करने वाली सारिणी चारित्रसार[1] के अनुसार निम्न है -

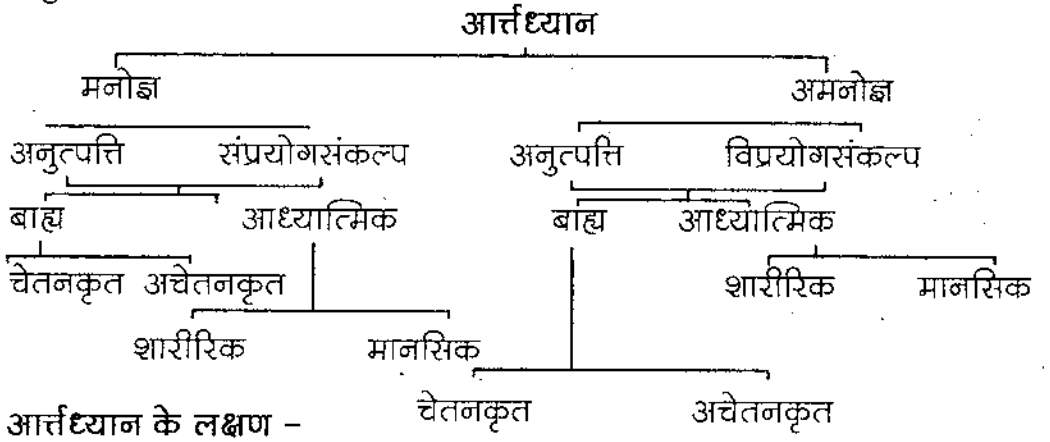

आर्त्तध्यान के लक्षण -

आर्त्तध्यान से आश्रित चित्त वाले जीवों के बाह्य चिह्नों के सम्बन्ध में शास्त्रज्ञ विद्वानों ने कहा है - "मनुष्य चाहे अपने को चालाक समझकर यह छिपाये कि उसे आर्त्तध्यान नहीं होता, किन्तु उसके ढिल में स्थित आर्त्तध्यान से पीड़ित व्यक्ति सबसे पहले तो शङ्कालु होता है फिर उसको शोक व भय से प्रमाद तक होने लगता है। उसका चित्त एक जगह नहीं ठहरता। वह विषयी होकर हर वक्त सोने लगता है, उसका शरीर धीरे-धीरे शिथिल पड़ने लगता है।[2] वह जीव निरन्तर आक्रान्त, शोक, क्रोध आदि क्रियाएँ करता है। इष्टवियोग, अनिष्टसंयोग तथा वेदना के कारण होते हैं। जोर-जोर से चिल्लाकर छाती पीट-पीटकर रोता है, आँसू बहाता है, बाल नोचता है एवं वाणी से ढिल का गुस्सा उतारता है।"[3] वह परिग्रह में अत्यन्त आसक्त होकर एवं लोभी होकर, शोक करता हुआ अपनी जीविका चलाता है।

उसका शरीर क्षीण पड़ जाता है अत: मूर्च्छा आती है, शरीर की कान्ति नष्ट हो

1. चारित्रसार 167/4.
2. ज्ञानार्णव, 25/43.
3. तरसऽक्कंदण-सोयण-परिदेवेण-ताडणाइं लिंगाइं।
   इट्ठाऽणिट्ठविओगाऽविओग-वियणानिमित्ताइं॥ - ध्यानशतक 15-17.

जाती है। इस प्रकार से इन अनेक बाह्य लक्षणों से आर्त्तध्यान का पता चल जाता है।[1] जिसे केवल अपनी ही आत्मा जान सके वह आध्यात्मिक आर्त्तध्यान कहलाता है और जिसे अन्य लोग अनुमान कर सके बाह्य आर्त्त कहलाता है।[2]

आर्त्तध्यान के गुणस्थान एवं स्वामी -

आर्त्तध्यान चारों भेदों सहित छठे गुणस्थान तक ही रहता है।[3] आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने भी अपनी सर्वार्थसिद्धि टीका में कहा है - ''अविरत - असंयतसम्यग्दृष्टि और देशविरत जीवों के चारों ही प्रकार का आर्त्तध्यान होता है, क्योंकि वे सब असंयमी होते हैं। प्रमत्तसंयतों के तो निदान के बिना शेष तीन ही आर्त्तध्यान प्रमाद के उदय की तीव्रतावश कदाचित् होते हैं।''[4]

हरिवंशपुराण के अनुसार छह गुणस्थानों तक छह भूमि वाला आर्त्तध्यान माना गया है।[5] ज्ञानार्णव में भी छह गुणस्थान तक ही आर्त्तध्यान माना है, लेकिन संयतासंयत नामक पाँचवें गुणस्थान तक तो चार भेद सहित रहता है किन्तु छठे गुणस्थान में निदान रहित तीन प्रकार का ही रहता है।[6]

तत्त्वार्थवार्तिक में भी कहा है कि - ''निदान को छोड़कर शेष ध्यान प्रमाद के उदय की तीव्रता से होते हैं, निदान प्रमत्त संयतों के नहीं होता है।''[7]

मूलाचार, स्थानाङ्ग, समवायाङ्ग और औपपातिकसूत्र में से किसी में भी ध्यान के स्वामियों का उल्लेख नहीं किया गया है। ध्यानशतक में भी आर्त्तध्यान मिथ्यादृष्टि व असंयतसम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्तसंयत गुणस्थानवर्ती जीवों के होता है, ऐसा कहा गया है और वह चूंकि सब प्रकार के प्रमाद का मूल कारण है, मुनिजनों के लिए यह सर्वथा त्याज्य है।[8]

---

1. मूर्च्छा कौशील्यकेनाश्य कौसीद्यान्यति गध्नुता।
   भयोद्वेगानुशोकाच्च लिङ्गान्यार्त्ते स्मृतानि वै॥
   बाह्यं च लिङ्गमार्त्तस्य गात्रग्लानिर्विवर्णता।
   हस्तान्यत्कपोलत्वं साश्रुतान्यच्च तादृशम्॥ - महापुराण 21/40-41.
2. स्वसंवेद्याध्यात्मिकार्त्तध्यान - चारित्रसार, 167/5.
3. तदविरतदेशविरतप्रमत्तसंयतानाम् - तत्त्वार्थसूत्र 9/34.
4. सर्वार्थसिद्धि 9/34 पृ.
5. हरिवंशपुराण 56/18
6. ज्ञानार्णव 25/38-39.
7. तत्त्वार्थवार्तिक 3/41/1.
8. तदविरदेसविरया-पमायपरसंजयाणुगं झाणं।
   सव्वप्पमायमूलं वज्जेयव्वं जइजणेणं॥ - ध्यानशतक गाथा 18.

आर्त्तध्यान और लेश्या –

आर्त्तध्यान अशुभ या अप्रशस्त ध्यान के अन्तर्गत आता है इसलिए यह अशुभ होने के कारण अशुभ लेश्या वाला ही होता है। इसके कृष्ण, नील और कापोत ये तीन अशुभ लेश्याएं होती हैं, जो पाप रूप अग्नि में ईंधन के समान होती हैं।[1] जीव के कर्मों से उद्धित हुई ये तीनों लेश्याएं अत्यधिक संक्लिष्ट नहीं होतीं। जितनी वे रौद्रध्यान में अपने अत्यधिक रूप में रहती हैं, उतनी वे आर्त्तध्यान में प्रभावशाली नहीं होकर हीन रूप में विद्यमान रहती हैं।[2] इन्हीं अशुभ लेश्याओं पर आश्रित होकर अशुभ रूप आर्त्तध्यान उत्पन्न होता है।

आर्त्तध्यान का फल –

संसार, कर्मबन्धन के कारण निर्मित होता है। आर्त्तध्यान से कर्मों का क्षय नहीं होता अपितु कर्मों का बन्धन बढता है और कर्मों का बन्धन बढ़ने से संसार की वृद्धि होती है, वह माया-मोह के चक्कर में पड़ जाता है एवं जन्म-मरण के भवसागर में चक्कर लगाता है ये सब ही आर्त्तध्यान के फलस्वरूप होता है। यही सामान्य रूप से आर्त्तध्यान का फल है। लेकिन इस फल के अलावा आर्त्तध्यान का एक विशेष फल होता है तिर्यञ्चगति।[3] तिर्यञ्चगति अनन्तदु:खों से व्याप्त है।[4] आर्त्तध्यान अत्यन्त अशुभ दु:खों से व्याप्त एवं समस्त क्लेशों से भरा हुआ होने के कारण संसार के बन्धन का हेतु माना गया है।

रौद्रध्यान –

रौद्रध्यान का लक्षण – "प्राणिनां रोदनाद् रुद्र:, तत्र भवं रौद्रम्" अर्थात् क्रूर, कठोर एवं हिंसक व्यक्ति को रुद्र कहा जाता है और उस प्राणी अर्थात् उस रुद्र प्राणी के द्धारा जो कार्य किया जाता है, उसके भाव को रौद्र कहते हैं।[5] इन अतिशय क्रूर भावनाओं

1. कावोय-नील-कालालेस्साओ णाइसंकिलिट्ठाओ।
   अट्टज्झाणोवगयस्स कम्मपरिणामजणिआओ।। – वही, 14.
2. अप्रशस्ततमं लेश्या त्रयमाश्रित्य जृम्भितम्।
   अन्तर्मुहूर्त्तकालं तद् अप्रशस्तावलम्बनम्।। – महापुराण, 21/38.
   चारित्रसार, 169/3.
3. एयं चउव्विह राग-द्दोस-मोहं कियस्स जीवस्स।
   अट्टज्झाणं संसारवद्धणं तिरियगइमूलं।। – ध्यानशतक गाथा 10
4. अनन्तदु:खसंकीर्णमस्य तिर्यग्गते: फलम्। – ज्ञानार्णव, 25/40. सर्वार्थसिद्धि 9/29.
   राजवार्तिक 9/33/1/629. चारित्रसार 169/4. मूलाचारप्रदीप 6/2016.
5. रुद्र: क्रूराशय: प्राणी प्रणीतस्तत्त्वदर्शिभि:।
   रुद्रस्य कर्मभावो वा रौद्रमित्यभिधीयते।। – ज्ञानार्णव, 26/2.
   रुद्र: क्रूराशय: कर्म तत्र भवं वा रौद्रम्। – सर्वार्थसिद्धि, 9/28/445/19.
   राजवार्तिक 9/28/2/627/28. भावपाहुड टीका 78/423.

तथा प्रवृत्तियों से संश्लिष्ट ध्यान को रौद्रध्यान कहा है।[1] जो पुरुष प्राणियों को रुलाता है, वह रुद्र व क्रूर कहलाता है तथा उस पुरुष के द्वारा जो ध्यान किया जाता है वह रौद्रध्यान कहलाता है।[2] यह ध्यान भी अशुभ अथवा अप्रशस्त ध्यान है। इसमें जीव स्वभाववश सभी प्रकार के पापों को करने में प्रवृत्त रहता है। वह हिंसा आदि पापकार्य करके गर्वपूर्वक डींगे मारता है। यह ध्यान अत्यन्त अनिष्टकारी है। चोर, शत्रुजनों के वध सम्बन्धी महाद्वेष से उत्पन्न ध्यान रौद्रध्यान कहलाता है।

हिंसा में आनन्दानुभूति, असत्य वचन से सुख मानना, चोरी में प्रसन्नता का अनुभव करना तथा विषयों के संरक्षण में सोत्साह रहना इन चारों के आधार पर जीवों में उत्पन्न होने वाला रौद्रध्यान चार प्रकार का होता है। जिनके नाम निम्न हैं -

1. हिंसानन्दी
2. मृषानन्दी
3. चौर्यानन्दी
4. संरक्षणानन्दी[3]

1. हिंसानन्द रौद्रध्यान - एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक किसी भी जीव को या सचित्त पदार्थ को स्व तथा पर से छेदन, भेदन, ताड़न, मारन, तापन, बन्धन, प्रहार, दमन आदि की प्रवृत्ति करना, नभचर- कौवा, तोता, कबूतर, आदि पक्षी, जलचर- मगरमच्छ, मत्स्य आदि जन्तु, स्थलचर - गाय, भैंस, सिंह, बाघ, हाथी, घोड़ा, बैल आदि पशुओं के कान, नाक आदि बींधना, जंजीर आदि से बांधना, तलवार आदि शस्त्रों से प्राणरहित करने में आनन्द मनाना, हिंसक प्रवृत्ति में सतत् कुशल रहना, पापकारी कार्य में प्रवीण, क्रूर, निष्ठुर, निर्दय लोगों से मैत्री करना अर्थात् सतत् उनके साथ रहना, प्राणियों को कैसे मारा जाय ? उसके लिए कौन से उपाय किये जाएं ? इसमें कौन चतुर है ? इस प्रकार का संकल्प-विकल्प करना, अश्वमेधयज्ञ, गोमेधयज्ञ, अजमेधयज्ञ, नरमेधयज्ञ आदि यज्ञादि में प्राणियों की हिंसा करके आनन्द मनाना, उन्हें जलते हुए देखकर प्रसन्न होना, खुशी मनाना; निरपराध जन्तुओं को पीड़ित करके खुश होना, शान्ति

---

1. प्राणिनां रोदनाद् रुद्रः क्रूरः सत्त्वेषु निर्घृणः।
   पुंसांस्तत्र भवं रौद्रं विद्धि ध्यानं चतुर्विधम्॥ - महापुराण, 21/42
   भगवती आराधना, 1703/1528. मूलाचार, 396.
2. नियमसार, तात्पर्यवृत्ति, 89.
3. हिंसानन्दामृषानन्दाच्चौर्यात्संरक्षणात्तथा।
   प्रभवत्यङ्गिनां शश्वदपि रौद्रं चतुर्विधम्॥ - ज्ञानार्णव, 24/3.

स्थापित करने के लिए ब्राह्मण, गुरु, देवता आदि की स्वार्थबुद्धि से पूजा एवं स्मरण करने का संकल्प करना, जीवों को बन्धन में बांधकर, शत्रु को शक्तिहीन कर, युद्ध में जय-विजय- पराजय की भावना कर आनन्दित होना, कत्लखाने में प्राणियों के करुण क्रन्दन को देख-सुनकर अत्यधिक आनन्दित होना, शूली पर चढते हुए जीव की वेदना को देखकर विचार करे, कि अच्छा हुआ, इसे तो ऐसा ही दण्ड मिलना चाहिए था, बड़ा जुल्मी था, पापी था, क्रूर था, निर्दयी था, हिंसक था, अच्छा हुआ मर गया। शिल्पकारों की कलाओं से प्रसन्न होकर हिंसक प्रवृत्ति में रस लेना। डास-मच्छर, सर्प, बिच्छू आदि विषैले प्राणियों को दवा आदि से खत्म करके आनन्दित होना तथा चक्की, हल, बखर, कुदाली, फावड़ा, ऊखल, मूलस, सरौता, हसियाँ, हथौड़ा, कैंची, बन्दूक, तलवार, चाकू आदि अनावश्यक वस्तुओं का संग्रह करके जीवों की हिंसा करने में खुशी मनाना। ये सभी हिंसानुबन्धी रौद्रध्यान हैं। ये सभी बातें रौद्रध्यान के प्रथम भेद में आती हैं। इसके अतिरिक्त ईर्ष्यावृत्ति, मायावृत्ति, हिंसक शस्त्र, वस्त्र, ग्रन्थ, होम आदि का निर्माण करना एवं हमेशा हिंसाजनक वस्तुओं को उपयोग में लाने की भावना रखना हिंसानुबन्धी रौद्रध्यान है।"

2. मृषानन्द रौद्रध्यान - झूठी कल्पनाओं के जाल से उत्पन्न, पाप के मैल से मलिन चित्त होकर व्यक्ति जो चेष्टाएँ करता है, उसी में रमा रहता है, संलग्न रहता है, उसके अतिरिक्त उसका चिन्तन अन्यत्र जाता ही नहीं, ऐसा मृषानन्द रौद्रध्यान कहा गया है। जो असत्यभाषी अभिमान के वशीभूत होकर यह विचार करता है कि मैं ठगने वाले शास्त्र को रचकर और दुष्टतापूर्ण मार्ग का उपदेश देकर लोगों को आपत्ति में डालूँगा व अभीष्ट सुख को भोगूँगा, इसके अतिरिक्त असत्यभाषण की चतुराई के प्रभाव से मैं लोगों से बहुत प्रकार के धन को तथा घोड़ा, हाथी, नगर, सुवर्ण आदि की खानों एवं सुन्दर कन्यादि रूप रत्नों को ग्रहण करूँगा, इस प्रकार जो असत्य वचनों के द्वारा बेचारे साधारण जनों को अतिशय ठगता हुआ उन्हें समीचीन मार्ग से भ्रष्ट करके कुमार्ग में प्रवृत्त कराता है वह रौद्रध्यान का स्थान (आश्रय) होता है। ठग विद्या के शास्त्रों का संग्रह करना एवं निर्माण करना, व्यसनी होना, चतुराई से दूसरों को ठगना तथा असत्य के बल से राजा, प्रजा, सेठ, साहूकार, भोले जीवों को परेशान करना, असत्य वचन का सतत् प्रयोग करना, वाक् कुशलता से

---

1. हते निष्पीड़िते ध्वस्ते जन्तुजाते कदर्थिते।
   स्वेन चान्येन यो हर्षस्तद्धिंसारौद्रमुच्यते।। - ज्ञानार्णव, 24/4,7
   ध्यानशतक, गाथा 19.
   स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा 475.
   सिद्धान्तसारसंग्रह, 11/42.
   ध्यानकल्पतरु, पृ. 12.
   ध्यानदीपिका, गाथा 85-86.

वांछित प्रयोजन हेतु मूढ़जनों को संकट में फँसाना, बूढ़े, रोगी, नपुंसक आदि का विवाह करवाना; दूसरों के साथ विश्वासघात करना, गाय, घोड़ा आदि पशुओं की, तोता-मैना आदि पक्षियों की एवं खेत, बाग, कुआँ आदि की झूठी प्रशंसा करके प्रपंच फैलाकर, बुरे को अच्छा बताकर, अच्छे को बुरा बताकर, इन सबका क्रय-विक्रय करना, करवाना, झूठी गवाही देना, झूठे लेख लिखाना, धन, मकान आदि का अपहरण करना, करवाना, व्यापार एवं अन्य कार्य में ढगाबाजी से दूसरे को ठगने का प्रयत्न करना, उसमें प्रसन्न होना, अपना मनमाना मिथ्यापंथ चलाना, वीतराग प्ररूपित शास्त्रों के अतिरिक्त अन्य कल्पित ग्रन्थों की रचना करना, करवाना, इन ग्रन्थों द्धारा भोली जनता को भ्रम में डालना, दया में पाप बताना, हिंसा मार्ग का समर्थन करना, दूसरे की चुगली खाने का सोचना, दूसरे की नापंसद बात को किसी के सामने नमक-मिर्च लगाकर कह देने की उग्र व क्रूर इच्छा करना, तिरस्कार वचन, गाली, अपशब्द या अधम असभ्य शब्द सुना देने का सोचना, दूसरों के पास से येन-केन-प्रकारेण स्वार्थ साधने के लिए संकल्प करना, असत्य को सत्य करके लोगों के गले बात उतारना, सतत् मायामृषावचन मन में गढना, बहिरे, अन्धे, लूले, अपंग, कोढी आदि लोगों की हंसी-मजाक करना, करवाना, निर्दोषियों में दोष समूह को सिद्ध करके अपने असत्य सामर्थ्य के प्रभाव से अपने दुश्मनों का राजा के द्धारा अथवा अन्य किसी के द्धारा घात कराने का संकल्प करना, मूर्ख प्राणी को चतुराई के वचनों द्धारा ठगने में मैं चतुर हूँ - ऐसा सोचना, विचार करना तथा ये प्राणी मेरी प्रवीणता से बड़े अकार्यों में प्रवर्तेंगे ही, इसमें कोई संदेह नहीं, ऐसे विचार करना, यह दुष्टात्मा हमेशा असत्य बोलकर मेरा नाश करता है, इसलिए असत्य भाषण से यह दुष्टात्मा वध-बंधादि को प्राप्त होगा, ऐसा सतत् चिन्तन करना, ज्ञानी, ध्यानी, शीलवान् व्यक्तियों से सतत् ईर्ष्या करना, पागल आदि को देखकर उन्हें सताना, चिढ़ाना, उन्हें चिढ़ते हुए देखकर अत्यधिक आनन्दित होना, जुआ, ताश, शतरंज आदि खेलों में स्वभावतः झूठ बोलना, व्यर्थ की बकवाद करना, हस्तकौशलादि कार्यों में मन्त्र-तन्त्र-यन्त्रादि के आडम्बर द्धारा अपनी प्रतिष्ठा सुनने में आनन्दित होना आदि इन सभी प्रवृत्तियों को करते हुए आनन्दित होना मृषानुबन्धी रौद्रध्यान अथवा मृषानन्द रौद्रध्यान है।[1]

3. चौर्यानन्द रौद्रध्यान - चोरी विषयक उपदेश का बाहुल्य, चौर्यकर्म में चतुराई तथा चोरी में जो असाधारण रुचि होती है उसे चौर्यानन्द रौद्रध्यान कहते हैं।[2] रौद्रध्यान चोरी के क्रूर चिन्तन से उत्पन्न होता है। दूसरे के पैसे, माल, पत्नी-पुत्रादि, जायदाद, धन-धान्य, मकान, गाय, भैंस आदि पशुओं को कैसे हजम करूँ, प्राप्त करूँ

1. ध्यानशतक गाथा 20.
ज्ञानार्णव, 26/16-23. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा 475. सिद्धान्तसारसंग्रह 11/43.
2. चौर्योपदेशबाहुल्यं, चातुर्यं चौर्यकर्मणि।
यच्चौर्यकरतं चेतस्तच्चौर्यानन्दमिष्यते॥ - ज्ञानार्णव, 24/22.

एवं परकीयों का धन किस उपाय से ग्रहण किया जा सकता है, ऐसे क्रूर चिन्तन में सतत् तन्मय होना स्तेयानुबन्धी रौद्रध्यान है। उसके उपायों का विचार, दाँवपेंच लगाने का विचार, सामने वाले की नजर बचाने, आँखों में धूल डालने आदि की तन्मय विचारधारा में चढ़ना एवं चोरी के कार्यों के उपदेश की अधिकता तथा चौर्य कर्म में चतुरता, चोरी के प्रत्येक कार्यों में तत्परता होना, जीवों के चौर्यकर्म के लिए निरन्तर चिन्ता उत्पन्न होना तथा चोरी करके भी निरन्तर आनन्दित एवं हर्षित होना, दूसरा कोई चोरी का कार्य करता हो तो हर्ष मानना, स्वयं एवं दूसरे के चौर्य कला, कौशलता की प्रशंसा करना, दूसरों की बहुमूल्य वस्तुओं को ठगाई (छल) से प्राप्त करना, सारभूत द्विपद, चतुष्पद जीवों को सामर्थ्य बल से अपना बताकर भोगना एवं सतत् चौर्य कृत्य का चिन्तन, परधन हरण की चिन्ता मन, वचन, काय से स्वयं करना, कराना, अनुमोदना देना इन सबको करते हुए आनन्दित होना ही स्तेयानुबन्धी अथवा चौर्यानन्दी या तस्करानुबन्धी रौद्रध्यान है।[1]

4. विषयसंरक्षणानन्द रौद्रध्यान – चौथा विषय संरक्षणानन्द नामक रौद्रध्यान है, जो सांसारिक सुखोपभोगमूलक विषयों की सुरक्षा में अत्यन्त विमूढ़ बना, उन्हीं के विषय में अपने चिन्तन को लगाए रहता है। ग्रन्थकार ने उसके कलुषित चिन्तन के सम्बन्ध में लिखा है –

"जो व्यक्ति अनेक आरम्भ-परिग्रहमूलक पदार्थों के रक्षण हेतु अत्यन्त उद्यत रहता है, उन्हीं में अपने संकल्प को जोड़े रखता है, अपने धन-वैभव को महत्त्वपूर्ण मानता हुआ – 'मैं राजा हूँ' ऐसे अहंकार से उद्दीप्त रहता है। ऐसा चिन्तन इस ध्यान के अन्तर्गत आता है। इसमें धन संरक्षण में मशगूल होकर उसका उग्र चिन्तन होता है1 जीव को अच्छे-अच्छे शब्दादि (शब्द, रूप, गन्ध, रस, स्पर्श) विषयों को प्राप्ति तथा भोग बहुत पसंद हैं। इसमें उसके साधन रूप, धन, वैभव की प्राप्ति व रक्षा में वह तत्पर रहता है, आरम्भ-परिग्रह की रक्षा हेतु एवं अपने कुटुम्ब परिवार की रक्षा हेतु, दास-दासी, धन-धान्य, मकान, वस्त्र-आभूषण, गाय, भैंस, बैल आदि पशु, तोता, मैना आदि पक्षी तथा आधुनिक विभिन्न भोग सामग्री को पाकर उनकी रक्षा हेतु निरन्तर चिन्तित रहना विषयसंरक्षणानन्द रौद्रध्यान है। इसके अतिरिक्त क्रूर आशय से शत्रुओं का संहार करने की तीव्र भावना, ग्राम, नगर, पुर, पट्टन आदि को दग्ध करने की तीव्र इच्छा होना, निष्कंटक राज्य को प्राप्त करने की अभिलाषा होना, राजा बनने की भोगेच्छा होना, स्वयं को प्रबल प्रतापी घोषित करना, धनादि को तिजोरी आदि में रखूँ ताकि कोई न ले, अग्नि, चोरादि का उपद्रव न हो, मैला-कुचैला पागल-सा रहने से कोई मेरा पीछा न करे, किसी से भी मैत्री न रखूँ, ताकि उनकी बात न सुननी पड़े, मितव्ययता से जीवन चलाऊँ, कम मूल्य की वस्तु

1. ज्ञानार्णव, 24/23-26. ध्यानशतक, गाथा 21. सिद्धान्तसारसंग्रह, 11/44. ध्यानदीपिका, गाथा 89-91. श्रावकाचार संग्रह, भाग 5, पृ. 351.

खरीदूँ आदि विविध उपायों से द्रव्य की रक्षा करने की भावना रखना, कुटुम्ब परिवार को हमेशा खुश रखूं ताकि वे हर समय काम में आएँ, मकान आदि की सफाई रखूँ, जिससे गिरे नहीं, प्राण हानि न हो, इस प्रकार विविध प्रकार से सम्पत्ति और संतति के रक्षणार्थ विचार करना यह भी विषयसंरक्षणानन्द रौद्रध्यान है।

शरीर रक्षा की दृष्टि से शीत, उष्ण, वर्षा ऋतु में उपयोगी वस्त्र, अन्न, मकानादि की रक्षा की भावना रखना, शत्रु रक्षार्थ शस्त्रों एवं सुभटों की रक्षा का उपाय सोचना, उसमें सतत् चिन्तन रहना, वात, पित्त, कफ आदि रोगों से उत्पन्न आधि, व्याधि को दूर करने के लिए सतत् औषधोपचार, व्यन्तरादि देवों के उपद्रवों से मन्त्रादि द्वारा शरीर को सुरक्षित रखने की चिन्ता करना, स्वयं सुखी रहने की सतत् भावना रखना, हृष्ट-पुष्ट काय को देखकर हर्षित होना, अभक्ष्यादि पदार्थों द्वारा शरीर को पुष्ट करने की भावना रखना, स्वजन एवं सम्पत्ति, राजा, मित्रादि को नाश करने की क्रूर भावना रखना, उन्हें कष्ट में डालने के लिए विविध उपाय खोजना इस प्रकार शब्द, रस, रूप, गन्ध, स्पर्शादि पदार्थों के संग्रह-रक्षण के लिए अतिशय संक्लेश परिणाम से मन को उपरोक्त सभी क्रियाओं में संलग्न करना ही विषयसंरक्षणानंन्द अथवा परिग्रहानन्द रौद्रध्यान है।

हिंसा, झूठ, चोरी और धन संरक्षण ये चारों प्रकार के रौद्रध्यान स्वयं करे, दूसरों से कराये तथा करवाने को अनुमोदना दे, इन तीनों के निमित्तादि का चिन्तन करना ही रौद्रध्यान है। रागद्वेष-मोहादि से व्याकुल जीव को ही ये चारों प्रकार के रौद्रध्यान होते हैं। ये चारों ही राग, द्वेष और मोह के जनक हैं, संसारवर्धक हैं तथा नरकगति की जड़ हैं।''[1]

यद्यपि विषयों की अपेक्षा तो रौद्रध्यान के अनेक भेद हो जाते हैं, किन्तु सामान्यतया रौद्रध्यान के बाह्य और आभ्यन्तर रूप से दो प्रकार हैं। जिनके लक्षण निम्नानुसार हैं -

बाह्यरौद्रध्यान के लक्षण - हिंसादि उपकरणों का संग्रह करना, क्रूर जीवों पर अनुग्रह करना, दुष्ट जीवों को प्रोत्साहन देना, निर्दयतादिक भाव, व्यवहार की क्रूरता, मन, वचन, काय की प्रवृत्ति की निष्ठुरता एवं ठगाई, ईर्ष्यावृत्ति, मायाप्रवृत्ति, क्रोध करना, उसके कारण नेत्रों से अंगार बरसना, भ्रुकुटियों का टेढ़ा होना, भीषण रूप बनाना, पसीना आना, अंग प्रत्यंग कांपना आदि अनेक प्रकार के रौद्रध्यान के बाह्य लक्षण हैं।

आभ्यन्तर रौद्रध्यान के लक्षण - मन, वचन, काय से दूसरे का हमेशा बुरा सोचना, दूसरे की बढ़ती एवं प्रगति को देखकर सतत् मन में जलना, दु:खी को देखकर आनन्दित होना, गुणी जनों को देखकर ईर्षा करना, इहलोक-परलोक के भय से बेपरवाह रहना, पश्चात्ताप रहित प्रवृत्ति होना, पापकार्य से खुश रहना, धर्म से विमुख होना, कुदेव, कुगुरु, कुधर्म में श्रद्धा रखना आदि रौद्रध्यान के आभ्यन्तर लक्षण हैं **रौद्रध्यान :**

1. ज्ञानार्णव, 24/27-32. ध्यानशतक, गाथा 24. 2. ज्ञानार्णव, 24/35-36

गुणस्थान एवं स्वामी – यह रौद्रध्यान अविरत और देशविरत गुणस्थान वाले जीवों के होता है। यह ध्यान छठे गुणस्थान के पहले पाँच गुणस्थानों में होता है। प्रमत्तसंयतादि गुणस्थानों में नहीं होता। केवल मिथ्यादृष्टियों से पंचम गुणस्थान तक के जीवों के ही होता है। सर्वविरत मुनि को यह रौद्रध्यान इसलिए नहीं होता क्योंकि वे हिंसादि पापों से मन, वचन, काय से प्रतिज्ञाबद्ध होकर सर्वथा विरत हैं। वह कभी प्रमाद के कारण आर्त्तध्यानी तो हो सकते हैं लेकिन रौद्रध्यानी नहीं। मिथ्यादृष्टि जीवों को तो सच्चे तत्त्व एवं श्रद्धा का पता नहीं होता इसलिए वह इस रौद्रध्यान में फँस जाता है। वैसे यह ध्यान किसी के भी हो परन्तु यह प्रशंसनीय नहीं होता, अर्थात् सर्वथा त्यागने योग्य ही होता है।[1]

रौद्रध्यान और लेश्या व भाव – यह रौद्रध्यान अत्यन्त अशुभ है। इसमें कापोत, नील एवं कृष्ण ये तीन अशुभ लेश्याएँ हुआ करतीं हैं। यह रौद्रध्यान खोटी वस्तुओं पर ही होता है। इस ध्यान में तीनों अशुभ लेश्याएँ अपने प्रभावकारी रूप में स्थित रहती हैं।

रौद्रध्यान का फल – रौद्रध्यान सामान्य तौर से संसार की वृद्धि करने वाला है और खास तौर से नरकगति के पापों को उत्पन्न करने वाला है। यह ध्यान नरकगति की जड़ है। अत्यन्त दुःख और सन्ताप से भरे हुए नरक में अनेक सागर पर्यन्त डाले रखना इसका फल है। उत्कृष्ट दुःखों को देने वाली गति नरकगति कहलाती है। रौद्रध्यान में तीव्र संक्लेश ही होता है, इससे उनसे बाँधे जाने वाले सानुबन्ध कर्म द्वारा भव परम्परा का सर्जन होना, संसार की वृद्धि होना ही स्वाभाविक है। इससे व्यक्ति संसार के बन्धन में पड़ जाता है और नरक को प्राप्त करता है। यह ध्यान अतिशय कठिन फल वाला है, तीव्र दुःख ही इस रौद्रध्यान का फल माना गया है।[2]

प्राणियों के अनादिकालीन दृढ संस्कारों से ये दुष्ट ध्यान प्रतिसमय प्रयत्न के

1. ज्ञानार्णव, 26/36.
   महापुराण, 21/43.
   चारित्रसार, 171/1.
   ध्यानशतक, 23.
   द्रव्यसंग्रह टीका पृ. 201.
   सर्वार्थसिद्धि, 9/35/448.
   मूलाचार प्रदीप, 6/2038.
   महापुराण 21/44.
2. महापुराण, 21/44.
   ज्ञानार्णव, 26/36-44.
   मूलाचार प्रदीप 6/2035-6.
   ध्यानशतक 24.
   चारित्रसार, 170/5.

बिना ही स्वयं हुआ करते हैं। हे धीर! निन्दनीय ये दोनों ध्यान अनेक प्रकार के स्वरूप से संयुक्त और पाप रूप वृक्ष की जड़ होते हुए अतिशय कड़ुवे फलों से व्याप्त हैं। यदि तू मोक्षमार्ग में प्रवृत्त हुआ है तो उनके उपर्युक्त स्वरूप का भलीभाँति विचार करके उन्हें शीघ्र ही छोड़ दे।[1]

किसी भी महान् कार्य को करने के लिए जहाँ उसके साधक निमित्तों को जुटाना होता है, उसी प्रकार उसके बाधक कारणों को भी हटाना होगा। बाधक के हटने और साधक के जुटने से कार्य की सफलता अवश्यंभावी हो जाती है।

धर्म्यध्यान का स्वरूप –

वस्तु का स्वभाव धर्म है। ''धर्मादनपेतं धर्म्यम्''[2] धर्म से युक्त ध्यान को धर्म्यध्यान कहते हैं। जिससे धर्म का परिज्ञान होता है वह धर्म्यध्यान का लक्षण समझना चाहिए।[3]

जहाँ मनोवृत्ति या चिन्तन की एकाग्रता उन विषयों पर टिकी होती है, जिनका धर्म से सम्बन्ध है जो निरवद्य हैं – पवित्र हैं, वह धर्म्यध्यान है। यह एकाग्रता प्रशस्त या शुभ रूप है। इसमें ज्यों-ज्यों भावों की निर्मलता वृद्धिंगत होती है, आत्मा के कर्मबन्धन शिथिल होते जाते हैं। यह ध्यान पुण्यात्मकता लिए हुए है।

धर्म्यध्यान के भेद – नयदृष्टि से ध्यान दो प्रकार का माना गया है – 1. सालम्बन और 2. निरालम्बन। सालम्बन अर्थात् इसमें किसी वस्तु का आश्रय लिया जाता है। सालम्बन ध्यान भेदात्मक रूप में होता है और उसमें ध्यान और ध्येय को अलग-अलग माना गया है। आलम्बन के अनुसार धर्म्यध्यान को चार प्रकार का माना गया है। जैन योग परम्परा में लगभग सभी आचार्यों ने एकमत से धर्म्यध्यान के चार भेद ही स्वीकार किये हैं। इसी परम्परानुसार आचार्य शुभचन्द्र ने भी धर्म्यध्यान के चार भेदों का वर्णन किया है। चित्त की एकाग्रता के साथ धर्म्यध्यान के चार प्रकारों का चिन्तन करना चाहिए। जिनके नाम निम्नानुसार हैं –

1. आज्ञाविचय धर्म्यध्यान,

2. अपायविचय धर्म्यध्यान

---

1. इति विगतकलङ्कैर्वर्णितं चित्ररूपं,
   दुरितकुरुहकन्दनिन्द्यदुर्ध्यानयुग्मम्।
   कटुकतरफलाढ्यं सम्यगालोच्य धीर!
   त्यज सपदि यदि त्वं मोक्षमार्गे प्रवृत्तः॥ – ज्ञानार्णव, 24/39.

2. सर्वार्थसिद्धि, पृ. 351.

3. भगवती आराधना, गाथा 1709.

3. विपाकविचय धर्म्यध्यान

4. संस्थानविचय धर्म्यध्यान

इनके अलावा अन्य भेदों में जिनकी प्रमुखतया गणना होती है वे हैं दस भेद। धर्म्यध्यान के दस भेदों का कथन तो सर्वप्रथम मुनिप्रतिक्रमण पाठ में उपलब्ध होता है[1] किन्तु वहाँ उनके नामों का स्पष्टोल्लेख नहीं है। प्रतिक्रमणपाठ के संस्कृत टीकाकार आचार्य प्रभाचन्द्र बाद में अवश्य ही उनके नामों को गिनाने का प्रयत्न किया है।[2] आचार्य जिनसेन ने अपने हरिवंशपुराण में इन भेदों के विषय में सविस्तार विवेचन किया है तथा इनके नाम निम्नत: बतलाएँ हैं -

1. अपायविचय, 2. उपायविचय. 3. जीवविचय, 4. अजीवविचय, 5. विपाकविचय, 6. विरागविचय, 7. भवविचय, 8. संस्थानविचय, 9. आज्ञाविचय और 10. हेतुविचय।[3]

इन भेदों के विस्तार की यहाँ आवश्यकता नहीं है। अत: इनको यहाँ विराम देते हुए चार भेदों के विषय में ही विवेचन करना उचित होगा।

1. आज्ञाविचय धर्म्यध्यान - आज्ञा शब्द से आगम, सिद्धान्त या जिनवचन का अर्थ स्वीकार किया जाता है। ये तीनों ही एकार्थवाची नाम हैं। इसलिएँ सर्वज्ञ प्रणीत आगम को प्रमाण मानकर, उस पर पूर्ण श्रद्धा रखकर, उसमें प्रतिपादित नय, प्रमाण, निक्षेप, सात भंग, नौ पदार्थ, पाँच अस्तिकाय अथवा षट् द्रव्य, छह जीवनिकाय एवं अन्य आज्ञाग्राह्य जितने भी पदार्थ हैं उनका निरन्तर चिन्तन करना आज्ञाविचय धर्म्यध्यान है। वीतराग प्ररूपित तत्त्वों में से कोई यदि कभी बुद्धिगम्य नहीं होता है तो उसे "वीतराग प्रणीत वचन सत्य एवं तथ्यपूर्ण हैं" ऐसा मानकर चिन्तवन करना। क्योंकि उन्होंने राग-द्वेष-मोह पर पूर्णत: विजय प्राप्त कर ली है अत: उनके वचन कदापि अन्यथा नहीं हो सकते। अपितु हमारी ही मति की दुर्बलता, ज्ञेय की गहनता, ज्ञानावरणादि कर्मों की तीव्रता तथा हेतु और उदाहरण संभव न होने के कारण से वह बुद्धिगम्य नहीं हो रहा है। अत: उसके विषय में ऐसा विचार करना - "जिनवचन ही सत्य है, सुनिपुण है, अनादिनिधन है, जगत् के जीवों का हित करने वाला है, अमूल्य है, अमित है, अमृत है, अनन्त अर्थगर्भित है, निरवद्य है, अनिपुणजनों के लिए दुर्ज्ञेय है, नय एवं प्रमाण से ग्रहण करने योग्य है।" इस प्रकार जिनवचनों का चिन्तन, निदिध्यासन एवं मनन करना, उसमें संदेह न करना

1. मुनिप्रतिक्रमणत्रयी, पृ.10.
2. वही, पृ. 188.
3. हरिवंशपुराण, 56/38-50.

ही आज्ञाविचय धर्म्यध्यान है।[1]

आगम को दो भागों में विभाजित किया गया है - 1. अर्थसमूह रूप तथा 2. शब्दसमूह रूप। शब्दसमूह रूप आगम गणधर प्रणीत है, जबकि अर्थसमूह आगम सर्वज्ञप्रणीत होता है।[1] सर्वज्ञप्रणीत कथन को ही गणधर ने नय एवं प्रमाणों के अनुकूल निबद्ध किया है। इसलिए नय और प्रमाण के स्वरूप को समझे बिना सर्वज्ञ की देशना को आत्मसात् कर पाना शक्य नहीं होता।

नय और प्रमाण का स्वरूप - प्रमाण से परिच्छिन्न अनन्तधर्मात्मक वस्तु के एक अंश को ग्रहण करने वाले (दूसरे अंशों का प्रतिषेध किये बिना) अध्यवसाय विशेष को नय कहा जाता है। प्रत्येक पदार्थ अनन्त धर्मात्मक होता है। प्रमाण पदार्थ को अनन्तधर्मात्मक सिद्ध करता है, जबकि नय पदार्थ के अनन्तधर्मों में से किसी एक धर्म को ग्रहण करता है। नय अवशिष्ट अन्य धर्मों का निरसन नहीं करता।

जैसे समुद्र का एकदेश या एकांश समुद्र नहीं कहा जाता, वैसे ही नयों को प्रमाण या अप्रमाण भी नहीं कहा जाता सकता।

प्रत्येक वस्तु में मुख्यत: दो अंश होते हैं - 1. द्रव्य और 2. पर्याय। वस्तु को द्रव्यरूप से जानने वाले नय को द्रव्यार्थिक नय और वस्तु को पर्यायरूप से जानने वाले नय को पर्यायार्थिक नय कहते हैं। पर्यायार्थिक नय प्रतिक्षण उत्पाद-विनाश स्वभाव वाला है, जबकि द्रव्यार्थिकनय स्थिर स्वभाव वाला है।

इन दोनों नयों के अवान्तर भेद भी आगम में प्ररूपित हुए हैं। जैसे - द्रव्यार्थिक नय के तीन भेद हैं - 1. नैगम, संग्रह और व्यवहार तथा पर्यायार्थिक नय के ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ व एवंभूत के रूप में चार भेद हैं। इन दोनों नयों के भी अनेक पर्यायवाची नाम उपलब्ध होते हैं। जैसे - पर्यायार्थिक नय के लिए व्यवहार, अशुद्ध, असत्यार्थ, अपरमार्थ, अभूतार्थ, परालंबी, पराश्रित, परतंत्र, निमित्ताधीन, क्षणिक, उत्पन्नध्वंसी, भेद एवं परलक्षी आदि। तथा द्रव्यार्थिक नय के लिए निश्चय, शुद्ध, सत्यार्थ, परमार्थ, भूतार्थ, स्वावलंबी, स्वाश्रित, स्वतन्त्र, स्वाभाविक, त्रिकालवर्ती, ध्रुव, अभेद और स्वलक्षी आदि नाम अभिहित होते हैं। यही कारण है कि नयों की प्ररूपणा शास्त्रीय और आध्यात्मिक दो रूपों में की गई है। शास्त्रीय प्ररूपणा में इन्हें जहाँ द्रव्यार्थिक एवं पर्यायार्थिक के रूप में प्रतिपादित किया गया है, वहीं आध्यात्मिक दृष्टि से इन्हें निश्चय और व्यवहार के नाम

1. धवला, 5, पृ. 70. योगशास्त्र, 10/9.
ध्यानशतक, 45-6. ज्ञानार्णव, 32/1.
आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा 192.

से अभिहित किया गया है।[1]

स्व और पर को निश्चित रूप से जानने वाला ज्ञान प्रमाण कहलाता है। यहाँ 'स्व' का अर्थ है ज्ञानात्मक तथा 'पर' का अर्थ है घटादि भिन्न पदार्थ। अर्थात् जो ज्ञान अपने स्वरूप को तथा घट-पटादि पदार्थों को सम्यक् प्रकार से जानता है, वही प्रमाण कहलाता है।[2]

2. अपायविचय धर्म्यध्यान - अपाय का अर्थ है दोष अथवा दुर्गुण। जिस ध्यान में विद्वज्जन उपायपूर्वक हेतु के अन्वेषण के साथ - कर्मों के विनाश का विचार करते हैं उसे बुद्धिमान गणधरादि अपायविचय धर्म्यध्यान कहते हैं।[3] इसमें रागादिक्रिया, कषायक्रिया, मिथ्यात्वादि आस्रवक्रिया, हिंसादिक्रिया एवं विकथा, परीषह आदि से इस लोक व परलोक में उत्पन्न अनर्थ कैसे हैं ? इन क्रियाओं के करने से जीव दीर्घकालीन आधि, व्याधि, उपाधि को प्राप्त करके संसार वृद्धि करता है।

आचार्य शुभचन्द्र ने अपायोन्मुखी चिन्तनधारा का विवेचन करते हुए स्पष्ट किया है - ''सर्व ज्ञाता श्री जिनेश्वर देव द्वारा निर्देशित ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप रत्नत्रयात्मक मार्ग को न पाकर, उसका अवलम्बन न कर इस संसार रूपी बीहड़ वन में अनेक प्राणी भटक रहे हैं। वे अभागे प्राणी जिनेश्वर प्रभु रूप जहाज का आश्रय न पाने के कारण संसार रूपी सागर में सदा डूबते-उतराते रहते हैं।''[4] राग, द्वेष, क्रोधादि कषाय तथा मिथ्यात्वादि ये सब दोषों के अन्तर्गत आते हैं। साधक इनसे छूटने का प्रयत्न करता है, ऐसा चिन्तन करना ही अपायविचय धर्म्यध्यान है।[5] जीव के जो शुभाशुभ भाव होते हैं उनका चिन्तन करना भी अपायविचय धर्म्यध्यान कहलाता है।[6] आदिपुराण में 'अपाय' को अभाव कहा गया है अर्थात् मिथ्यादृष्टियों के मार्ग के अभाव का विचार करना अपायविचय धर्म्यध्यान है।

एक विचारधारा के अनुसार इस ध्यान में ऐसा भी विचार किया जाता है कि 'मन, वचन, काय इन तीनों की प्रवृत्ति योग है और योग से संसार का वर्धन होता है अत: इन प्रवृत्तियों से कैसे छुटकारा पाया जा सकता है, इस प्रकार का विचार अपायविचय धर्म्यध्यान

---

1. तत्त्वार्थसूत्र, 1/33. जैनतर्कभाषा, नयपरि., पृ. 21.
   सन्मतितर्क, 1/3-5 आदि कुन्दकुन्दभारती, प्रस्तावना, पृ. 10-6.
2. प्रमाणनयतत्त्वालोक, 1/2.
3. ज्ञानार्णव, 31/1.
4. ज्ञानार्णव, 31/2-3.
5. ध्यानशतक, 50.
6. मूलाचारप्रदीप, 6/2046-7. भगवती आराधना, गाथा 1707.

है।' अथवा रागद्वेष से लिप्त प्राणी दु:ख या कष्ट पूर्ण जन्म-मरण के चक्र से कैसे मुक्त हो, ऐसा चिन्तन करना अपायविचय धर्म्यध्यान है।[1]

3. विपाकविचय धर्म्यध्यान - विपाक का अर्थ परिपाक या फल है। आस्रव आत्मा में कर्म आने का माध्यम है। यह सरोवर के उस नाले जैसा है जिसमें से पानी आ-आकर सरोवर में एकत्र होता है।[2] आत्मा को आवृत्त करने वाले कर्म आत्मा के परिणाम, अध्यवसाय या भाव और उद्यम के अनुरूप भिन्नता लिए होते हैं। अतएव उनका सुखद, दु:खद आदि भिन्न-भिन्न स्थितियों में और भिन्न-भिन्न समयों में उदय होता है।

इस ध्यान का साधक यही विचार करता है कि कर्म का उदय द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का आश्रय पाकर शुभ और अशुभ रूप फल देता है। कर्मों की इस विचित्रता पर विचार करते हुए उसकी प्रक्रिया पर चिन्तन करना विपाकविचय धर्म्यध्यान है। कर्मों के विपाक से तात्पर्य उदय, उदीरणा, संक्रमण, बन्ध और मोक्ष इन सभी को जानना चाहिएँ।

षट्खण्डागम के अनुसार कर्म प्रकृति, स्थिति, अनुभाव और प्रदेश के भेद से चार भेद वाला है। ऐसे कर्मों के विपाक का चिन्तन करना विपाकविचय धर्म्यध्यान है।[3]

प्राणियों के कर्मों का समूह निश्चित द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से अपने नामानुरूप फल को देता है। जिससे यह प्राणी पुष्पमाला, सुन्दर शय्या, आसन, यान, वस्त्र, स्त्री, मित्र, पुत्रादि को तथा कर्पूर, अगुरु, चन्द्रमा, चन्दन, वनक्रीडा, पर्वत, महल, ध्वजादिक, पक्षी, नगरी और खाने योग्य अन्नादि वस्तुसमूह को पाकर सुख को भोगते हैं तथा सब ऋतुओं में सुख देने वाले रमणीय कामभोग के स्थान क्षेत्रों को पाकर अतिशय सुख का अनुभव करता है तथा कुछ प्राणी संसार के मार्ग में चलते हुए प्रास- भाले, असि- तलवार, क्षुर-छुरे, यन्त्र, बन्दूक आदि अस्त्र, सर्प, अग्नि, उग्र ग्रह, शीर्ण - सड़े हुए दुर्गन्धित अंग, कृमि-कीडे, काँटे, रज, क्षार, अस्थि, कीचड़, पाषाण, बन्दीगृह, सांकल, कीले, हथकडी, निर्दय शत्रु इत्यादि अनेक प्रकार के पदार्थों को प्राप्त कर घोर दु:ख पाते हैं।[4]

उपर्युक्त दोनों सुखात्मक एवं दु:खात्मक परिस्थितियों के मूल हेतु के उच्छिन्न करने के लिए उद्यत होते हुए उनके विपाक का चिन्तन करना विपाकविचय धर्म्यध्यान है और ऐसा करने से कर्मों से स्वातन्त्र्य प्राप्त होता है।

ज्ञानावरणादि कर्मों का अनुभाग, जो कि गुड, खाण्ड, मिश्री और अमृत तथा नीम, कांजी, विष और हलाहल आदि के समान शुभाशुभ फल होता है, का विचार भी

1. आदिपुराण, 21/141-2.
2. सर्वार्थसिद्धि, 1/4 पृ. 11.
3. धवला, 13, पृ. 41.
4. ज्ञानार्णव, 35/1-5 आदिपुराण, 21/142-5.

विपाकविचय धर्म्यध्यान है।[1]

कर्मफल विषयक यह चिन्तन आत्मा के शुद्ध स्वरूप का उद्बोधक है। चिन्तन की अनवरतता मन में एक ऐसी विवेक ज्योति जाग्रत करती है, जिससे कर्मावृत्त आत्मा और शुद्ध आत्मा का भेद अनुभूति का विषय बनने लगता है। जिससे आत्मपराक्रम जाग्रत होता है। परिणामस्वरूप साधक की गति अपनी मंजिल की दिशा में अनुकूल और सत्वर होती है।

4. संस्थानविचय धर्म्यध्यान – 'संस्थान' का अभिप्राय आकार से है। इस ध्यान में ऊर्ध्व, मध्य और अधोलोक का चिन्तन किया जाता है। इन तीनों लोकों का संस्थान, प्रमाण और इनमें रहने वाले जीवाजीव पदार्थों का आकार, आसन, भेद, मान, आयु आदि का चिन्तन संस्थानविचय धर्म्यध्यान है।

यह लोक क्रमशः वेत्रासन, झल्लरी और मृदंग के समान आकार रूप ऊर्ध्व, मध्यम और अधोलोक के भेद से विभाजित है।[2] इनका विचार करना संस्थानविचय धर्म्यध्यान है।

सामान्यतया सभी आचार्यों ने उपर्युक्त विचारात्मक ही संस्थानविचय धर्म्यध्यान का लक्षण निर्धारित किया है। किन्तु शास्त्रसारसमुच्चय के अनुसार "अनित्यादि बारह भावनाओं का विचार करना भी संस्थानविचय धर्म्यध्यान है।"[3] यद्यपि यह कोई एकमेव मत नहीं है अपितु इस मत का समर्थन भी अनेक ग्रन्थों से होता है। कारण, इस प्रकार का चिन्तन करने से साधक को अनित्यादि पर्यायों की यथार्थता अवभासित होने पर वैराग्य की भावना प्रशस्त एवं सुदृढ़ होती है।

ज्ञानार्णव के कर्त्ता आचार्य शुभचन्द्र ने संस्थानविचय धर्म्यध्यान को स्पष्ट करने हेतु लोक का विस्तार के साथ वर्णन किया, जिसे वहाँ से ही देख लेना चाहिए।[4] उसमें किञ्चित् निदर्शनार्थ ही यहाँ प्रस्तुत है –

'अविद्या, अज्ञानपूर्ण चित्त से विषयों में अंधा बनते हुए मैंने चराचर, चलनशील स्थितिशील प्राणियों की हत्याएँ की। दूसरों का धन हरने में, आमिष भोजन में, परस्त्री में आसक्ति में, अनेक व्यसनों में और उत्पीड़न में रौद्रध्यान पूर्ण समय व्यतीत किया। उसी का अब यह फल है कि अनन्त यातनामय नरक रूपी समुद्र में पैदा हुआ हूँ।'[5]

1. प्राकृतपंचसंग्रह, 4/487.
2. तिलोयपण्णत्ती, 1/137-8.
3. शास्त्रसारसमुच्चय, पृ. 288.
4. ज्ञानार्णव, 36/3-185.
5. वही, 36/34-6

इसी प्रकार अपनी दु:खपूर्ण स्थिति का विचार करता हुआ सोचता है - 'मैं क्या करूँ, कहाँ जाऊँ, दूषित कर्मपुंज मेरे सामने हैं, जिसे मुझे भोगना होगा, मैं किसकी शरण लूँ ? मैं अभागा हूँ - भाग्यहीन हूँ।'[1] आचार्य शुभचन्द्र ने नारकीय यातनाओं का जो भावपूर्ण वर्णन किया है वह हृदय को कंपा देता है। ध्याता के मन में यह भाव उदित होता है कि इस प्रकार के कर्म अब मुझसे कभी न बन पड़े, जिसके परिणामस्वरूप ऐसी असह्य वेदना सहन करना पड़े।

अधोलोक के वर्णन के बाद ग्रन्थकार ने मध्यलोक का वर्णन किया है - 'अधोलोक के ऊपर झल्लरी-झालर या बजाने के घण्टे के समान गोलाकार मध्यलोक है। उसमें गोल वलयों - कंकणों के तुल्य असंख्यात द्वीपसमुद्र हैं। विविध द्वीप-समुद्रों के अन्तर्गत अढाई द्वीप और जम्बूद्वीप आदि हैं, जिनमें मनुष्य क्षेत्र आर्यखण्ड और म्लेच्छखण्ड आदि हैं।'[2]

इसी तरह देवलोक का भी विस्तार से वर्णन ग्रन्थकार ने किया है। उसमें रहने वाले देवों, उनके भवनों, पार्षदों, परिचारकों आदि का वर्णन भी यथेष्ट विस्तृत हुआ है। भौतिकदृष्टि से सुख की जो सर्वोत्कृष्ट कल्पना हो सकती है उसका संपूर्ण वैभव के साथ दृश्यमान कथन यहाँ हुआ है। यथा - ''देवलोक में प्रावृट्, शीत और ग्रीष्म ये ऋतुएँ नहीं होती। सदा एक-सी ही ऋतु रहती है, जिसमें न सर्दी होती है, न गर्मी और न वर्षा। वहाँ उत्पात, भय एवं संतापादि दृष्टिगोचर ही नहीं होते। वहाँ न कोई दीन है, न दुखित, न कोई वृद्ध है, न रुग्ण, न विकलांग है, न कांतिहीन। देवों के परिचारक, बन्दीजन, स्तुतिगायक तथा अंगरक्षक देव हैं, विलासिनी नर्तकियाँ - अप्सराएँ हैं, जहाँ जीवनपर्यन्तभोगमय सौन्दर्य-विलास एवं वैभवोपभोग होता रहता है।''[3]

आचार्य शुभचन्द्र का कथन है कि - 'यद्यपि यह लोक केवलज्ञान के गोचर अर्थात् सर्वज्ञगम्य ही है। किन्तु योगी लोग संस्थानविचय धर्म्यध्यान के समय सामान्यत: इस समस्त लोक का अथवा इसके भिन्न-भिन्न अंशों का अपनी शक्ति के अनुसार चिन्तन करें और इसके अनन्तर अपने शरीरगत पुरुषाकार - आत्मा का, समग्र कर्म से रहित अत्यन्त शुद्ध स्वरूप का चिन्तन करें।'[4]

आगमों के उत्तरवर्ती साहित्य में ध्यान के चतुष्टय का दूसरा वर्गीकरण भी उपलब्ध होता है। किसी भी साधक का ध्यान एकाएक निरालम्ब वस्तु में स्थिर नहीं हो सकता,

1. वही, 36/42.
2. ज्ञानार्णव, 36/79-80.
3. वही, 33/89-92.
4. वही, 33/178-9.

इसलिए स्थूल एवं इन्द्रियगोचर पदार्थों से सूक्ष्म इन्द्रियों के अगोचर पदार्थों का चिन्तवन करना आवश्यक माना गया है।

अग्रत: किये जाने वाले ध्यान के भेद ध्येय – ध्यान के विषय की अपेक्षा होते हैं। जिनके नाम हैं – 1. पिण्डस्थ, 2. पदस्थ, 3. रूपस्थ और 4. रूपातीत। इन भेदों के सम्बन्ध में कतिपय मतभेद दृष्टिगोचर होता है, क्योंकि इस वर्गीकरण का वर्णन प्राचीन साहित्य जैसे मूलाचार, भगवती आराधना, तत्त्वार्थसूत्र, स्थानांग, हरिवंशपुराण और आदिपुराण आदि में भी उपलब्ध नहीं होता। अब तक भी इनके प्रथम स्रोत का स्पष्ट उल्लेख निर्धारित नहीं हो सका है, विक्रम की दसवीं शती में होने वाले देवसेन के भावसंग्रह में सर्वप्रथम उल्लेख है।[1]

ज्ञानसार एवं योगसार में भी इन भेदों का उल्लेख हुआ है परन्तु ज्ञानसार में जहाँ इनके तीन ही भेदों – पिण्डस्थ, पदस्थ और रूपस्थ का वर्णन किया है, वहीं योगसार में मात्र इनके नामों का उल्लेख है।[2]

आचार्य वसुनन्दी ने ज्ञानार्णव की तरह चारों ही भेदों का विवेचन विस्तार से किया है। इसके अलावा भी कतिपय ग्रन्थों में इन भेदों का विवरण या नामोल्लेख मिलता है किन्तु वहाँ या तो इनके नामों में परिवर्तन हुआ या फिर क्रम का परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है। यथा – नवचक्रेश्वरतन्त्रशास्त्र में इनके नाम पिण्ड, पद, रूप और रूपातीत दिये हैं।[3]

1. **पिण्डस्थध्यान** –

'पिण्डस्थं स्वात्मचिन्तनम्' अर्थात् आत्म स्वरूप या निजात्मा का चिन्तवन करना ही पिण्डस्थ ध्यान है।[4] पिण्ड अर्थात् शरीर और उस शरीर में रहने वाली आत्मा का चिन्तन पिण्डस्थ ध्यान के अन्तर्गत होता है।

भावसंग्रह में आचार्य देवसेन ने इसका लक्षण करते हुए कहा है 'शरीर में अच्छे गुण वाले आत्मप्रदेशों के समूह का चिन्तन करना पिण्डस्थ ध्यान है।'[5] जबकि ज्ञानसार में अपने नाभि के मध्य स्थित अरहन्त के स्वरूप के विचार करने को पिण्डस्थ ध्यान बतलाया गया है।[6] एक अन्य परिभाषा के अनुसार इसका स्वरूप है – 'श्वेत किरणों से

1. ध्यानशतक, प्रस्तावना, पृ. 18. भावसंग्रह, गाथा 619.
2. ज्ञानसार, 18-28. योगसार, 98.
3. पिण्डं, पदं तथा रूपं, रूपातीतं चतुष्टयम्। यो वा सम्यग् विजानाति, स गुरु: परिकीर्त्तित: ॥
4. द्रव्यसंग्रह, टीका, 48/205.
5. भावसंग्रह, गाथा 622. 6. ज्ञानसार, 19-20

पृथ्वीधारणा

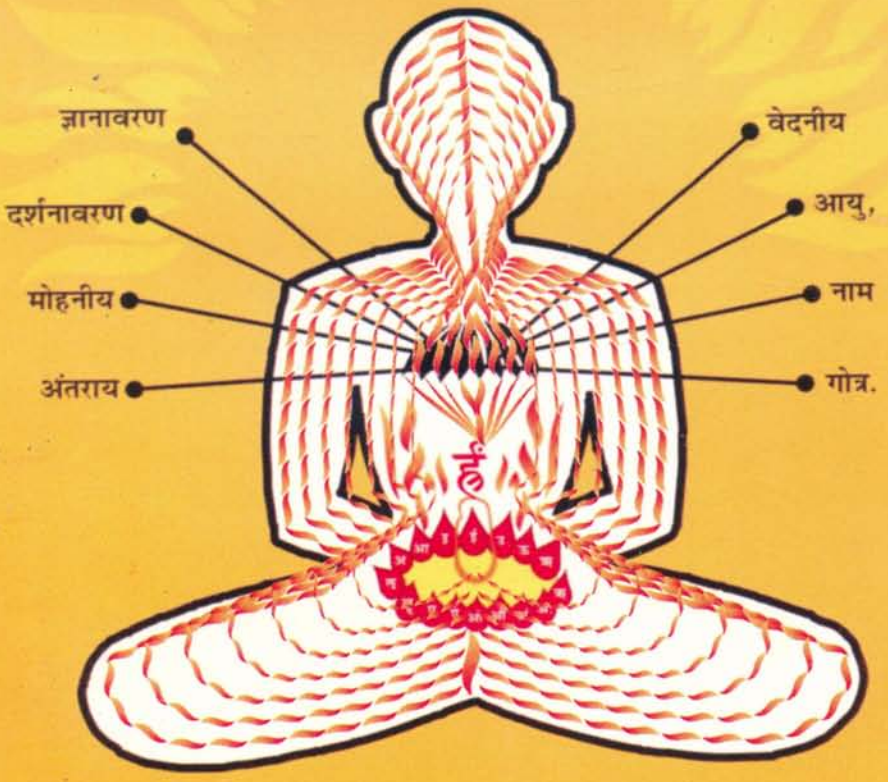

अग्निधारणा

स्वायें स्वायें
स्वायें स्वायें
स्वायें स्वायें
स्वायें स्वायें
स्वायें स्वायें
स्वायें स्वायें
स्वायें स्वायें
स्वायें स्वायें
स्वायें स्वायें
वायुधारणा

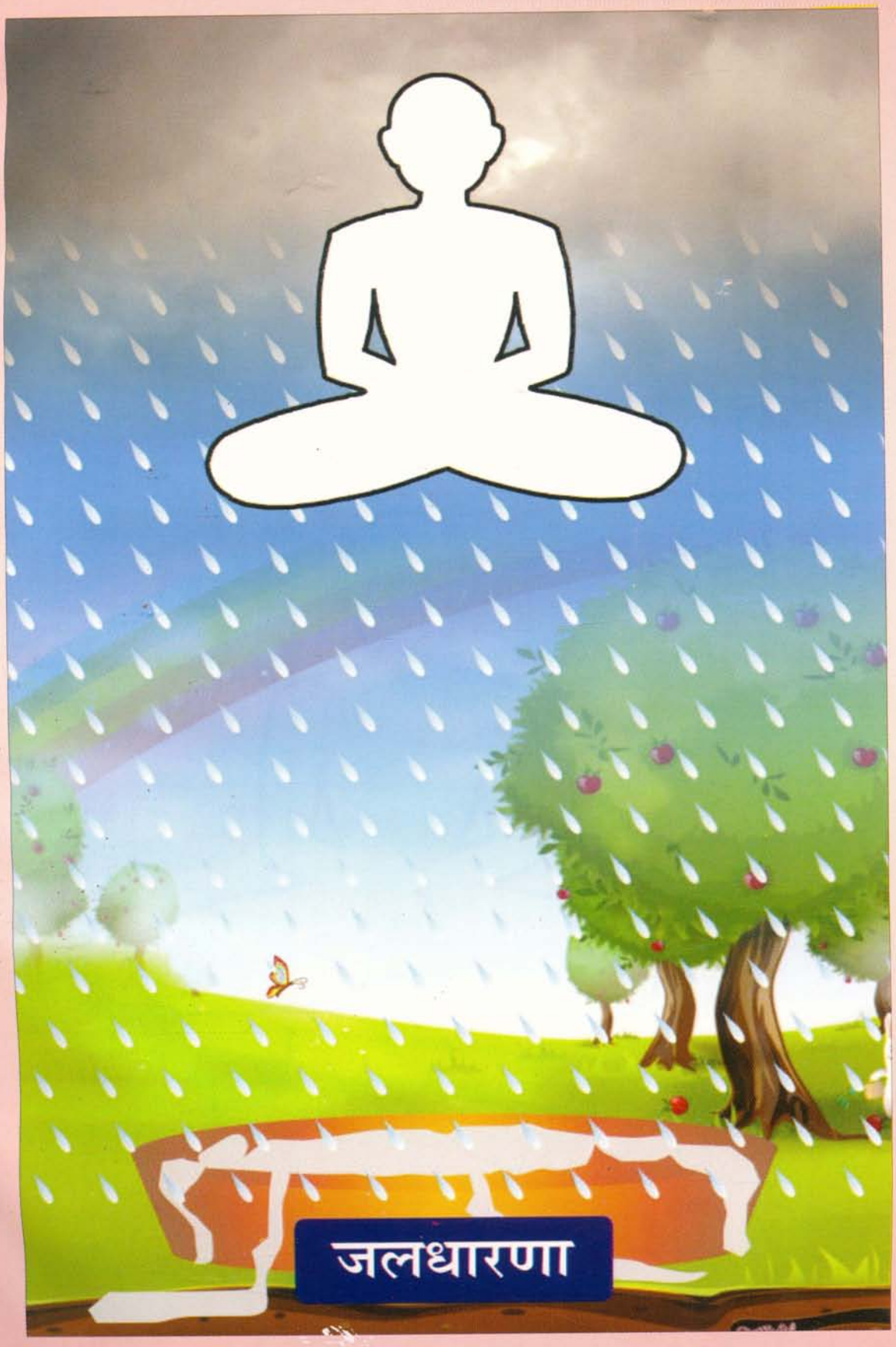
जलधारणा

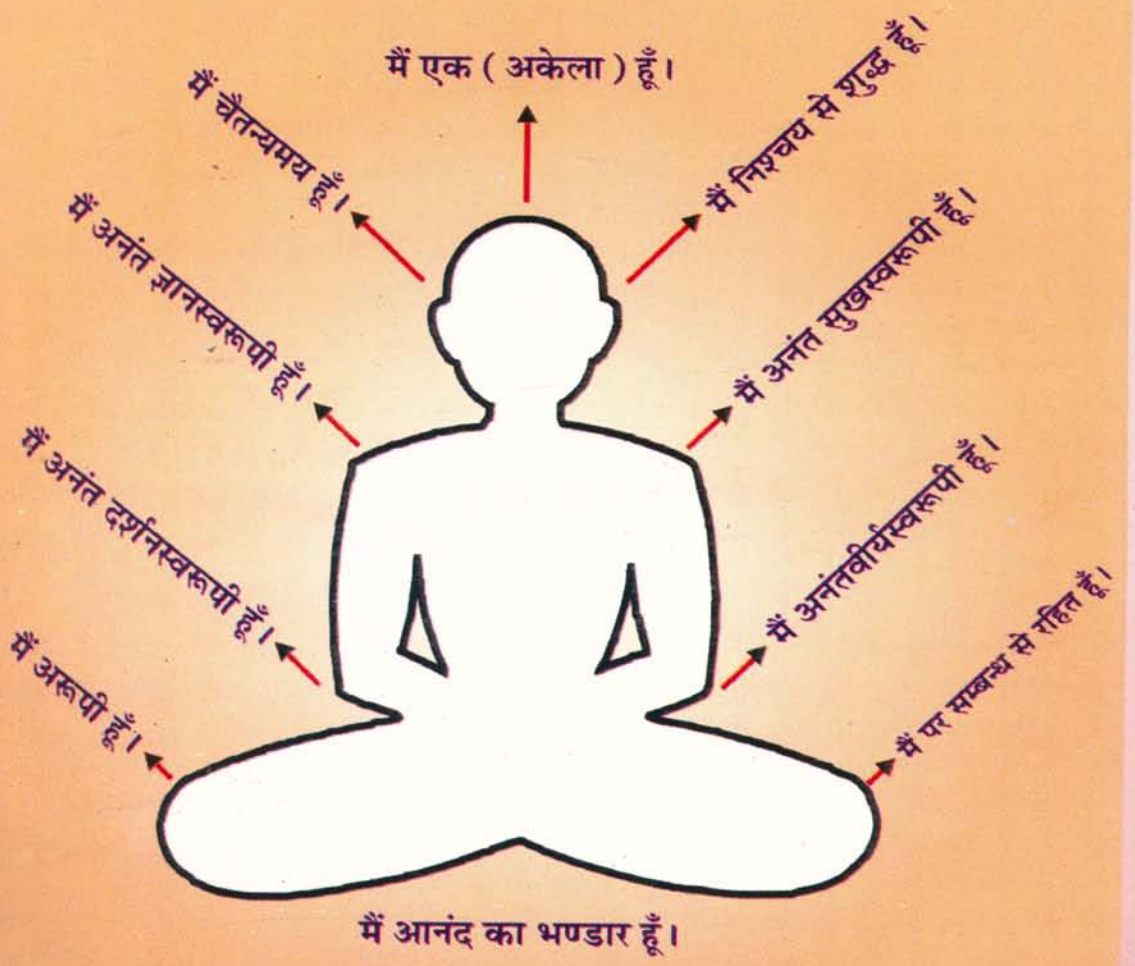

तत्त्व रूपवती धारणा

विस्फुरित होते हुए एवं अष्ट महाप्रातिहार्यों से परिवृत जो निजरूप है उसका ध्यान पिण्डस्थ ध्यान है।''[1]

ज्ञानार्णव में इस ध्यान का सुविस्तृत वर्णन हुआ है। इसका निर्देश करते हुए इसके पाँच अवान्तर भेदों का भी कथन किया गया है। जिनके नाम हैं - 1. पार्थिवीधारणा, 2. आग्नेयीधारणा, 3. श्वसनाधारणा, 4. वारुणीधारणा तथा 5. तत्त्वरूपवतीधारणा।[2] आचार्य हेमचन्द्र ने भी अपने योगशास्त्र में इन्हीं पाँचों धारणाओं का विवेचन किया है।[3]

तत्त्वानुशासन में भी इन पाँच में से तीन धारणाओं का विवेचन मिलता है। वहाँ श्वसना, आग्नेयी और वारुणी के ही नामान्तर मारुती, तेजसी और आप्या उपलब्ध होते हैं।[4] इनके विवेचनों का गहन अध्ययन करने से प्रतीत होता है कि आचार्य शुभचन्द्र ने संभवत: तत्त्वानुशासन से ही इन धारणाओं को विस्तार दिया है। वहाँ की तीन धारणाओं में पार्थिवी और तत्त्वरूपवती इन दो धारणाओं को मिलाकर अपने चिन्तन और अनुभव को सम्यक् अभिव्यक्ति प्रदान की है।

पार्थिवीधारणा - किसी भी आसन से बैठकर साधक पार्थिवी धारणा का चिन्तन कर सकता है। वह मेरुदण्ड को सीधा करके नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि को जमाकर ध्यान करता है कि मध्यलोक के बराबर नि:शब्द कल्लोल रहित तथा हार और बर्फ के समान सफेद समुद्र है, उसमें जम्बूद्वीप के बराबर एक लाख योजन वाला तथा हजार पंखुड़ी वाला कमल है, जो सोने के समान पीला है और उसके मध्य में केशर है जो बहुत अधिक मात्रा में सुशोभित एवं सुरभित हो रही है। उन केशरों में स्फुरायमान करने वाली देदीप्यमान प्रभा से युक्त सुवर्णाचल के समान एक ऊँची कर्णिका है, उस कर्णिका पर चन्द्रमा के समान श्वेत रंग का एक ऊँचा सिंहासन है और उस सिंहासन पर मेरी आत्मा विराजमान है। साथ-ही-साथ यह भी विचार करे कि मेरी आत्मा रागद्वेषादि से रहित है और समस्त कर्मों का क्षय करने में समर्थ है। इन बड़ी वस्तुओं का ध्यान करने के बाद सूक्ष्म वस्तुओं पर ध्यान केन्द्रित करने से समस्त चिन्ताओं का निरोध हो जाता है।[5]

आग्नेयीधारणा - पार्थिवीधारणा के पश्चात् साधक आग्नेयी धारणा की साधना करता है। इस धारणा में साधक ऐसा चिन्तन करता है कि 'मेरे नाभिमण्डल में सोलह पांखुडियों से सुशोभित एक मनोहर कमल है। जिन पर क्रमश: अ, आ, इ, ई इत्यादि सोलह बीजाक्षर अंकित हैं। उस कमल की कर्णिका पर ''र्हं'' महामन्त्र लिखा हुआ है। इस महामन्त्र के र्ह के रेफ से धीरे-धीरे धुआँ की शिखा निकल रही है। उसके पश्चात् अग्नि के

1. वसुनन्दिश्रावकाचार, 459.
2. ज्ञानार्णव, 37/3. 3. योगशास्त्र, 7/9.
4. तत्त्वानुशासन, 183. 5. ज्ञानार्णव, 37/4-9. योगशास्त्र 7/10-12

स्फुलिंग निकल रहे हैं। ये पंक्तिबद्ध चिनगारियाँ क्रमशः शनैः-शनैः अग्नि की ज्वाला के रूप में परिणत हो रही हैं और फिर वह अग्नि प्रचण्ड रूप धारणकर लेती है जिससे हृदयस्थ कमल दग्ध हो जाता है।

जिस कर्म चक्र को रेफ की अग्नि जलाती है वह हृदयस्थ कमल अधोमुख वाला और आठ पत्रों का होता है। इसके आठों पत्रों पर क्रमशः ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय नामक कर्म आत्मा को घेरे हुए हैं। इस कमल के आठों दलों को कुम्भक पवन के बल से खोलकर फैलाकर उक्त "हँ" बीजाक्षर के रेफ से उत्पन्न हुई प्रबल अग्नि से भस्म किया जाता है।

यह अग्नि मस्तक तक पहुँच जाती है और वहाँ से अग्नि की एक लकीर बाईं ओर नीचे और दूसरी दाईं ओर नीचे की तरफ उस साधक के आसन तक पहुँच जाती है तथा आसन के आधार पर चलकर दूसरे से मिल जाती है और इस प्रकार से एक त्रिकोण की आकृति निर्मित हो जाती है। वह अग्निमण्डल "र र र र र" ऐसे बीज अक्षरों से व्याप्त है तथा उसके अन्त में स्वस्तिक चिह्न है। यह अग्नि धूम से रहित एवं अत्यधिक देदीप्यमान है और अपनी ज्वालाओं के समूह से नाभि में स्थित कमल और शरीर को भस्म करके जलाने योग्य पदार्थ के न रहने पर अपने आप शान्त हो जाती है।"[1]

मारुतीधारणा - आग्नेयी धारणा द्वारा शरीर और द्रव्यकर्म और भावकर्म की समूल राख ढेरी हो गई तो उसको भी किस प्रकार से अपने से पृथक् करे। इसलिए साधक वायु धारणा का चिन्तवन करता है। वह विचारता है कि आकाश में एक प्रचण्ड वायु उठी है। वह इतनी वेगवान् है कि मेरु पर्वत को भी कम्पित कर रही है और देवों की सेना के समूहों को चलायमान कर रही है एवं मेघों के समूह का विघटन करती हुई तेजी से बह रही है। उस वायु ने सागर को भी क्षुभित कर दिया है, धीरे-धीरे वह वायु तीव्र गति से दसों दिशाओं में फैल रही है, पृथ्वीतल को विदीर्ण करके भीतर प्रवेश कर रही है, और आग्नेयी धारणा द्वारा भस्म हुई राख को संचित करके अपने वेग से उड़ाकर ले जा रही है, यहाँ तक कि उसने क्षणमात्र में ही विशाल भस्म राशि को उड़ा दिया है। अब मात्र आत्मा ही रह जाती है और यह वायु धीरे-धीरे अपने आप शान्त हो जाती है यही चिन्तन करना मारुती धारणा है।[2]

वारुणीधारणा - मारुतीधारणा से साधक की भस्म उड़ जाती है किन्तु छाया रह जाती है उसके लिए वह वारुणी धारणा का चिन्तन करता है। वह सोचता है कि आकाश काले-काले बादलों से आच्छादित है एवं चारों ओर घनघोर घटाएँ घिरी हुई हैं, बिजली

1. ज्ञानार्णव, 37/10-17.

2. वही, 37/20-23

चमक रही है एवं इन्द्रधनुष दिखाई दे रहा है। बीच-बीच में होने वाली गर्जनाओं से दिशाएँ कम्पित हो रही हैं एवं उन बादलों से निकलने वाली जल की अमृत के समान स्वच्छ धाराओं से आकाश व्याप्त हो गया है। ये जल की धारायें हमारे ऊपर गिरती हैं और राख के ढेर की छाप को बिल्कुल धोकर स्वच्छ कर दिया है और मेरी आत्मा स्फटिकमणि के समान स्वच्छ एवं निर्मल हो गई है, ऐसा चिन्तन करना ही वारुणी धारणा है।[1]

तत्त्वरूपवतीधारणा - इस धारणा में साधक ऐसा चिन्तन करता है कि मेरी आत्मा सप्तधातु से रहित और पूर्ण चन्द्रमा के समान उज्ज्वल एवं निर्मल है। मेरी आत्मा सर्वज्ञ है, अतिशय युक्त सिंहासन पर आरूढ़ है और इन्द्र, धरणेन्द्र, दानवेन्द्र, नरेन्द्र आदि से पूजित है। मेरे समस्त आठों कर्म नष्ट हो गये हैं और कर्मरहित मैं पुरुषाकार हूँ एवं ज्ञानमात्र ही मेरा शरीर है। ऐसा चिन्तन करना तत्त्वरूपवती धारणा है।[2]

इस प्रकार पाँचों धारणाओं से युक्त पिण्डस्थ ध्यान का अभ्यास करने वाले ध्याता को मन्त्र, माया, शक्ति, जादू आदि से कोई क्षति नहीं होती। प्रथम धारणा से साधक का मन स्थिर होता है, दूसरी धारणा से शरीरकर्म को नष्ट करता है, तीसरी धारणा शरीर और कर्म के सम्बन्धों को भिन्न देखने में समर्थ बनाती है, चौथी धारणा से शेष कर्म को नष्ट करता है और पाँचवी धारणा से शरीर एवं कर्म से रहित शुद्ध आत्मा को देखता है। इस प्रकार से वह इस ध्यान के अभ्यास से मन एवं चित्त को एकाग्र करके शुक्लध्यान में पहुँचने की स्थिति प्राप्त कर लेता है।

इन धारणाओं का वर्णन करने के पश्चात् आचार्य शुभचन्द्र ने लिखा है कि - जो योगी इस प्रकार इन धारणाओं के द्वारा अनवरत चिन्तन करता हुआ पिण्डस्थ ध्यान को साध लेता है वह अचिरकाल में ही आनन्द को प्राप्त कर लेता है, जो अन्य साधनों से भी प्राप्त होना कठिन है।[3]

आचार्य हेमचन्द्र ने अपने योगशास्त्र में भी पिण्डस्थध्यान के अन्तर्गत ध्येय की पाँच धारणाओं का वर्णन किया है, जो कि ज्ञानार्णव के सदृश ही है। दोनों में कहीं कोई अन्तर है तो वह नाम मात्र का ही है। तीसरी धारणा का नाम आचार्य शुभचन्द्र के अनुसार श्वसन है तो आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार मारुती। इसी प्रकार पाँचवी धारणा का नाम ज्ञानार्णव में तत्त्वरूपवती है तो योगशास्त्र में तत्त्वभू। दोनों के विवेचन में कोई तात्त्विक अन्तर दृष्टिगोचर नहीं होता।[4]

आचार्य शुभचन्द्र और आचार्य हेमचन्द्र ने पिण्डस्थ ध्यान के प्रकरण में जो इन

---

1. ज्ञानार्णव, 37/25-27. 2. वही, 37/28-30.
3. वही, 37/31. 4. ज्ञानार्णव, 37/4-30. योगशास्त्र, 7/9-25.

धारणाओं का विश्लेषण किया है वह उनके पूर्ववर्ती आचार्य हरिभद्र के योग विषयक किसी भी शास्त्र में उपलब्ध नहीं होता। फिर इनका भी मूल स्रोत कहाँ है, इस विषय में निश्चित रूप से कुछ कह पाना शक्य नहीं है। इतना अवश्य है कि हठयोग के ग्रन्थों में इस सम्बन्ध में मिलता-जुलता वर्णन अवश्य है, किन्तु उसकी विवेचना एवं अभिप्राय स्पष्टतः भिन्न है। फिर भी यदि वहाँ से इसे संगृहीत किया गया है तो उसमें श्रमणसंस्कृति के तत्त्वों का समावेश अवश्य हो जाने से संस्कारित हो गया है। जिससे अब दोनों को एक रूप में पहचान पाना संभव नहीं है।[1]

घेरण्डसंहिता में भी मुद्राओं के प्रसङ्ग में पाँच धारणाओं का विवेचन हुआ है। उनके नाम क्रमशः पार्थिवी, आम्भसी, आग्नेयी, वायवी तथा आकाशी ही हैं। इन धारणाओं का घेरण्ड ऋषि ने अत्यधिक महत्त्व बताया है। वे लिखते हैं - इन धारणाओं के सिद्ध हो जाने पर वह कौन सा कार्य है, जो सिद्ध नहीं होता ? इन धारणाओं के सिद्ध हो जाने पर योगी की गति मन के सदृश हो जाती है। वह खेचरत्व - आकाशगमन की शक्ति से भी सम्पन्न हो जाता है।[2]

आचार्य शुभचन्द्र और आचार्य हेमचन्द्र द्वारा निरूपित धारणाओं के साथ घेरण्डसंहिता में वर्णित धारणाओं की तुलना करें तो यह प्रतीत होता है कि उक्त दोनों आचार्यों ने जो धारणाओं का विवेचन किया है, वह बड़ा विशद और सारगर्भित है। पार्थिवी, आग्नेयी, वायव्य तथा वारुणीपिण्डों या प्रतीकों को ध्यान का विषय बनाकर इन्हें देह में विभिन्न कमल आदि प्रतीकों के साथ जोड़कर कर्मनाश की जो प्रक्रिया बतलाई गई है वह न केवल रोचक है अपितु बहुत मार्मिक भी है। कितनी सुन्दर कल्पना है - औंधे मुंह वाले हृदयस्थ कमल पर स्थापित आठ कर्मों को नाभि कमल में स्थित महामन्त्र से निकलने वाली अग्नि की प्रचण्ड ज्वालाएँ उस कमल तथा उन कर्मों को दग्ध कर रही हैं। इतना ही नहीं बाहर परिकल्पित अग्निमण्डल से निकलने वाली अग्नि की भीषण ज्वालाएँ भी आठ कर्मों, कमल और शरीर को दग्ध करती हैं। सब जलकर राख बन जाते हैं। आग्नेयी धारणा का यह कितना सुन्दर और प्रभावक रूप है। कर्मों ने राख का रूप तो ले लिया किन्तु वह भी पिण्ड रूप में कहीं पड़ी है। ऐसा क्यों रहे ? अतः वायवीधारणा में वह सारी राख गगन मण्डल में बिखेर दी जाती है तथा वारुणी धारणा में इसे धो डाला जाता है। कर्मों का अवशेष भी नहीं बचता।

पिण्डस्थ ध्यान के साथ जुड़ी यह धारणात्मक चिन्तन प्रणाली साधक को कर्मों के अपचय की दिशा में प्रेरित करती है। जिस समय योगी इन धारणाओं में की गई प्रतीक कल्पनाओं के साथ अपने को जोड़ लेता है उस समय उसके चित्त से सभी सांसारिक स्थितियाँ

1. घेरण्डसंहिता, 3/68.

2. वही, 3/69.

हट जाती हैं। तात्त्विक दृष्टि से उस समय जो योगी का ध्यान मूलक अध्यवसाय चलता है उससे कर्म शीघ्र ही झड़ने लगते हैं। अग्नि जिस प्रकार घास-पात काष्ठ आदि को जला देती है उसी प्रकार ध्यान की तेजोमय अग्नि कर्मों को दग्ध कर डालती है। कर्मों का अस्तित्व वासनागत भी क्यों रह जाय ? इसिलए जले हुए कर्मों की राख तक को उड़ाकर प्रक्षालित कर हटा देने की जो परिकल्पना इनमें है वह नि:संदेह बड़ी सुन्दर और विचित्र है। ऐसा प्रतीत होता है कि इन आचार्यों ने हठयोग में वर्णित धारणाओं को अपने ज्ञान तथा उर्वर मस्तिष्क द्वारा यह नया रूप दिया है। कर्म निर्जरणात्मक आध्यात्मिक उद्यम को इस नूतन परिवेश में उपस्थापित कर आचार्य शुभचन्द्र और आचार्य हेमचन्द्र ने योग को एक नई दिशा प्रदान की है।

2. **पदस्थध्यान** -

"पद्यते गम्यते विज्ञायते अर्थो येन तत्पदं पदे तिष्ठतीति पदस्थ:"। अर्थात् जिसके द्वारा अर्थ का ज्ञान हो वह पद है। सु-मि आदि विभक्तियाँ जिसके अन्त में हों उसे भी पद कहते हैं, जो ध्यान उसमें स्थित हो अर्थात् पद सम्बन्धी ध्यान पदस्थ ध्यान है। **"पदस्थं मन्त्रवाक्यस्थं"** अर्थात् मन्त्र वाक्यों में जो स्थित है वह पदस्थध्यान है।[1] इस ध्यान का मुख्य आलम्बन शब्द है। इस ध्यान के द्वारा साधक अपने को एक ही केन्द्रबिन्दु पर केन्द्रित करते हुए मन को अन्य विषयों से पराभूत कर लेता है और केवल सूक्ष्म वस्तु का ही चिन्तन करता है। ज्ञानार्णव में कहा गया है कि 'पवित्र पदों का आलम्बन लेकर जो अनुष्ठान या चिन्तवन किया जाता है, वह पदस्थ ध्यान है।'[2] यही बात योगशास्त्र में भी कही गई है - 'एक अक्षर आदि को लेकर अनेक प्रकार के पंच परमेष्ठी वाचक मन्त्र पदों का उच्चारण जिस ध्यान में किया जाता है वह पदस्थ ध्यान कहलाता है।'[3]

पदस्थ ध्यान करने वाला योगी सबसे पहले वर्णमातृका का ध्यान करता है क्योंकि वर्णमाला सब मन्त्रों की जननी होने के कारण 'वर्णमातृका' कहलाती है। अनादि सिद्धान्त में जो वर्णमातृका अर्थात् अकारादि स्वर और ककारादि व्यञ्जन हैं, उनसे ही शब्दों की उत्पत्ति हुई है।[4]

पदस्थ ध्यान को बीजाक्षर एवं पदों के रूप में दो प्रकार से सिद्ध किया जा सकता है -

1. अक्षरध्यान - इसके अन्तर्गत नाभिकमल, हृदयकमल और मुखकमल से

1. द्रव्यसंग्रह, टीका, 48/205
2. ज्ञानार्णव, 38/1.
3. योगशास्त्र, 8/1.
4. वसुनन्दी श्रावकाचार, 464.

शरीर के इन तीन भागों की परिकल्पना की जाती है। इसमें नाभि कमल में साधक यह चिन्तवन करता है कि मेरे नाभि कमल में सोलह ढल वाला एक कमल है, जिसकी प्रत्येक पंखुडी पर अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः ये सोलह अक्षर लिखे हुए हैं।[1] वह इन वर्णों पर मन को टिकाता है, जिससे उसका चित्त एकाग्र हो जाता है और ज्ञान तन्तुओं के सक्रिय होने से बुद्धि कौशल जाग्रत होता है।

हृदय कमल में वह सोचता है कि हृदय स्थल पर चौबीस पाँखुडियों वाला एक कमल है। उस कमल के मध्य एक कर्णिका भी है इन चौबीस ढलों एवं कर्णिका पर क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ, ट, ठ, ड, ढ, ण, त, थ, द, ध, न, प, फ, ब, भ, म, ये पच्चीस वर्ण लिखे हुए हैं।[2] इस ध्यान से प्रज्ञाशक्ति जाग्रत होती है।

मुखकमल में वह ध्यान करता है कि मुखमण्डल के ऊपर 8 पत्रों वाला एक कमल बना हुआ है। जिसमें प्रत्येक पत्र पर प्रदक्षिणा क्रम से संचार करते हुए य, र, ल, व, श, ष, स, ह ये आठ वर्ण अंकित हैं।[3] ऐसा ध्यान करने वाला योगी अभ्रान्त होकर श्रुतज्ञान के सागर का पारगामी हो जाता है।[4]

कमल के पत्तों और उसकी कर्णिका के मध्य में अनादि सिद्ध वर्णों का ध्यान करने वाला योगी कुछ ही समय में नष्ट आदि विषय सम्बन्धी - गुमी हुई वस्तु का ज्ञान करने वाला हो जाता है ।

आचार्य शुभचन्द्र और आचार्य हेमचन्द्र द्वारा वर्णित विषय में पर्याप्त समानता है। क्वचिदपि ही शाब्दिक अन्तर दिखाई देता है। इससे अधिक विविधता के दर्शन दुर्लभ होते हैं।

पदस्थध्यान के प्रतिपादन के समय आचार्य शुभचन्द्र ने मन्त्रराज णमोकार के संक्षिप्त अर्थात् बीजाक्षर रूप एवं सम्पूर्ण रूप में ध्यान करने का भी निर्देश किया है। वे हैं बीजाक्षर के विषय में कहते हैं -

समग्र मन्त्रों के अधीश्वर, समस्त तत्त्वों के अधिनायक, आदि-मध्य तथा अन्त के भेद से स्वर एवं व्यंजन से निष्पन्न, ऊपर तथा नीचे रेफ युक्त, हकार युक्त, चन्द्रबिन्दु सहित यह मन्त्र; मन्त्रों का राजा कहा गया है।

स्वर्णमय कमल के बीच में कर्णिका पर अवस्थित मल एवं कलंकवर्जित शरद् ऋतु के चन्द्र की किरणों के समान और गौर वर्ण युक्त आकाश में गमन करते, दिशाओं में व्याप्त होते इस मन्त्र का जिनेश्वर के सदृश स्मरण करे, ध्यान करे।

1. ज्ञानार्णव, 38/3.
2. वही, 38/4.
3. वही, 38/5.
4. वही, 38/6

मन्त्र के महत्त्व एवं फल को निर्देशित करते हुए ज्ञानार्णवकार कहते हैं कि - 'यह मन्त्र महेश्वर - मन्त्रराज ज्ञान का बीज है, जगत् द्वारा वन्दनीय है, जन्म रूप अग्नि को शान्त करने के लिए मेघ है। प्रज्ञाशील पुरुष इसका ध्यान करे।'

'जिसने इस मन्त्र का एक बार भी उच्चारण कर लिया, हृदय में स्थापित कर लिया उसने मानो मोक्षमार्ग पर आगे बढ़ने में, अपनी यात्रा में पाथेय-संबल प्राप्त कर लिया।'

'जब यह मन्त्र मुनि के हृदय में अवस्थित होता है, तब तत्काल जन्म - मरण का अंकुर विशीर्ण हो जाता है।'[1]

इस मन्त्र के ध्यान करने की विधि के विषय में आगे ग्रन्थकार लिखते हैं -

'धैर्यशील योगी कुम्भक प्राणायाम द्वारा इसे भौंहों के बीच में स्फुरित होते हुए, मुख कमल में प्रविष्ट होते हुए, तालुरन्ध्र से गमन करते हुए, अमृतबिन्दु टपकाते हुए, नेत्र की पलकों पर प्रस्फुरित होते हुए केशों पर टिकते हुए, ग्रहमण्डल में भ्रमण करते हुए, चन्द्रमा के साथ स्पर्धा करते हुए, दिशाओं में संचरण करते हुए आकाश में उच्छलित होते हुए, कलंक पुंज को छिन्न करते हुए, संसार के भ्रम को हटाते हुए, परमस्थान - मोक्ष से योजित हुए तथा मोक्षलक्ष्मी से मिलाते हुए इस मन्त्र के स्वरूप का चिन्तन करे।'[2]

ध्याता के लिए निर्देश करते हुए आचार्य शुभचन्द्र कहते हैं कि - 'ध्याता किसी अन्य की शरण न लेता हुआ इसी में अपने मन को इस प्रकार तल्लीन करे कि स्वप्न में भी वह वहाँ से स्खलित न हो। ध्यान के इस विधिक्रम को जानकर साधक समस्त अवस्थाओं में नासिका के अग्रभाग पर या भ्रूलताओं के मध्य में मन को टिकाए रहे।'

जिस तरह **ह्रीं** का ध्यान करने का निर्देश ज्ञानार्णव में दिया गया है उसी तरह अनेक बीजाक्षरों की आराधना का कथन भी किया है। जैसे **ह्रीं** या **ॐ** आदि। ॐ के विषय में पर्याप्त विवेचन वहाँ हुआ है। इसके ध्यान करने की विधि, फल एवं महत्त्व आदि की विस्तृत चर्चा की गई है। जैन परम्परा ही नहीं, अपितु वैदिक संस्कृति एवं श्रमणसंस्कृति दोनों में ही इसके विषय में विस्तृत चिन्तन होता रहा है। इसकी विविध रूपों में उत्पत्ति की संकल्पनाएँ भी की गई हैं। जैन योगपरम्परा में तो इसे महामन्त्र से उद्भूत ही माना है। कारण, इसमें महामन्त्र के पाँचों पदों के आद्य अक्षर समाहित होते हैं अथवा अ= ज्ञान, उ= दर्शन और म्= चारित्र के प्रतीक होने से यह मोक्षमार्ग के सम्पूर्ण स्वरूप का प्रतिनिधित्व करता है।

ॐ के ध्यान करने की विधि का वर्णन करते हुए कहा गया है कि - इस ध्यान का

1. ज्ञानार्णव, 38/10-15.

2. वही, 38/16-19.

साधक सबसे पहले हृदय कमल में स्थित कर्णिका में इस पद्म की स्थापना करता है, तथा देव व दैत्यों से पूजित एवं वचन विलास की उत्पत्ति के अद्धितीय कारण, स्वर तथा व्यंजन से युक्त, पंचपरमेष्ठी के वाचक, मूर्धा में स्थित चन्द्रकला से झरने वाले अमृत के रस से आद्रित इस महातत्त्व, महाबीज, महामन्त्र, महापदस्वरूप ॐ को कुम्भक करके ध्याता है।[1]

ॐ की साधना विभिन्न रंगों के साथ की जाती है। उनके विभिन्न वर्णों के साथ की जाने वाली साधना के विभिन्न फल भी निरूपित किये गए हैं। जैसे - श्वेत वर्ण वाले ॐ की साधना शान्ति एवं पुष्टि कारक के साथ कर्मों का क्षय करने वाली एवं मोक्ष को देने वाली होती है । पीले रंग के ॐ का जप या ध्यान करने से ज्ञान तन्तुओं को सक्रियता प्राप्त होती है। वशीकरण में लाल रंग के ॐ का ध्यान किया जाता है। नीले रंग के ॐ का ध्यान करने से शान्ति तथा श्याम वर्ण के ध्यान से कष्टसहिष्णु बनने की शक्ति प्राप्त होती है।[2] इस प्रणव ॐ का ध्यान सांसारिक वैभव एवं सुखों के साथ-साथ मोक्ष को भी देने वाला होता है।[3] इसीलिए इसे प्रत्येक अवस्था में ध्यातव्य माना जाता है।

2. पदध्यान - जिस तरह ज्ञानार्णव में बीजाक्षरों के ध्यान के लिए पदस्थ ध्यान में स्वीकार किया गया है उसी तरह पदध्यान को भी पदस्थध्यान में स्वीकार किया गया है। इसमें प्रमुख रूप से महामन्त्र के वाचक पाँच पदों को या इससे सम्बन्धित अन्य पदों को भी ध्यान का विषय बनाने के योग्य समझा गया है।

"णमो अरहंताणं" यह सात अक्षरों का पद ध्यान करने के लिए जैन ध्यानयोग परम्परा में स्वीकार किया गया है। आचार्य शुभचन्द्र ने भी उसी के अनुसार इसके ध्यान की विधि का प्ररूपण किया है। मन्त्रशास्त्रों के परामर्श के अनुसार इसे श्वेत रंग के साथ ध्यान करने योग्य कहा गया है। इससे शान्ति, समता, शुभ्रता एवं सात्विकता आदि की प्राप्ति होती है। 'जो प्राणी इस संसार रूपी अग्नि से दुखी हैं उन्हें इस पद् का ध्यान करना चाहिए' ऐसा सुझाव आचार्य शुभचन्द्र ने दिया है।[4]

इस पद पर तत्त्वों की दृष्टि से विचार किया जाए तो 'ई' और 'र' अग्नि बीज हैं, 'अ' और 'ता' वायुबीज, 'ह', 'णमो' और 'ण' आकाश बीज। अर्थात् इस पद में अग्नि, वायु और आकाश तीनों तत्त्व मौजूद हैं। अग्नि तत्त्व अशुभ कर्मों की निर्जरा करता है और

1. ज्ञानार्णव, 38/33-35.
2. योगशास्त्र, 8/31.
3. ॐकारं बिन्दुसंयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः।
   कामदं मोक्षदं चैव ओंकाराय नमो नमः।।
4. ज्ञानार्णव, 38/85.

वायु तत्त्व निर्जरा किये हुए कर्मों की राख को उड़ाकर साफ कर देता है और आकाश तत्त्व साधक के चारों ओर एक कवच का निर्माण करके उसकी शक्ति को बढ़ाता है, जिससे सांसारिक विकार उसकी आत्मा, मन और शरीर में प्रवेश न कर सके।

''णमो सिद्धाणं'' णमो अरहंताणं की तरह यह पद भी विशिष्ट है। इसका ध्यान साधक को लाल रंग से करना चाहिए। इस पद में दो नासिक्य वर्ण हैं, जो कि मन्त्र शास्त्र की दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। क्योंकि इन वर्णों के उच्चारण के समय ध्वनि तरंगें सीधी ब्रह्मरंध्र तथा मस्तिष्क के ज्ञानवाही और क्रियाशील तन्तुओं से टकराती हैं, जो अत्यधिक शक्ति को उत्पन्न करने वाली होती हैं।

इसमें 'णमो' और 'ण' आकाश तत्त्व, 'स' और 'द्ध' जल तत्त्व, 'ध' पृथिवी और 'इ' अग्नि तत्त्व माना गया है। इस प्रकार इसमें पृथ्वी, अग्नि, जल और आकाश तत्त्वों की मौजूदगी है। इसके ध्यान से धारणाशक्ति, दमनशक्ति एवं दया आदि गुणों की वृद्धि होती है।

''णमो आयरियाणं'' इस पद में पाँच वर्ण अनुनासिक हैं। अनुनासिक ध्वनियों के बाहुल्य से इसका महत्त्व अत्यधिक रूप से स्वीकार किया जाता है। मन्त्रशास्त्रों के अनुसार इस पद का पीले रंग के साथ ध्यान किया जाता है। पीला रंग ज्ञानवाही तन्तुओं को और अधिक संवेदनशील करके शक्तिशाली बनाता है। इसके ध्यान से साधक में मन में सहस्रगुणी अधिक ऊर्जा उत्पन्न होती है। इसमें 'णमो' और 'ण' आकाशतत्त्व, 'आ', 'य' और 'या' वायुतत्त्व तथा 'रि' अग्नितत्त्व के प्रतीक हैं।

''णमो उवज्झायाणं'' इस पद का ध्यान साधकों के लिए नीले रंग के साथ करना चाहिए। इसकी साधना से साधक में क्षमाशीलता आदि भावों का विकास होता है। इस पद में रहने वाले 'णमो' एवं 'ण' आकाश तत्त्व, 'उ' और 'ज' पृथ्वी, 'व' एवं 'झा' जल तत्त्व और 'य' वायुतत्त्व के बीज हैं। इस प्रकार चारों तत्त्वों के मौजूद होने और अग्नि तत्त्व के अभाव के कारण यह साधक को अत्यधिक शीतलता का भी कारण होता है।

''णमो लोए सव्वसाहूणं'' महामन्त्र के अन्तिम पद स्वरूप यह पद साधक को इन्द्रिय एवं मनोविजेता बनाता है। जिससे साधक की विचारधारा शुद्ध एवं ऊर्ध्वगामी होती है। इस पद का ध्यान काले या गहरे नीले रंग से किया जाता है। चूंकि इस पद में आकाश तत्त्व की अधिकता रहती है। इसमें भी आकाश, पृथ्वी, वायु और जल तत्त्व की मौजूदगी है। ध्यानसाधना के क्षेत्र में लाल और काले रंग का विशेष महत्त्व माना जाता है।

आचार्य शुभचन्द्र ने पद मन्त्रों में पञ्चपरमेष्ठी सम्बन्धी 'अरिहंतसिद्धआयरिय-उवज्झायसाहू', 'अरहंतसिद्ध', 'अरंहत', 'सिद्ध', 'ॐ हां हीं हूँ, हौं हः', 'असिआउसा नमः' के अतिरिक्त भी अनेक पद मन्त्रों की प्ररूपणा की है। यथा - 'ॐ अर्हत्सिद्धसयोग-

केवली स्वाहा', 'ॐ ह्रीं श्रीं अर्हं नमः', 'नमः सर्वसिद्धेभ्यः', 'ॐ जोग्गे मग्गे तच्चे भूढे भव्वे भविस्से अक्खे पक्खे जिणपारिस्से स्वाहा', 'ॐ ह्रीं स्वर्हं णमो णमोऽहंताणं ह्रीं नमः', एवं 'णमो णाणस्स', 'णमो दंसणस्स', 'णमो चरित्तस्स', 'णमो तवस्स', 'एसो पंच णमोक्कारो', 'सव्वपावप्पणासणो', 'मंगलाणं च सव्वेसिं पढमं हवइ मंगलं' इत्यादि।[1]

इस प्रकार आचार्य शुभचन्द्र ने पदस्थध्यान के अन्तर्गत अन्य अनेक मन्त्रों के ध्यान करने की विधियाँ एवं उनके स्वरूप के साथ फल का वर्णन किया है। जिससे ध्यान करने वाले को किञ्चित् भी संदेह नहीं रह जाता है। इसी तरह आचार्य हेमचन्द्र के योगशास्त्र में भी इनका विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है। जिसे देखकर प्रतीत होता है कि उनके समय में मन्त्रमूलक आराधना का काफी प्रसार रहा है। यही कारण है कि इन दोनों आचार्यों ने अपने अनुकूल उस विषय सामग्री का संचय किया है। यद्यपि इस तरह प्ररूपित मन्त्र विषयक ध्यान साधना एक जटिल प्राणायाम की प्रक्रिया से सम्पन्न होती है और कहीं - कहीं तो वह हठयोग के त्राटक आदि रूपों में भी जुड़ जाती है। जिससे उसकी साधना कृच्छ्रतम हो जाती है। दोनों की विषय सामग्री के साम्य का प्रमुख कारण दोनों के काल का निकटवर्ती होना ही। इसी कारण से यह कहना सत्य एवं तथ्यपूर्ण है कि ज्ञानार्णव का प्रभाव आचार्य हेमचन्द्र के योगशास्त्र पर यथेष्ट परिलक्षित होता है।

पदस्थ ध्यान में चित्त को एकाग्र करने के लिए पदों अर्थात् मन्त्रों एवं बीजाक्षरों का सहारा लिया जाता है जो मुक्ति की कामना करने वाले हैं उनके लिए मन्त्र रूपी पदों का अभ्यास करने के लिए कहा गया है, इन मन्त्रों के अभ्यास से साधक के समस्त कर्मों का क्षय हो जाता है एवं लौकिक प्रयोजनों की सिद्धि के साथ-साथ मोक्षपद की प्राप्ति भी सरल हो जाती है।[2]

3. रूपस्थध्यान -

'रूप' शब्द के अनेक अर्थ हैं। सामान्यतः प्रचलित अर्थ है चक्षु इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य विषय। अन्यत्र इसका अर्थ होता है स्वभाव, यथा द्रव्य रूप या पुद्गल रूप आदि। किन्तु यहाँ ध्यान का प्रसङ्ग होने से इसका अर्थ सर्वथा भिन्न ही होता है। जैसा कि प्रवचनसार में कहा गया है - 'अन्तरंग शुद्धात्मानुभूति की द्योतक निर्ग्रन्थ एवं निर्विकार साधुओं की वीतराग मुद्रा को रूप कहा गया है।'[3] इसीलिए जहाँ भी रूपस्थ ध्यान का विवेचन किया गया है वहाँ रूप से तात्पर्य आकृति विशेष से लिया गया है।

उपर्युक्त सन्दर्भ के अनुसार रूपस्थ ध्यान की परिभाषा निम्नानुसार हो सकती है

1. ज्ञानार्णव, 38/48-113.
1. ज्ञानार्णव, 38/116.
2. प्रवचनसार, ता. वृ. 203/276.

– 'रूपयुक्त तीर्थंकर आदि इष्टदेव का ध्यान करना रूपस्थ ध्यान कहलाता है।'[1] अथवा आचार्य शुभचन्द्र के शब्दों में 'आठ महाप्रातिहार्यों से घिरे हुए अरहन्त भगवान का ध्यान करना रूपस्थ ध्यान कहलाता है।'[2] इसे ही स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं – 'अर्हत् पदानुरूप गरिमामय सर्वज्ञ, परमेश्वर, देवेन्द्र, चन्द्र, सूर्य आदि से समन्वित परिषद में विद्यमान – स्वयंभू – आत्मबल द्वारा सिद्धि प्राप्त, समग्र अतिशयपूर्ण, सर्वलक्षण पूर्ण, समस्त प्राणियों के लिए हितकर, शील रूप शैल शिखर पर विराजित, सप्तधातु रहित, मोक्ष लक्ष्मी द्वारा सकटाक्ष दर्शित – सत्वर मोक्षगामी, अपरिमित महिमा के आधार, सयोगी केवली अवस्था को प्राप्त, अचिन्त्य चरित्र – उत्तम चरित्रशील, गणधरादि मुनिगण द्वारा समुपासित विविध नयों द्वारा निर्णीत समग्र तत्त्व, समस्त जगत के बन्धु – श्रेयस्कर, इन्द्रियविजेता, विषयशत्रु विनाशक, रागात्मक विस्तार का ध्वंस करने वाले, भवाग्नि को शान्त करने – बुझाने हेतु मेघ, दिव्यरूप युक्त, धैर्यशील, विशुद्ध ज्ञानचक्षुमय, देवों और योगिवर्यों द्वारा कल्पनातीत आत्म वैभव के अधिनेता, मिथ्यात्वमय मत रूप पर्वत को स्याद्वाद रूपी वज्र द्वारा विनिर्घात करने वाले, ज्ञान रूपी अमृत के स्रोत से तीनों लोकों को पवित्र करने वाले, असंख्य गुणरत्नों से परिपूर्ण, महासागर, देववन्द्य, स्वयंबुद्ध, आद्य धर्मचक्रवर्ती, तीर्थंकर ऋषभनाथ का ध्यान करे।..... आदि ।'[3]

इस ध्यान के फल का निदर्शन करते हुए आचार्य कहते हैं कि – 'उपर्युक्त सर्वज्ञ देव का ध्यान करने वाला ध्यानी अन्य शरण से रहित हो, साक्षात् उसमें ही संलीन है मन जिसका ऐसा हो, तन्मयता को पाकर उसी स्वरूप को प्राप्त होता है।'[4]

यहाँ यह अवश्यमेव ध्यातव्य है कि साधक के लिए वीतरागी देव का ही चिन्तन या ध्यान करना चाहिए, तभी वह वीतरागी हो सकता है। इसी कारण वह असर्वज्ञ होने पर भी अपने आप सर्वज्ञ स्वरूप देखने वाला हो जाता है।[5] अन्यथा रागी का ध्यान करने से स्वयं रागात्मक हो जाएगा।

इस तरह रूपस्थ ध्यान का अभ्यासी साधक संसार में दुर्लभ समस्त वस्तुओं को प्राप्त करने के साथ मोक्ष पद को भी सहजता से प्राप्त कर सकता है।[6]

इसी तरह योगशास्त्र, वसुनन्दिश्रावकाचार, गुणभद्रश्रावकाचार, शास्त्रसार-समुच्चय, तत्त्वानुशासन, द्रव्यसंग्रह आदि ग्रन्थों में भी रूपस्थ ध्यान का विवेचन किया गया है। सभी में प्रमुख रूप से चिद्रूपता – स्पर्श, रस, गन्ध व वर्ण से रहित स्वरूप की साम्यता स्पष्ट अवभासित होती है।

---

1. योगशास्त्र, 9/7.
2. ज्ञानार्णव, 39/23.
3. ज्ञानार्णव, 39/1-31.
4. वही, 39/32.
5. वही, 39/42.
6. वही, 39/33.

4. रूपातीत ध्यान –

'रूपेण अतीतं रूपैर्बिना वा यद्ध्यानं तद्रूपातीतं ध्यानम्' रूप से अतीत ध्यान रूपातीत ध्यान है। रूप का अर्थ स्पर्श, रस, गन्ध व वर्णमय दृश्यमान पुद्गल पदार्थ से है। उससे अतीत यानि रहित जो शुद्ध चैतन्य ज्ञानानन्द स्वरूप शुद्धात्मा है उसका ध्यान रूपातीत ध्यान है। अर्थात् आत्मा द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म से रहित निरंजन स्वरूप है उसका ध्यान रूपातीत ध्यान है।[1]

इस ध्यान में योगी चिदानन्दमय विशुद्ध, अमूर्त्त, परमाक्षर आत्मा को आत्मा से ही ध्याता है। रूपातीत ध्यान परमात्मा का शुद्ध रूप है, इसमें योगी मुनि अपनी आत्मा को ही परमात्मा समझकर स्मरण करता है। परमध्यानी सिद्ध परमात्मा के ध्यान का अभ्यास करके शक्ति की अपेक्षा से अपने आपको भी उनके समान जान-मानकर अपने आपको उनके समान ही व्यक्त रूप से करने के लिए उनमें लीन होता है, तथा अपने कर्मों का नाश करके व्यक्त रूप परमेष्ठी हो जाता है। इस ध्यान में ध्याता, ध्यान व ध्येय की एकता हो जाती है।

यह ध्यान निरालम्ब ध्यान के अन्तर्गत आता है, क्योंकि इसमें न तो किसी प्रकार का मन्त्र जाप होता है और न किसी का अवलम्बन लिया जाता है।

प्रारम्भ में साधक को सालम्बन ध्यान को करने के लिए कहा गया है, क्योंकि इस ध्यान में एक स्थूल अवलम्बन होता है, जिससे साधक का मन एकाग्र होकर चिन्तन में समर्थ हो पाता है। जब साधक इस ध्यान में परिपक्व हो जाता है, तब निरालम्बन ध्यान की योग्यता उसके आ जाती है, जिससे रूपातीत ध्यान का चिन्तन कर सकता है। अतः आचार्यों ने पहले सावलम्बन ध्यान का अभ्यास करने के लिए कहा है, यह सध जाए तो उसे छोड़कर निरालम्ब के अभ्यास का निर्देश दिया है।[2]

स्थूल से सूक्ष्म, सविकल्प से निर्विकल्प और सावलम्ब से निरावलम्ब की ओर जाया जाता है। रूपातीत ध्यान के अन्तर्गत सिद्ध भगवान को आधार मानकर चिन्तनात्मक एकाग्रता साधी जाती है। ज्ञानार्णव के 39 वें सर्ग में रूपातीत ध्यान का विशेष विवरण प्रस्तुत किया है। वहाँ कहा गया है – 'जो योगी वीतरागी हो वीतराग भगवान् का स्मरण करता है वह स्वयं वीतरागी हो मुक्त हो जाता है।'[3]

धर्म्यध्यान के स्वामी –

जैसा कि आगम में उल्लेख किया गया है कि धर्म्यध्यान चार प्रकार का है और

1. द्रव्यसंग्रह, 48/201. ज्ञानार्णव, 39/16.
2. योगशास्त्र, 10/3-4. ज्ञानसार, 37
3. ज्ञानार्णव, 39/13.

वह अविरत, देशविरत, प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत जीवों के होता है। अर्थात् चार गुणस्थानवर्ती जीवों के ये ध्यान होते हैं।[1] इनमें प्रथम दो गुणस्थान गृहस्थों के और शेष दो मुनियों के संभव होते हैं। इस तरह गृहस्थ भी धर्म्यध्यान का अधिकारी होता है।

धर्म्यध्यान श्रेणी चढ़ने से पूर्व ही होता है। कारण, दोनों श्रेणियों में आदि के दो शुक्लध्यान होते हैं। एक अन्य मत के अनुसार "असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत, क्षपक व उपशामक अपूर्वकरणसंयत, क्षपक व उपशामक अनिवृत्तिकरणबादरसांपराय, क्षपक व उपशामक सूक्ष्मसाम्परायसंयत जीवों के भी धर्म्यध्यान की प्रवृत्ति होती है, ऐसा जिनदेव का उपदेश है। इससे जाना जाता है कि धर्म्यध्यान कषायसहित जीवों के होता है और शुक्लध्यान उपशान्त या क्षीणकषाय वाले जीवों के होता है।"[2]

उपर्युक्त आगम प्रमाणों से धर्म्यध्यान के स्वामी के विषय में आचार्यों की दो मान्यताओं की जानकारी मिल जाती है। इसमें प्रथम मान्यता तत्त्वार्थसूत्र की टीकाकार परम्परा को मान्य है तो दूसरी मान्यता षट्खण्डागम के टीकाकार आचार्य वीरसेन द्वारा पोषित है।

आचार्य शुभचन्द्र देव ने धर्म्यध्यान के स्वामियों का उल्लेख करते हुए लिखा है - 'धर्म्यध्यान के यथायोग्य अधिकारी मुख्य और उपचार के भेद से प्रमत्तगुणस्थानवर्ती और अप्रमत्तगुणस्थानवर्ती ये दो मुनि ही होते हैं।[3] यह विशेष है कि कितने ही आचार्यों ने धर्म्यध्यान के स्वामी चार भी कहे हैं। किन्तु आचार्य शुभचन्द्र के अनुसार मुख्य रूप से धर्म्यध्यान मुनियों के ही होता है, गृहस्थों के धर्म्यध्यान क्वचित् कदाचित् ही होता है। क्योंकि उनका मन गृहस्थी के दायित्वों और पंचेन्द्रिय के विषयों में व्यग्र रहता है।' इस मत का समर्थन भावसंग्रहकार देवसेन ने भी किया है। वे कहते हैं - 'गृहस्थों के लिए धर्म्यध्यान के स्थान पर भद्रध्यान होता है।'[4]

इस प्रकार इन दो वर्गों के अतिरिक्त भी एक वर्ग है जो स्पष्टतः किसी वर्ग में नहीं आता। अर्थात् स्वामी के कथन के विषय में मौन धारण किये हुए हैं। इसमें स्वयं तत्त्वार्थसूत्रकार को गिना जाता है। इनके अतिरिक्त कोई अन्य मान्यता होने का प्रमाण अद्यावधि पर्यन्त उपलब्ध नहीं होता। अधिकांश दो मान्यताओं में ही सभी विशिष्ट आचार्यों का समावेश हो जाता है।

---

1. तत्त्वार्थसूत्र 9/36. सर्वार्थसिद्धि, 9/36/450/5.
2. धवला, 13 पृ.74.
3. ज्ञानार्णव, 28/25, 28
4. भावसंग्रह, गाथा 365.

4. शुक्लध्यान –

शुक्लध्यान, योग की वह सर्वोत्तम अवस्था है, जिसमें चित्त की एकाग्रता और निरोध पूरी तरह से सम्पन्न हो जाता है। साधक जिस लक्ष्य को लेकर योगमार्ग की प्रवृत्ति को अपनाता है वह इस ध्यान के प्राप्त हो जाने से पूर्णता को प्राप्त होता है। यही वह दशा होती है जिससे सीधे मोक्ष प्राप्त किया जाता है।

शुक्लध्यान का स्वरूप – जैन सिद्धान्त एवं योग परम्परा दोनों ही दृष्टियों में शुक्लध्यान का विस्तृत विवेचन हुआ है और मुख्य बात यह है कि दोनों में ही स्वरूपगत कोई भिन्नता नहीं है। विभिन्न आचार्यों द्वारा निरूपित कतिपय परिभाषाओं पर दृष्टिपात् कर लेना उचित होगा, जो कि निम्नानुसार हैं –

''शुचं क्लमयतीति शुक्लम्'' ध्यानशतक की इस निरुक्ति के अनुसार जो ध्यान शोक आदि दोषों को दूर करने वाला है वह शुक्लध्यान है। अर्थात् आत्मा की अत्यन्त विशुद्ध अवस्था को शुक्लध्यान कहते हैं।[1]

समवायांग के अनुसार – ''श्रुत के आधार से मन की आत्यन्तिक स्थिरता एवं योग का निरोध शुक्लध्यान है।''[2]

आचार्य अकलङ्कदेव के अनुसार – ''जिस प्रकार से मैल के धुल जाने पर वस्त्र साफ हो जाता है, उसी प्रकार निर्मल गुणों से युक्त आत्मा की परिणति भी शुक्ल है।''[3]

इस तरह किञ्चित् शब्दभेद के साथ अधिकांश परिभाषाएँ उपलब्ध होती हैं किन्तु इन सभी में जिस समानता के दर्शन होते हैं वह है कषायों का अभाव। अर्थात् कषायों के अभाव का कथन लगभग सभी आचार्यों का ध्येय है। यथा –

''..... अपूर्वकरण आदि गुणस्थानों में जो उदासीन तत्त्वज्ञान होता है वह दोनों प्रकार के मल के नाश होने के कारण शुक्लध्यान है और वह माणिक्यशिखा की तरह निर्मल और निष्कम्प रहता है।''[4]

आचार्य वीरसेन स्वामी ने धवला टीका में शुक्लध्यान की शुक्लता पर प्रश्न करते हुए स्पष्ट किया है कि – इसकी शुक्लता कषायों के अभाव के कारण ही है।[5]

इन्हीं परम्परित अभिप्रायों को सुरक्षित एवं संरक्षित करते हुए जैन योग के मूर्धन्य विशेषज्ञ आचार्य शुभचन्द्र ने भी कहा है – ''जो निष्क्रिय है, इन्द्रियातीत है और ध्यान की

1. ध्यानशतक, 1
2. समवायांग, 4.
3. तत्त्वार्थ राजवार्तिक, 9/28/4/627/31.
4. तत्त्वानुशासन, 221, 222.
5. धवला, 13/5/4/26/77/9.

धारणा से रहित है अर्थात् मैं इसका ध्यान करूँ, इस इच्छा से रहित है, वह शुक्ल ध्यान है।'[1]

शुक्लध्यान के भेद – साधक धर्म्यध्यान का अभ्यास करते-करते शुक्लध्यान की अवस्था को प्राप्त होता है। धर्म्यध्यान में उसके जो कर्म व कषाय शेष रह जाते हैं वह शुक्लध्यान के द्वारा नष्ट हो जाते हैं। शुक्लध्यान को परम समाधि की अवस्था भी कहा जाता है। इसके चार भेद बतलाये गए हैं, इन्हें चार चरणों के रूप में भी देखा जाता है।[2] वे ये हैं –

1. पृथक्त्ववितर्क सवीचार,
2. एकत्ववितर्क अवीचार,
3. सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती, और
4. व्युपरतक्रियानिवर्ती।

हरिवंशपुराण के अनुसार शुक्लध्यान के ये दो भेद भी होते हैं – शुक्लध्यान एवं परमशुक्लध्यान। इसके अनुसार उपर्युक्त चारों ध्यानों को दोनों में विभक्त किया जाता है। अर्थात् पृथक्त्ववितर्कवीचार और एकत्ववितर्कअवीचार शुक्लध्यान में तथा सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती और व्युपरतक्रियानिवर्ती परमशुक्लध्यान में परिगणित हैं।[3] हरिवंशपुराणकार ने जिन दो भेदों का कथन किया है उन्हीं दो भेदों का उल्लेख चामुण्डराय के चारित्रसार में भी देखने के लिए मिलता है।[4]

आचार्य हेमचन्द्र ने भी शुक्लध्यान के इन्हीं भेदों का कथन किया है। किन्तु उन्होंने चौथे शुक्लध्यान का नाम व्युपरतक्रियानिवर्ती के स्थान पर आसन्नक्रिया-अप्रतिपाती कहा है।[5] यद्यपि इसमें तत्त्वगत कोई भेद नहीं है, मात्र पर्यायवाची रूप से शब्द-भेद लक्षित होता है।

1. पृथक्त्ववितर्कवीचार शुक्लध्यान – पृथक्त्ववितर्कवीचार नामक ध्यान शुक्लध्यान का प्रथम चरण है। इस ध्यान में पृथक् – पृथक् रूप से वितर्क अर्थात् श्रुत का वीचार अर्थात् परिवर्तन होता है। इसलिए इसे सवितर्क एवं सवीचार ध्यान कहा गया है।[5] यह ध्यान मन, वचन और काय इन तीन योगों वाले मुनियों के होता है। किसी एक वस्तु में उत्पाद-स्थिति और व्यय आदि पर्यायों का चिन्तन श्रुत का आधार लेकर करना भी पृथक्त्ववितर्कवीचार शुक्लध्यान में होता है। अर्थ, व्यंजन और योगों के संक्रमण का नाम

1. ज्ञानार्णव, 42/4., 42/9-11.
2. तत्त्वार्थसूत्र, 9/39.
3. हरिवंशपुराण, 56/53-4.
4. चारित्रसार, 203/4.
5. योगशास्त्र, 11/5.

वीचार कहा गया है।[1] इसमें साधक कभी तो अर्थ का चिन्तन करते-करते शब्द का चिन्तन करने लगता है और कभी शब्द का चिन्तन करते-करते अर्थ का। जिस पदार्थ का ध्यान किया जाता है वह अर्थ कहलाता है, उसके प्रतिपादक शब्द को व्यंजन कहते हैं। जिसमें वितर्क के द्धारा अर्थ आदि में क्रम से अनेक प्रकार के परिवर्तन होते हैं वहीं पृथक्त्ववितर्कवीचार शुक्लध्यान कहलाता है।[2]

कषायपाहुड, राजवार्तिक, धवला टीका, महापुराण, द्रव्यसंग्रह और मूलाचार प्रद्धीप जैसे अनेक ग्रन्थों में ज्ञानार्णव के समान ही प्रथम शुक्लध्यान के स्वरूप को स्वीकार किया गया है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने भी कहा है कि - 'जब तक इन तीनों योगों को आत्मबुद्धि से ग्रहण किया जाता है तब तक यह जीव संसार में ही रहता है।'[3] किन्तु अचिन्त्य प्रभाव वाले ध्यान के कारण ही शान्तचित्त वाला मुनि क्षणमात्र में ही अपने समस्त कर्मों को मूल से नाश कर देता है।[4]

इस ध्यान के द्धारा साधक अपने चित्त पर विजय प्राप्त करता हुआ कषायों को शान्त करता है और इसके फलस्वरूप संवर, निर्जरा और अमरसुख को प्राप्त करता है। क्योंकि इससे मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती।

2. एकत्ववितर्क अवीचार शुक्लध्यान - एकत्ववितर्क अवीचार नामक ध्यान शुक्लध्यान का दूसरा चरण है। इस ध्यान में साधक वायु से रहित घर में रखें दीपक के समान चित्त की उत्पाद-स्थिति-व्यय में से किसी एक ही पर्याय में अतिशय रूप से स्थिर होता है। अर्थात् इसमें अर्थान्तर, व्यंजनान्तर और योगान्तर के संक्रमण से रहित होने के कारण अवीचार होकर पूर्वगत श्रुत का ही आश्रय लेता है। एक द्रव्य में चित्त स्थिर होने के कारण यह ध्यान एकत्व कहलाता है।[5]

इस शुक्लध्यान के साधक को एक विशेष प्रकार के उदात्त अनुभव की प्राप्ति होती है। उस योगी को सम्पूर्ण जगत् हस्तामलकवत् दीखने लगता है। क्योंकि इस ध्यान से ही केवलज्ञान की उत्पत्ति होती है।[6] और केवलज्ञान के महत्त्व को बतलाते हुए कहा है कि इससे योगी सर्वज्ञ व त्रिकालज्ञ हो जाता है। इन्द्र, सूर्य, मनुष्य एवं देवादि उसको पूजते हैं और वह अनन्तसुख, अनन्तवीर्य आदि को प्राप्त करता है। ऐसा योगी जहाँ - जहाँ जाता है सर्वत्र खुशहाली एवं समृद्धि व्याप्त हो जाती है।

यह ध्यान तीन योगों में से किसी एक योग के काल में सम्पन्न होता है। इसका

1. तत्त्वार्थसूत्र, 9/
2. ज्ञानार्णव, 42/15.
3. समाधितन्त्र, 62.
4. ज्ञानार्णव, 42/20.
5. वही, 42/26.
6. योगशास्त्र, 11/23.

साधक कषायरहित बारहवें गुणस्थान वाला जीव होता है। इस ध्यान का काल अन्तर्मुहूर्त्त मात्र होता है। इसके अनन्तर ही केवलज्ञान की उत्पत्ति हो जाती है।

3. सूक्ष्मक्रिया अप्रतिपाती – एकत्ववितर्क अवीचार शुक्लध्यान से समस्त घातिकर्म रूप ईंधन को जलाने के कारण केवलज्ञान की प्राप्ति होने पर समस्त वस्तुओं के गुण और पर्याय युगपत् जानने में आ जाते हैं। इसके अनन्तर वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र का वेदन करता हुआ केवलज्ञानी एक मुहूर्त्त तक अथवा कुछ कम एक पूर्वकोटि काल तक विहार करता है। कर्मभूमिज मनुष्य की उत्कृष्ट आयु एक पूर्वकोटि वर्ष की होती है और वह कम-से-कम आठ वर्ष की अवस्था होने पर ही दीक्षा लेकर केवलज्ञान उत्पन्न कर सकता है। ऐसी अवस्था में केवली के इतना दीर्घकाल संभव होता है।[1]

जब केवली भगवान् की आयु अन्तर्मुहूर्त्त शेष रहती है और वेदनीय, नाम तथा गोत्र की स्थिति भी उतनी ही रहती है, तब सब मनयोग, वचनयोग एवं काययोग को छोड़कर सूक्ष्मकाययोग का आलम्बन लेकर सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती ध्यान आरम्भ करते हैं। यहाँ क्रिया का तात्पर्य योग से है। ऐसा ध्यान सूक्ष्मक्रिया अप्रतिपाती ध्यान कहलाता है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि यदि केवली की आयु अन्तर्मुहूर्त्त है और वेदनीय, नाम और गोत्र की स्थिति अधिक होती है तो वे उनको बराबर करने के लिए समुद्घात करते हैं।[2]

इस ध्यान को केवलज्ञान के आश्रय से ही सम्पन्न किया जाता है। इसमें वितर्क अर्थात् श्रुत का आश्रय नहीं लिया जाता तथा यहाँ संक्रान्ति भी नहीं होती है।[3]

केवली के द्वारा की जाने वाली समुद्घात की प्रक्रिया का जैन सिद्धान्त के ग्रन्थों में विस्तृत विवेचन प्राप्त होता है। यह विवेचन जितना विस्तृत है उतना ही सूक्ष्म भी। ज्ञानार्णव के कर्त्ता आचार्य शुभचन्द्र ने भी इसका प्रसङ्गोपात्त वर्णन किया है जो निम्नानुसार है –

"केवली प्रथम समय में अपने अष्ट आत्मप्रदेशों को मेरु के अष्ट प्रदेशों के मध्यगत करते हुए दण्ड की तरह लम्बे रूप में विस्तीर्ण करते हैं। द्वितीय समय में उन्हें कपाट की तरह चौड़े रूप में, तृतीय समय में प्रतर की तरह मोटे रूप में और चौथे समय में इन विस्तृत आत्म प्रदेशों के द्वारा समस्त लोक को आपूर्ण – व्याप्त कर लेते हैं। इसी स्थिति में केवली भगवान् के सर्वगत, सर्वज्ञ, सर्वतोमुख, विश्वव्यापक, विभु, भर्त्ता, विश्वमूर्त्ति एवं महेश्वर ये नाम सार्थक होते हैं।

इस प्रकार आत्मप्रदेशों को लोक में फैलाकर ध्यान बल से वेदनीय, नाम और

1. प्रशमरतिप्रकरण, गाथा 271
2. वही, गाथा 273. तथा ज्ञानार्णव, 42/42.
3. षट्खण्डागम, भाग 5., तत्त्वार्थराजवार्तिक, 9/44. योगशास्त्र, 11/8.

गोत्र इन तीन कर्मों की स्थिति को घटाकर उनका आयुष्य कर्म की स्थिति से सामञ्जस्य साधते हैं। फिर वे लोक में व्याप्त आत्मप्रदेशों को क्रमशः चार समयों में वापिस समेट लेते हैं। इनका क्रम इस प्रकार होता है - पहले समय में प्रतर, दूसरे समय में कपाट, तीसरे समय में दण्ड और चौथे समय में आत्मप्रदेशों को स्वस्थ - शरीरगत कर लेते हैं। उस समय वे बादरकाययोग में स्थिर होकर बादरमनोयोग और बादरवचनयोग को सूक्ष्म योग में परिवर्तित करते हैं। तदनन्तर सूक्ष्मकाय योग में स्थित हो तृतीय शुक्लध्यान सूक्ष्मक्रिया अप्रतिपाती का आरम्भ करते हैं।''[1] यह ध्यान भी मात्र अन्तर्मुहूर्त्त के लिए ही किया जाता है।

4. समुच्छिन्नक्रियानिर्वृत्ति शुक्लध्यान (व्युपरतक्रियानिर्वृत्ति) - जिस समय श्वास-प्रश्वास आदि क्रियाओं का भी निरोध हो जाता है और आत्मा के प्रदेशों में किसी भी प्रकार का कम्पन नहीं होता है तब वह ध्यान समुच्छिन्नक्रियानिर्वृत्ति ध्यान कहलाता है। क्योंकि यह ध्यान वितर्क रहित और वीचार रहित तो होता ही है तथा इसमें अनिवृत्ति - योग सम्बन्धी क्रिया से रहित भी है। इस अवस्था में शैलेशपना एवं अयोग दशा उपलब्ध हो चुकी होती है।

इस अवस्था को प्राप्त होने वाले साधक के मानसिक, वाचिक और कायिक व्यापार समाप्त हो चुके होते हैं। इसको उपलब्ध होने पर साधक को अयोग केवली नाम से अभिहित किया जाता है। इसमें केवली के द्वारा उपान्त समय में बहत्तर कर्मप्रकृतियों का तथा अन्तिम समय में तेरह प्रकृतियों का विनाश कर मोक्ष प्राप्त किया जाता है।

आचार्य शुभचन्द्र के अनुसार अयोग केवली भगवान् का स्वरूप ऐसा होता है - ''चौदहवें गुणस्थान में केवली भगवान् निर्मल, शान्त, निष्कलङ्क, निरामय और जन्म-मरण रूप संसार के अनेक दुर्निवार बन्ध के कष्टों से रहित हैं, इनका आत्मा सिद्ध, प्रसिद्ध और निष्पन्न हो जाता है तथा ये कर्ममल से रहित निरंजन, क्रिया रहित, शरीररहित, शुद्ध, निर्विकल्प, अत्यन्त पूर्णता को प्राप्त, अनन्तवीर्य सहित अर्थात् अब अपने स्वरूप से कभी च्युत नहीं होते और आत्मा के दर्शन, ज्ञान की उत्कृष्ट शुद्धता को प्राप्त होते हुए मन, वचन, काय रूप योगों से रहित होने से अयोगी होते हैं। अपनी आत्मा की सिद्धि कर लेने से साधितात्मा, स्वभावस्वरूप, परमेष्ठी एवं उत्कृष्ट प्रभु होते हैं। चौदहवें गुणस्थान में अब लघु पंच स्वरों के उच्चारण काल तक ठहरते हैं। तदनन्तर कर्म बन्ध से रहित हो शुद्धात्मस्वभाव से ही ऊर्ध्वगमन करते हैं।''[2] पश्चात् वे भगवान् ऊर्ध्वगमन कर, एक समय में ही कर्म के अवरोध से रहित हो लोक के अग्रभाग में विराजमान हो जाते हैं। उससे आगे धर्मास्तिकाय का अभाव होने के कारण आगे गमन नहीं होता है।[3]

1. ज्ञानार्णव, 42/38-46.
2. ज्ञानार्णव, 42/55-59.
3. तत्त्वार्थसूत्र, 10/5.

शुक्लध्यान के स्वामी – तत्त्वार्थसूत्र में प्रथम दो शुक्लध्यानों का स्वामित्व श्रुतकेवली और अन्तिम दो शुक्लध्यानों का स्वामित्व केवली भगवान् के कहा गया है।[1] जबकि धवला टीका में पृथक्त्ववितर्कवीचार शुक्लध्यान का ध्याता चौदह, दश अथवा नौपूर्वो को धारण करने वाला प्रशस्त संहननयुक्त उपशान्तकषाय वीतराग छद्मस्थ माना गया है।[2] चारित्रसार में धवला के ही समर्थन रूप विवरण दिया गया है।[3] आचार्य नेमिचन्द्र ने अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसाम्पराय उपशामक और उपशान्त कषाय रूप चार गुणस्थानों में पहला शुक्लध्यान माना है।[4]

ज्ञानार्णव के कर्त्ता आचार्य शुभचन्द्र ने प्रथम शुक्लध्यान के ध्याता के विषय में स्पष्ट करते हुए कहा है – '' जिन महामुनि ने द्वादशांग शास्त्ररूप महासमुद्र का अवगाहन किया है वही मुनि पृथक्त्ववितर्कवीचार शुक्लध्यान को ध्यावे।''[5]

इस प्रकार प्रथम शुक्लध्यान के स्वामियों के विषय में कतिपय भिन्नता दिखाई देती है किन्तु द्वितीय शुक्लध्यान एकत्ववितर्कअवीचार को तो सभी क्षीणकषायगुणस्थान में ही स्वीकार करते हैं।[6]

सयोगकेवली गुणस्थान के अन्तिम अन्तर्मुहूर्त्त काल में जब मुनि स्थूलयोगों का निरोध कर सूक्ष्मकाययोग में स्थिर हो जाता है तब तृतीय अर्थात् सूक्ष्मक्रिया अप्रतिपाती नामक ध्यान होता है। और अयोग केवली गुणस्थान में योगों के पूर्ण अभाव में ही चौथा शुक्लध्यान समुच्छिन्नक्रिया अप्रतिपाती होता है।

आदिपुराण में छद्मस्थों के उपशान्तमोह और क्षीणमोह के शुक्ल तथा केवलियों के परमशुक्ल ध्यान बतलाया है। जो कि पूर्वोक्त भेदों के अनुरूप ही है।

शुक्लध्यान का फल – शुक्लध्यान का मुख्य फल मोक्ष की प्राप्ति है, लेकिन चारों ध्यानों का अलग-अलग जो फल होता है वह इस प्रकार है –

पृथक्त्ववितर्कवीचार शुक्लध्यान स्वर्ग एवं मोक्ष के सुखों को देने वाला है। इससे संवर, निर्जरा एवं अमरसुख तो प्राप्त होता ही है। इस ध्यान के द्वारा मुनि क्षणमात्र में मोहनीय कर्मों का मूल से ही नाश कर देता है।[7] तीन घातियाकर्मों का मूल रूप से ही नाश कर देना एकत्ववितर्कअवीचार शुक्लध्यान का फल है।[8]

योग का निरोध करना एवं शैलेशी अवस्था के प्राप्त होने पर कर्मों से मुक्त होकर

---

1. तत्त्वार्थसूत्र, 9/37-8.
2. धवला, 13, पृ. 60.
3. चारित्रसार, पृ. 206.
4. द्रव्यसंग्रह टीका, पृ. 204.
5. ज्ञानार्णव, 42/22.
6. द्रव्यसंग्रह, 48/200 धवला, 13/79. ज्ञानार्णव, 42/25.
7. ज्ञानार्णव, 42/20.
8. वही, 42/29.

सिद्धि को प्राप्त करना ही क्रमशः सूक्ष्मक्रियाअप्रतिपाती शुक्लध्यान एवं समुच्छिन्नक्रियानिर्वृत्ति शुक्लध्यान का फल है।[1]

इस ध्यान के द्वारा कर्मों का क्षय होता है और मन का आत्मा की सत्ता में विलय हो जाता है। शुक्लध्यान के द्वारा ही साधक अपनी आत्मिक अशुद्धियों को पूरी तरह से शुद्ध करने में समर्थ हो जाता है। अतः शुक्लध्यान ही सर्वोत्कृष्ट तप है, समस्त धार्मिक क्रियाओं की यह चरम सीमा है। इस ध्यान की साधना के द्वारा साधक अपने चरम लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

जैनधर्म एवं साधना की परम्परा में जो पद्धतियाँ आचार्य कुन्दकुन्द और आचार्य पूज्यपाद जैसे महामेरु साधकों ने स्थापित एवं विकसित की थीं, उनकी ही पुनःप्राणप्रतिष्ठा करने के लिए आचार्य शुभचन्द्र ने उन्हें अनुकूल संस्कारों से संस्कारित करते हुए प्रस्तुत कर सुग्राह्य बनाया है। इसके साथ ही इनमें पार्थिव, आग्नेय आदि धारणाओं और शिवतत्त्व आदि अवधारणाओं को सर्वदा नवीन रूप में प्रस्तुत कर ध्यान-योग परम्परा को विशिष्ट एवं महत्त्वपूर्ण आयाम दिया है। और इसके लिए आचार्य शुभचन्द्र का नाम सदैव याद किया जाता रहेगा।

1. षट्खण्डागम, 13/5/4/26/88.

षष्ठ अध्याय

ध्यान की प्रक्रिया

आचार्य उमास्वामी ने ध्यान का लक्षण **एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानं** किया है इसका अर्थ है अपने चित्त की वृत्ति को सब ओर से रोककर एक ही विषय में स्थिर करना लगाना। इस ध्यान के लक्षण में एक और अग्र ये दो शब्द विशेष विचारणीय हैं। इनमें एक शब्द का अर्थ मुख्य और अग्र शब्द का अर्थ आलम्बन है। मुख्य अर्थात् आलम्बन में चित्त को स्थिर करना ध्यान है और वह मुख्य आलम्बन आत्मा है उस आत्मध्यान की सिद्धि में जो भी साधक-बाधक कारण हैं उनमें साधक कारणों को जुटाना और बाधक कारणों को हटाने को ही ध्यान की प्रक्रिया माना जा सकता है। वे ध्यान के साधक कारण दो प्रकार के हो सकते हैं - बाह्य और आन्तरिक। अत: ध्यान की प्रक्रिया भी बहिरंग और अन्तरंग की अपेक्षा दो प्रकार की हो जाती है। स्थान, आसन, प्राणायाम आदि बाहरी साधन हैं इसलिए इन्हें बहिरंग प्रक्रिया के अन्तर्गत रखा गया है। वैराग्य, तत्त्वविज्ञान आदि अन्तरंग साधन हैं अत: इन्हें अन्तरंग प्रक्रिया में परिगणित किया गया है।

ध्यान के साधक कारणों के साथ ध्यान के बाधक कारणों को भी बतलाया गया है। जिनका परिहार करना ध्यान की सिद्धि के लिए अनिवार्य है। वे बाधक कारण निम्न हैं - चित्त की चपलता, विपरीत ज्ञान, प्रमाद, आलस्य, विभ्रम, आर्त-रौद्रध्यान को उत्पन्न करने वाला स्थान आदि।[1]

ध्यान किस प्रकार होता है अर्थात् ध्यान प्राप्ति के कौन-कौन कारण होते हैं? यह भारतीय दर्शन में महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। जिसका समाधान प्रत्येक चिन्तन ने किया है। जैन चिन्तकों द्वारा किया गया समाधान आगमों में उपलब्ध है अत: प्रकृत में ध्यान प्राप्ति के प्रमुख कारणों का उल्लेख करना आवश्यक है। तत्त्वानुशासन, ज्ञानार्णव आदि में कहा गया है कि परिग्रह-त्याग, कषाय-निग्रह, व्रतधारण, इन्द्रिय और मनोविजय करने से ध्यान प्राप्त होता है। गुरूपदेश, तत्त्वों का श्रद्धान करना, निरन्तर अभ्यास और मन की स्थिरता भी ध्यान की प्राप्ति में प्रमुख कारण हैं।[2] कहा भी है - "वैराग्य, तत्त्वों का ज्ञान, परिग्रहत्याग, साम्यभाव और परीषहजय ये पाँच ध्यान के कारण हैं।"[3]

ज्ञानार्णव में इन सभी ध्यान के कारणों का विवेचन यथास्थान किया गया है। सर्वप्रथम वैराग्य को उत्पन्न करने के लिए बारह भावनाओं का सविस्तार व्याख्यान किया

1. प्रबोधसार, 192.
2. तत्त्वानुशासन, 75.
3. वृहद्द्रव्य संग्रह, गाथा 57 की टीका.

गया है। सम्यग्दर्शन प्रकरण में तत्त्वों का स्वरूप विवेचित है। शुद्धोपयोग प्रकरण में आत्मतत्त्व का विशद व्याख्यान किया गया है। अपरिग्रहमहाव्रत के अन्तर्गत परिग्रहत्याग का कथन किया गया है। साम्यभाव प्रकरण में साम्यभाव का स्वरूप लाभ एवं प्रभाव का वर्णन किया गया है। ध्याता की प्रशंसा प्रकरण में परिषहजय की महत्ता बतलाई गई है। जिन मुनियों ने महान् मुनिपन को अंगीकार करके प्राणों का नाश होने पर भी समीचीन संयम की धुरा को नहीं छोड़ा है, वे ही ध्यान रूपी धन के ईश्वर (स्वामी) होते हैं। क्योंकि, संयम से च्युत होने पर ध्यान नहीं होता है। जिन मुनियों का चित्त परीषहरूप दुष्ट हस्थियों अथवा सर्पों से तथा ग्रामीण मनुष्यों के दुर्वचनरूपी काँटों से किञ्चित् मात्र भी अपने स्वरूप से च्युत नहीं हुआ। वे योगी ही ध्यान के पात्र हैं।[1]

ध्यान की विविध प्रक्रियाओं के विषय में प्राचीनग्रन्थों में स्फुट उल्लेख मिलते हैं। सम्भवत: उनका समन्वयात्मक निरूपण ज्ञानार्णव में हुआ है। इसमें बताया गया है कि ध्यान के लिए उपयुक्त स्थान, आसन, प्राणायाम तथा ध्यान विधि का ज्ञान आवश्यक है। इस शोध प्रबन्ध में ध्यान की बहिरंग प्रक्रिया का वर्णन ध्यान की सिद्धि में सहायक सामग्री एवं अष्टांग योग विवेचन नामक चौथे अध्याय में किया जा चुका है। अत: यहाँ पुन: उसका विवेचन नहीं किया जा रहा है। ध्यान की अन्तरंग प्रक्रिया के सम्बन्ध में आवश्यक अर्हताओं, ध्यानविषयक ध्येय एवं ध्याता आदि से सम्बन्धित जिन विषयों की अपुनरुक्तता होगी वे ही यहाँ निरूपित की जाएंगीं।

ध्यान की सिद्धि के लिए योगी को अपने चित्त का दुर्ध्यान, वचन का असंयम एवं काय की चपलता का निरोध करना चाहिए[2] और अपने समस्त दोषों से रहित होकर चित्त को स्थिर करना चाहिए।[3] आचार्य वट्टकेर ने ध्यान की सिद्धि के लिए निद्रा विजय का भी निर्देश किया है। वे लिखते हैं -. 'हे मुने ! निद्रा को जीतो, निश्चित ही निद्रा नर को अचेतन कर देती है क्योंकि सोया हुआ श्रमण सभी दोषों में प्रवर्तन करता है।'[4]

इसी तरह कषाय और आरम्भ के त्याग का निर्देश करते हुए लिखा है - 'यह ध्यानतप आरम्भ और कषाय को उसी प्रकार से सहन नहीं करता जिस प्रकार से नेत्र और लवण समुद्र निश्चित ही कचरे को सहन नहीं करते।'[5]

संसार के दु:खों से डरकर वैराग्य प्राप्त होना, मन का स्थिर होना, एकान्त स्थान में निवास करना और अनेक प्रकार के उपसर्गों को सहन करने की शक्ति होना ये सब मुनियों के ध्यान के साधन हैं।[6]

1. ज्ञानार्णव, 23/15-18.
2. योगसार, 163.
3. वृहद्द्रव्यसंग्रह, गाथा 48.
4. मूलाचार, गाथा 974.
5. वही, गाथा 979.
6. प्रबोधसार, 191.

वस्तुत: ध्यान, व्रत, जप आदि सभी आचार बिना निर्मल चित्त के करने से कोई लाभ नहीं है। क्योंकि मन की शुद्धि ही यथार्थ शुद्धि है।

मन की शुद्धि के बिना व्रतों का अनुष्ठान करना वृथा कायक्लेश है। इसके लिए इन्द्रियों का विषयों का निरोध आवश्यक है। और जब तक इन्द्रियों पर जय नहीं होती, तब तक कषायों पर जय नहीं होती। अत: ध्यान की शुद्धता या सिद्धि ही कर्मसमूह को नष्ट करती है। और आत्मा का ध्यान शरीर स्थित आत्मा के स्वरूप को जानने में समर्थ होता है।[1] क्योंकि ध्यान ही जहाँ सब अतिचारों का प्रतिक्रमण है।[2] वहाँ आत्मज्ञान की प्राप्ति से कर्मक्षय तथा कर्मक्षय से मोक्ष की प्राप्ति होती है।[3] ध्यातव्य है कि ध्यान द्वारा शुभ-अशुभ दोनों ही प्राप्ति संभव है अर्थात् इसमें चिन्तामणि की भी प्राप्ति होती है और खलों के टुकडे भी प्राप्त होते हैं।[4] इस प्रकार ध्यानसिद्धि की दृष्टि से बाह्य साधनों के निरोध के साथ स्ववृत्ति[5] तथा साम्यभाव का होना अनिवार्य है। जबकि साधक को आत्मा के अतिरिक्त और कुछ नहीं दिखाई देता।[6] अगर साधक को सांसारिक चिन्ताओं का ध्यान अनायास हो जाये तो उन व्यापारों को अन्तर्मुख करके गुरु अथवा भगवान् का स्मरण करते हुये निर्जन स्थान में सर्वप्रकार की कायचेष्टाओं से रहित होकर सुखासन से बैठना चाहिये, क्योंकि इससे भी ध्यान में स्थिरता आती है।[7]

जैसा कि आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने आत्मध्यान प्रक्रिया को ज्ञापित करने हुये लिखा है। मन की एकाग्रता से इन्द्रियों को वश में कर ध्वस्त या नष्ट कर दी है। स्वच्छन्दवृत्ति जिसने ऐसा पुरुष अपने में ही स्थित आत्मा को अपने ही द्वारा ध्यावे।[8]

श्रीकुन्दकुन्द आचार्य ने आत्मध्यान की विधि का प्रतिपादन करते हुए लिखा है - मुनि सब कषायों अर्थात् गारव, मद, राग, द्वेष तथा मोह को छोड़कर और लोकव्यवहार से विरक्त होकर ध्यान में स्थित हुआ आत्मा का ध्यान करता है। आगे योगों की चर्या का निर्देश करते हुए लिखा है कि पाँच महाव्रतों से युक्त हो तथा पाँच समितियों व तीन गुप्तियों से युक्त हो रत्नत्रय से संयुक्त हो हे मुनिजन ! तुम सदा ध्यान अध्ययन करो।

मन, वचन, काय से वर्षा, शीत और उष्ण इन तीन काल योगों को धारण कर माया, मिथ्या और निदान इन तीन शल्यों से रहित होकर सम्यग्दर्श, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से मंडित होकर और दो दोष अर्थात् रागद्वेष से रहित होता हुआ योगी ध्यानी मुनि सर्व कर्म रहित परमात्मा का ध्यान करता है।[9]

1. योगप्रदीप, 16.
2. नियमसार, गाथा 93.
3. योगशास्त्र, 4/113.
4. इष्टोपदेश, 20.
5. तत्त्वार्थराजवार्तिक, पृ. 626.
6. तत्त्वानुशासन, 172.
7. योगशतक, 59-60.
8. इष्टोपदेश, 22.
9. मोक्षपाहुड, गाथा 27, 33, 44

जो देव गुरु का भक्त है तथा साधर्मी मुनियों में अनुरागयुक्त होता है और सम्यक्त्व को धारण करता है वह योगी ध्यान में रत होता है। आहार, आसन, निद्रा इनको जीतकर और जिनवर के मत से तथा गुरु के प्रसाद से जानकर निज आत्मा का ध्यान करना चाहिए। आत्मा चारित्रवान् और दर्शन-ज्ञान सहित है ऐसा आत्मा गुरु के प्रसाद से जानकर नित्य ध्यान करना चाहिए। जब तक मनुष्य इन्द्रियों के विषयों में प्रवर्तता है तब तक आत्मा को नहीं जानता इसलिए योगी ध्यानी मुनि विषयों से विरक्त चित्त होता हुआ आत्मा को जानता है।[1]

ध्यान की अन्तरंग प्रक्रिया -

ध्यान के कारणभूत कषायनिग्रह, इन्द्रियविजय, मनोविजय, साम्यभाव का आलम्बन, रागद्वेष का निरोध, वैराग्य की कारणभूत अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन ये सब ध्यान की आन्तरिक प्रक्रिया में सम्मिलित हैं।

कषायनिग्रह -कषायनिन्दा प्रकरण में आचार्य शुभचन्द्र ने पूरे बारह श्लोकों में कषाय से होने वाली हानियों को दर्शाया है। वहाँ लिखा है कि - 'क्रोध रूपी अग्नि प्रकट होने पर सम्यग्दर्शन आदि आत्मिक गुणों को जला देती है। क्रोध के कारण मुनिजन भी दुर्गति के पात्र होते हैं, अन्य साधारण जन के विषय में क्या कहा जाय। शान्त भाव का अवलम्बन कर जिनागम का अवगाहन करना ही क्रोध कषाय को जीतने का एक मात्र उपाय है।'[2]

आगे क्रोध कषाय को जीतने के लिए कुछ भाने योग्य भावनाओं का विवेचन किया गया है। उनमें कुछ मुख्य हैं -

'तत्त्वज्ञानी मुनि ऐसा विचारकर क्रोधादि रूप परिणमन नहीं करते कि यदि क्रोधादि से मेरा भी मन बिगड़ जाएगा, तो फिर अज्ञानी तथा मुझ तत्त्वज्ञानी में विशेष भेद ही क्या रहा, मैं भी अज्ञानियों के समान हुआ। प्रतिकूल कारण उपस्थित होने पर ज्ञानी विचार करता है, कि हे आत्मन्! तूने पूर्व जन्म में जो असाता कर्म बाँधा था, उसी का फल यह दुर्वचनादिक रूप है। अत: इनको उपायरहित समझकर आगामी दु:ख की शान्ति के लिए स्वस्थचित्त से सहनकर।'[3]

प्रशम भाव की मर्यादा का उल्लंघन न करने का उपदेश देते हुए कहा है - 'मैं प्रशम भाव की मर्यादा का उल्लंघन करके वध-बन्धनादि करने वाले शत्रु पर क्रोध करूँगा तो इस ज्ञान रूप नेत्र का उपयोग कौन-से काल में होगा।'[4]

---

1. मोक्षपाहुड, गाथा 52, 63-6.
2. ज्ञानार्णव, 19/1-2, 7.
3. वही, 19/18, 22.
4. वही, 19/28.

जीवों के चिरकाल से अभ्यास किये हुए शम भाव और शस्त्र चलाने का अभ्यास काम पड़ने पर व्यर्थ हो जाए तो उस शमभाव व शस्त्रविद्या सिखाने से क्या फल है।

यदि मुनियों को कोई दुष्ट दुर्वचनादि उपसर्ग करे तो वह इस प्रकार विचार करते हैं - 'कि यदि वह दुर्वचनादि कहने वाला मुझे पापों से भय उत्पन्न नहीं करे तो मैं शान्त भाव के लिए अधिक प्रयत्न नहीं करूँ, इस कारण इसने मुझे सावधान किया है कि मैंने पूर्वकाल में जो क्रोधादि पाप किये थे उनका यह उपसर्ग फल है, अत: मुझे यह बड़ा भारी लाभ हुआ। इस प्रकार के विचार में आरूढ़ होकर साधक निश्चल रहते हैं। इत्यादि प्रशस्त भावनाओं के विचार द्वारा साधक क्रोधादि कषायों को जीतता है। उपसर्गादिक क्रोध के निमित्त मिलने पर जो मुनिराज क्रोध नहीं करते, किन्तु क्षमा ही धारण करते हैं, उनके अनेक विध प्रशस्त ध्यान होता है।'[1]

जहाँ क्रोध कषाय से परिणामों में प्रकट, शीघ्र एवं चिरकालीन प्रदूषण पैदा होता है, वहीं मान कषाय के द्वारा भी चित्त की स्थिरता भंग की जाती है। इसलिए ग्रन्थकार ने इसकी भी हेयता दिखलाते हुए लिखा है -

'मान से मनुष्यों के विवेक रूप निर्मल नेत्र से भेदविज्ञानमय दृष्टि लुप्त हो जाती है, वे शील रूपी पर्वत के शिखर से पतित हो जाते हैं। अभिप्राय यह है कि मानी पुरुष पर्वत में शील तथा विवेक टिका नहीं रहता है।'[2]

'मानी पुरुष गर्व से विनयाचार का उल्लंघन करता है और पूज्य गुरुओं की परिपाटी को छोड़कर स्वेच्छाचार से प्रवर्तने लग जाता है। जिनकी बुद्धि कुल, जाति और प्रभुता आदि के मद के मोह से नष्ट हो चुकी है वे शीघ्र ही नीचगति के कारणभूत कर्मों का संचय करते हैं।'[3]

इसी तरह माया एवं लोभ कषाय के भी निग्रह करने का कुशलतापूर्वक विवेचन किया गया है। लोभ कषाय के दोषों का वर्णन करते हुए जो लिखा है, उसका संवरण कर पाना शक्य नहीं -

'लोभ बड़ा अनर्थकारी है। उसके वश हुआ मनुष्य अपने स्वामी, गुरु, बन्धु वृद्ध, स्त्री, बालक, रोग, आदि से जीर्ण दुर्बल, दीन आदि की निशंक होकर हत्या कर डालता है और उनका धन अपने अधिकार में कर लेता है।'[4]

कषायनिग्रह के उपाय - *आचार्य शुभचन्द्र की दृष्टि से कषायों के निग्रह के*

1. ज्ञानार्णव, 19/31.
2. वही, 19/51.
3. वही, 19/52.
4. ज्ञानार्णव 19/70.

उपायों में जो सूत्र प्रदर्शित किये गए हैं, उनमें कतिपय निम्न हैं - 'हे आत्मन्! तेरे जिस-जिस पदार्थ में क्रोधादिक शत्रु उत्पन्न होते हैं वही-वही वस्तु उन क्रोधादि की शान्ति के लिए त्याग देनी चाहिए।'[1]

आचार्य शुभचन्द्र के समान ही ध्यान के मर्मज्ञ अन्य जैनाचार्यों ने भी इस सन्दर्भ में कहा है कि - 'क्रोध, मान, माया, लोभ इन चार कषायों को क्रमशः क्षमा, मार्दव, आर्जव और लाघव से जीता जा सकता है।'[2]

परमात्मप्रकाश में कषायों के निग्रह का उपाय 'सिद्ध परमेष्ठी का मन में ध्यान करना' बतलाया गया है।[3]

योग के प्रख्यात आचार्य हेमचन्द्रसूरि की दृष्टि से अन्ततः स्वयं के ही ध्यान का सुझाव दिया गया है और उससे कषायों के निग्रह की भी बात स्पष्ट की गई है। यथा - 'आत्मस्वरूप के चिन्तन से भी कषायों का शमन हो जाता है। जो निर्मल आत्मा का आत्मा के द्वारा ध्यान करता है, वह कषायों का जय करता है।'[4]

इस प्रकार कषायों के जय करने का लगभग सभी परम्पराओं में कथन किया गया है।

द्वादशानुप्रेक्षा - जाने हुए अर्थ का मन में अभ्यास करना[5] अथवा वैराग्य की वृद्धि के लिए शरीरादि के स्वभाव का पुनः-पुनः चिन्तन करना अनुप्रेक्षा है।[6] अनुप्रेक्षा का सामान्य अर्थ गहनचिन्तन करना भी है, जिसका अपरनाम 'भावना' है। इसलिए बारह भावना के रूप में प्रसिद्ध वैराग्यवर्धक चिन्तनविशेष ही द्वादशानुप्रेक्षा है।

आचार्य शुभचन्द्र एवं हेमचन्द्र के मतानुसार समत्व के उपायभूत निर्ममत्व को जाग्रत करने के लिए भावशुद्धि होनी आवश्यक है। अतः आत्म-परिणामों को विशुद्ध रखने के लिए वीतराग प्ररूपित भावनाओं का चिन्तन करना चाहिए।[7] जिस प्रकार महावत उपद्रव से रक्षा करने के लिए बलवान् हाथी को आलानस्तम्भ (हाथी को बाँधने का खम्भा) से बांध कर रखता है। उसी प्रकार मुनिजन विषयों आदि से मन का संरक्षण करने तथा धर्मानुराग की वृद्धि हेतु भावनाओं को मन में बाँधकर रखते हैं। अर्थात् मन से निरन्तर उनका चिन्तन करते हैं।[8] आचार्य शुभचन्द्र ने अनित्यादि बारह भावनाओं को मोक्ष रूपी प्रासाद की सोपान पंक्ति के समान मानते हुए इनकी प्रशंसा की है।[9]

1. वही, 19/73.
2. भगवती आराधना, गाथा 260.
3. परमात्मप्रकाश, गाथा 2/184.
4. योगशास्त्र, 5/7.
5. सर्वार्थसिद्धि, पृ.339.
6. मूलाचार 8/73.
7. ज्ञानार्णव, 2/4,5. योगशास्त्र, 4/55.
8. ज्ञानार्णव, 2/6.
9. वही, 2/7.

द्वादश भावनाओं का स्वरूप -

1. अनित्य भावना - तीनों लोकों में विद्यमान चेतन व अचेतन पदार्थ अनित्य हैं। इस भावना में इस बात पर बल दिया है कि सांसारिक वैभव विनश्वर है। यह शरीर, इन्द्रिय-विषय तथा भोगोपभोग के जितने भी साधन हैं वे सब जल के बुद्बुदे के समान क्षणिक और वियुक्त होने वाले हैं। जैसे रात्रि में पक्षी विभिन्न स्थानों से आकर किसी वृक्ष पर बसेरा लेते हैं और प्रातःकाल होते ही यथास्थान चले जाते हैं। वैसे ही आयु के क्षीण होने पर सब सांसारिक वैभव यहीं छोड़ अपने-अपने कर्मों के अनुसार विभिन्न योनियों में उत्पन्न होना पड़ता है। जगत् की इस अनित्य अवस्था का चिन्तन करना ही अनित्य भावना है। इसके भाने से भव्यों के शरीरादिक में आसक्ति का अभाव होने से भोगकर छूटे हुए गन्ध और माला आदि के समान वियोग काल में भी सन्ताप नहीं होता।[1]

2. अशरण भावना - इस भावना में यह चिन्तन किया गया है कि मृत्यु के उपस्थित होने पर कोई शरण नहीं है। जैसे सिंह के पंजे से हिरण को कोई बचा नहीं सकता। यमराज पाताल, ब्रह्मलोक, इन्द्रभवन, समुद्रतट, वन-पर्वत आदि सभी स्थानों पर पहुँच जाता है तथा प्राणी को ग्रसित कर लेता है।[2] इस अनुप्रेक्षा के चिन्तन से संसार के प्रति ममत्व भाव दूर होकर एकमात्र धर्म की शरण के प्रति अपूर्व आस्था उत्पन्न होती है।[3]

3. संसार भावना - चतुर्गति रूप संसार में कहीं भी सुख नहीं है। यह आत्मा अनेकानेक योनियों में सभी जीवों के साथ सभी तरह के सम्बन्ध स्थापित कर चुका है। जन्म-मरण करता रहता है, यही संसार है।[4] इस भावना के चिन्तन से यह जीव संसार से भयभीत होकर उसके नाश की ओर प्रयत्नशील रहता है।[5]

4. एकत्व भावना - संयोग-वियोग, सुख-दुःख के समय इस जीवात्मा का कोई भी मित्र नहीं हो सकता। आत्मा अकेला आया और अकेला ही जाएगा मैं स्वयं ही अपने अच्छे-बुरे कर्मों का फल पाता हूँ। इस तरह एकत्व का चिन्तन करना एकत्वानुप्रेक्षा है।[6] इस भावना के चिन्तन से कामभोग में, शिष्यादि के समूह या संघ में, शरीर अथवा सुख में आसक्ति नहीं होती अपितु वैराग्य से मन को रमाये हुए सर्वोत्कृष्ट चारित्र धर्म को धारण किये रहता है।[7]

5. अन्यत्व भावना - इसमें चिन्तनक्रम यों बनता है कि आत्मा शरीर से भिन्न है, किन्तु अज्ञान के कारण सांसारिक प्राणी इस तथ्य को सरलतया समझ नहीं पाते।

1. सर्वार्थसिद्धि, 9/7., कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 22 आदि
2. ज्ञानार्णव, 2/48-66.
3. भगवती आराधना, गाथा 1746.
4. ज्ञानार्णव, 2/67-83.
5. सर्वार्थसिद्धि, 9/7. पृ. 317
6. ज्ञानार्णव, 2/84-93.
7. भगवती आराधना, गाथा 202.

जहाँ शरीर की आत्मा के साथ एकता नहीं है तो अन्य बन्धुजनों के साथ तो हो कैसे सकती है ?[1] लोग एक दूसरे के विषय में शोक करते हैं, अपने विषय में नहीं करते कि 'मैं संसार समुद्र में डूब रहा हूँ।' इस तरह का चिन्तन अन्यत्वानुप्रेक्षा है।[2] इस भावना को भाने से शरीरादिक में स्पृहा उत्पन्न नहीं होती है और इससे तत्त्वज्ञान की भावनापूर्वक वैराग्य का प्रकर्ष होने पर आत्यन्तिक मोक्ष सुख की प्राप्ति होती है।[3]

6. अशुचि भावना – इस भावना का अभिप्राय यह है कि यह शरीर अशुचि या अपवित्रता का भण्डार है। अशुचि से ही उत्पन्न है, अत: पवित्र हो भी कैसे सकता है। यह शरीर क्षण में विनष्ट होने वाला तथा भोजन, पानी आदि के कारण पराधीन भी है। जब तक शरीर है तब तक दु:ख है, इस शरीर के सम्पर्क में आने से सुगन्धित कर्पूर, केशर, अगर, कस्तूरी आदि पदार्थ भी अशुद्ध हो जाते हैं। अत: शरीर को अशुचिमय समझकर आत्मा में रमण करना चाहिए।[4] इस तरह के चिन्तन से शरीर के प्रति निर्वेद हो जाने से जीव मुक्ति प्राप्ति में चित्त लगाता है।[5]

7. आस्रव भावना – मन, वचन तथा काय की प्रवृत्ति से जो आत्म प्रदेशों में परिस्पन्द होता है उसे योग कहते हैं। इन योगों से कर्मों का आगमन होता है, इसी का नाम आस्रव है।[6] जैसे नौका में छेद हो जाने पर उसमें पानी भर जाता है और वह समुद्र में डूब जाती है, वैसे ही यह आत्मा निश्चय ही कर्मों का आस्रव होने से विनाश को प्राप्त हुआ चारों गति रूपी समुद्र में डूबा रहता है।[7]

इस चिन्तन से जीव के क्षमादि धर्म में कल्याण बुद्धि का त्याग नहीं होता। कछुए के समान जिसने अपनी आत्मा को संवृत कर लिया है, उसके आस्रवदोष नहीं होते हैं।[8]

8. संवर भावना – आस्रव का निरोध संवर है।[9] आत्मा आस्रव के कारण ही नवीन कर्म बन्ध करती है। संवर रूप होने पर नवीन कर्म अवरुद्ध हो जाते हैं। आचार्य शुभचन्द्र संवर को एक विशाल वृक्ष बतलाते हुए लिखते हैं कि जिसके समितियों रूपी जड़ें, संयम रूपी स्कन्ध, कषायों की उपशान्ति रूपी विविध शाखाएँ, समाधि रूपी उत्तम पुष्प और अनित्यादि भावनाएँ रूपी मधुर फल हैं।[10] संवर और समाधि से युक्त होकर

1. ज्ञानार्णव, 2/94-105
2. मूलाचार, 8/10-11.
3. सर्वार्थसिद्धि, पृ. 326.
4. ज्ञानार्णव, 2/106-118
5. सर्वार्थसिद्धि, 9/7. पृ. 317.
6. ज्ञानार्णव, 2/119-127.
7. मूलाचार, 8/37-45.
8. सर्वार्थसिद्धि, 9/7. पृ. 318.
9. तत्त्वार्थसूत्र 9/1.
10. ज्ञानार्णव, 2/128-139.

विशुद्धात्मापूर्वक नित्य संवर का चिन्तन करने से जीव में संवर के प्रति निरन्तर उद्यतता तथा संवर के कारणों में आस्था बनी रहने से मोक्ष फल की प्राप्ति होती है।[1]

9. निर्जरा भावना – जिससे संसार के कारण रूप कर्म नष्ट हो जाते हैं, उसे *निर्जरा कहा जाता है। संयमी जैसे-जैसे तप करता जाता है, वैसे-वैसे कर्म निर्जरा होती* जाती है, कर्म निर्जीर्ण होते जाते हैं, पूर्वसंचित कर्म कटते जाते हैं। नवीनकर्मों का बन्ध नहीं होता, तब मोक्ष की उपलब्धि होती है। इस प्रकार निर्जरानुप्रेक्षा द्वारा निर्जरा के गुण दोषों का विचार किया जाता है।[2] ऐसा विचार करने से जीव की प्रवृत्ति तपश्चर्या की ओर होती है।[3]

10. धर्म भावना – इस भावना में धर्म के स्वरूप तथा महत्त्व का प्रतिपादन होता है। समस्त सुख धर्म से ही उपलब्ध होते हैं। धर्म हमेशा परिरक्षण करता है, अनिष्ट से बचाता है, उससे दूर रखता है तथा शाश्वत मोक्षसुख की प्राप्ति कराता है।[4] विहित धर्मों के पालन से ही कर्मों की निर्जरा होती है। इसी से दया, क्षमा आदि धर्मों का उदय होता है। इन्हीं धर्मों का चिन्तन करना धर्मानुप्रेक्षा है।[5] इस प्रकार चिन्तन करने से जीव का धर्म में अनुराग बढ़ता है।[6]

11. लोक भावना – जहाँ जीवादि द्रव्य रहते हैं उसे लोकाकाश कहते हैं। लोक स्वयं स्थित तथा आदि-अन्त से रहित है। लोक के नीचे का भाग बेंत के समान, मध्य का झालर जैसा एवं ऊपर का भाग मृदंग समान है। इस लोक में प्राणी कर्मों के कारण जन्म-मरण करता रहता है। लोक भावना में लोक के स्वरूप का चिन्तन किया जाता है।[7] इस भावना के चिन्तन से तत्त्वज्ञान में विशुद्धि होती है।[8]

12. बोधिदुर्लभ भावना – सम्यग्दर्शन, ज्ञान एवं चारित्र रूप रत्नत्रय को बोधि कहा जाता है। बोधि की प्राप्ति बहुत दुर्लभ है। पहले तो प्राणी का नरक, निगोद और तिर्यञ्च से निकलकर मनुष्य जीवन में आना ही कठिन है। मनुष्य बनने के बाद भी पूर्णायु, सर्व इन्द्रियों की परिपूर्णता व उत्तम बुद्धि मिलना कठिन है। इन सबके मिलने पर भी आत्म स्वरूप का निश्चय होना बहुत कठिन है। ऐसा चिन्तन इस भावना में किया जाता है।[9] इससे जीव बोधि को प्राप्त करने में कभी भी प्रमाद नहीं करता है।[10]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जीवन की वास्तविकता को समझने के लिए

1. सर्वार्थसिद्धि, 9/7.
2. ज्ञानार्णव, 2/140-8.
3. मूलाचार, 8/59.
4. ज्ञानार्णव, 2/149-170.
5. योगशास्त्र, 4/92-3.
6. सर्वार्थसिद्धि, 9/7.
7. ज्ञानार्णव, 2/171-7.
8. मूलाचार, 8/30-6.
9. ज्ञानार्णव, 2/178-190.
10. सर्वार्थसिद्धि, 9/7, पृ. 319.

साधक हर पहलू से अपने आपको परखता है, जो आवश्यक है। जब वह स्वत्व को केन्द्र मानकर परीक्षण करता है, तो सबसे पहले उसके मन में यही भाव उद्दित होता है कि.'मैं अकेला हूँ, मेरा कोई नहीं है।' यह चिन्तन आत्मस्वरूप प्रत्यायक है, जो साधक को प्रेरित करता है कि वह सबसे पहले सबसे अधिक स्व की, अपने आपकी चिन्ता करे। जिसे जगत् में प्राय: गौण माना जाता है।

इन बारह भावनाओं से जिसका मन निरन्तर भावित रहता है, वह सभी भावों पर ममता रहित होकर समभाव का अवलम्बन लेता है।[1] जब जीव समताभाव से युक्त हो जाता है, तब जीव के समस्त कषाय नष्ट हो जाती हैं। कषाय रूपी अग्नि के विलीन हो जाने से ज्ञान रूपी दीपक विकसित हो जाता है अत: जीव को निराकुल, अविनश्वर, अतीन्द्रिय सुख प्रदान करने वाली इन भावनाओं का चिन्तन अवश्य करना चाहिए।[2]

जैन परम्परा में वर्णित द्वादश अनुप्रेक्षाओं/भावनाओं के समकक्ष पातञ्जलयोगसूत्र में यम-नियम की प्रतिपक्षी विघ्न (विरोधी) भावनाओं का अवलम्बन लेने की चर्चा मिलती है।[3] विशेषता इतनी है कि पतञ्जलि ने भावनाओं के नाम व संख्या आदि का निरूपण नहीं किया, जबकि जैनयोग-साधना में इन्हें विशिष्ट स्थान प्रदान किया गया है।

जैन परम्परा के सदृश पातञ्जला योगदर्शन में भी भावना और जीव का घनिष्ट सम्बन्ध दर्शाया गया है। उसके अनुसार भावनाओं का चिन्तन करने से आत्मशुद्धि होती है, चित्त प्रसन्न रहता है।[4] चित्त के स्थिर रहने से बुद्धि स्थिर रहती है और चित्त की एकाग्रता बनी रहती है।[5] इसलिए वहाँ ईश्वर का बार-बार जप करने का विधान प्रस्तुत किया गया है।[6] वहाँ कहा गया है कि -'जप के पश्चात् ईश्वर की भावना करनी चाहिए और ईश्वर भावना के पश्चात् पुन: जप, इस प्रकार बार-बार आवृत्ति करते रहने से परमात्मा का साक्षात्कार होता है।'[7]

इन्द्रियनिग्रह - भारतीय दर्शन के निवृत्ति मार्ग में इन्द्रियों को वश में करने का महत्त्वपूर्ण स्थान है। क्योंकि इन्द्रियनिग्रह के बिना ध्यान की कल्पना भी नहीं की जा सकती है।

इन्द्रियविजय के उपायों का वर्णन करते हुए आचार्य शुभचन्द्र ने ज्ञानार्णव में लिखा है - 'हे धीर-वीर पुरुष! स्वतन्त्रता से विकार को करने वाली इन दुर्दम इन्द्रिय रूपी हस्तियों को शीलरूपी शाल के वृक्ष में विज्ञान रूपी रस्से से दृढता से बाँध। क्योंकि

1. योगशास्त्र, 4/100. 2. ज्ञानार्णव, 2/192. योगशास्त्र, 4/11.
3. वही, 2/191. 4. पातञ्जलयोगसूत्र, 2/33.
5. व्यासभाष्य, पृ. 113. 6. वही, पृ. 95-6.
7. वही, पृ. 95-6.

शील ही अर्थात् ब्रह्मचर्य और विज्ञान ही इनके वश करने का एकमात्र उपाय है।'[1]

योगीजन इन्द्रिय रूप भयानक सर्पराज के तेजपूर्ण गर्व को शान्त करने के लिए वीर जिनेन्द्र के द्वारा उपदिष्ट सर्वश्रेष्ठ वर्ण (ॐ) का स्मरण किया करते हैं।[2] इन्द्रिय निग्रह करने का उपाय मन की एकाग्रता भी है।[3]

चारित्तपाहुड में कहा गया है कि 'मनोज्ञ और अमनोज्ञ जीव-अजीव पदार्थों में राग-द्वेष न करने से स्पर्शन आदि इन्द्रियों का निरोध हो जाता है।'[4]

तत्त्वानुशासन में भी ज्ञान और वैराग्य को इन्द्रियों को जीतने का उपाय निरूपित किया गया है।[5]

जीवों की इन्द्रियाँ जैसे-जैसे वश होती हैं, वैसे-वैसे उनके हृदय में विज्ञान रूपी सूर्य उच्चता से प्रकाशमान होता है।

जिस प्रकार जीवों का चित्त विषयसेवन में निराकुल रूप तल्लीन होता है, उसी प्रकार यदि आत्मतत्त्व में लीन हो जाय तो ऐसी कौन-सी बाधा है, जिससे मोक्ष प्राप्त न हो ?[6]

इन्द्रियजनित सुख का स्वरूप और उनका फल - आचार्य शुभचन्द्र की दृष्टि से इन्द्रिय सुख विनाशीक एवं उनका फल दुखदायी ही है। वे कहते हैं - 'इन्द्रियजनित सुख को अतृप्ति को उत्पन्न करने वाला कहा गया है, क्योंकि जैसे-जैसे वह सेवन किया जाता है वैसे-वैसे भोगलालसा बढ़ती जाती है तथा यह इन्द्रियजनित सुख मोह रूपी दावानल की वृद्धि के लिए ईन्धन के समान है। यह आगामी काल में दुःख की सन्तति का बीज है।'[7]

इन्द्रियविषयों के स्वरूप के विषय में आचार्य पूज्यपाद ने कितनी सटीक टिप्पणी की है - 'ये इन्द्रियविषय आरम्भ में सन्ताप के कारण और प्राप्त होने पर अतृप्ति के करने वाले तथा अन्त में जो बड़ी मुश्किलों से भी छोड़े नहीं जा सकते, ऐसे भोगोपभोगों को कौन विद्वान् - समझदार आसक्ति के साथ सेवन करेगा।'[8]

इन्द्रियविषयों का फल दिखाते हुए आचार्य शुभचन्द्र लिखते हैं - 'इन्द्रियों के विषय से उत्पन्न हुआ सुख नरक का तो सोपान है और उस नरक के मार्ग में जाने के लिए पाथेय (नाश्ता) भी यही है। तथा मोक्ष नगर के द्वार बन्द करने वाला दृढ़ कपाट (किवाड़ों

1. ज्ञानार्णव, 20/6.
2. वही, 20/7.
3. योगसार, 4/34.
4. चारित्तपाहुड, गाथा 29.
5. तत्त्वानुशासन, 77.
6. ज्ञानार्णव, 20/11.
7. वही, 20/13.
8. इष्टोपदेश, 17.

की जोड़ी) है। यह सुख विघ्नों का बीज है। विपत्ति का मूल, पराधीन, भय का स्थान तथा इन्द्रियों से ही ग्रहण करने योग्य है। किसी कारण से द्रव्येन्द्रियों में खराबी आ जाय तो फिर विषय ग्रहण की योग्यता नहीं रहती।

जिनका आत्मा इन इन्द्रियविषयों में ठगा गया है अर्थात् विषयों में मग्न हो गया है उनकी विषयेच्छा तो बढ़ जाती है और सन्तोष नष्ट हो जाता है तथा विवेक भी विलीन हो जाता है।'[1]

इन्द्रियरोध और मनोरोध के बिना ध्यान करने वालों की व्यर्थता को ज्ञापित करते हुए ग्रन्थकार स्पष्ट लिखते हैं कि - 'जिन्होंने इन्द्रियों को कभी वश में नहीं किया, चित्त को जीतने का कभी अभ्यास नहीं किया और न कभी वैराग्य को प्राप्त हुए तथा न कभी आत्मा को दुःखी ही समझा और वृथा ही मोक्ष प्राप्ति के लिए ध्यान साधना में प्रवृत्त हो गए, उन्होंने अपनी आत्मा को ठग लिया और वे इस लोक तथा परलोक दोनों से ही भ्रष्ट हो गए।'[2]

इन्द्रियविषयों के प्राप्ति आसक्ति का फल बतलाते हुए आचार्य शुभचन्द्र ने स्पष्ट किया है - 'रसना के वश मत्स्य अपने गले को छिदाकर मृत्यु को प्राप्त होती है। स्पर्शन इन्द्रिय के वशीभूत हो गड्ढे में बाँधे गए कृत्रिम हथिनी के चित्र से हाथी बँधन को प्राप्त होता है तथा नेत्र इन्द्रिय के विषय दोष से पतंगा दीपक की ज्वाला में जलकर मरण को प्राप्त होता है। जबकि भ्रमर नासिका इन्द्रिय के वशीभूत होकर सुगन्ध से मुग्ध हो नाश को प्राप्त होता है। इसी प्रकार हरिण भी गीत के लोलुप हो कर्ण इन्द्रिय के विषय से काल रूप सर्प के द्वारा मारे गए हैं। ऐसे एक-एक इन्द्रिय विषय से उक्त जीव नष्ट होते दीखते हैं, किन्तु संसारी जीवों की तो सभी इन्द्रिय विषयों में प्रीति होती है, यह बडा खेद अथवा आश्चर्य का विषय है।'[3]

अन्त में इन्द्रिय संयम की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि - 'जिस प्रकार कछुआ अपने अंगों को संकोचता है उसी प्रकार जो संयमी मुनि इन्द्रियों के सेना समूह को संवर रूप करता है अर्थात् संकोचता वा वशीभूत करता है वही मुनि दोष रूपी कर्दम से भरे इस संसार में विचरता हुआ भी दोषों से लिप्त नहीं होता है। जिस मुनि का मन इन्द्रियों के विषयों से किञ्चिन्मात्र भी कलंकित नहीं होता उस मुनि के दिव्य सिद्धियाँ बिना यत्न के उत्पन्न होती हैं।'[4]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि विषयकषायों पर विजय प्राप्त किये बिना पुरुष के प्रशस्त ध्यान की सिद्धि नहीं हो

1. ज्ञानार्णव, 20/14-5, 18.
2. वही, 20/21-2.
3. वही, 20/35.
4. ज्ञानार्णव, 20/37-8.

सकती। अत: ध्यान के इच्छुक पुरुषों को कषायों और इन्द्रियों को जीतने का पुरुषार्थ करना चाहिए।

मनोविजय अथवा मनोरोध – मुमुक्षु साधक का साधना करने का परम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति है। इसकी प्राप्ति ध्यान के द्वारा होती है और ध्यान की सफलता मन के व्यापार के निरोध होने पर ही निर्भर है। यदि मन का व्यापार नहीं रुका तो ध्यान की साधना असफल हो जाएगी। मनोरोध होने पर ही इन्द्रियों की प्रवृत्ति का निरोध हो सकता है। तत्त्वानुशासन आदि में कहा है कि – 'इन्द्रियों की प्रवृत्ति और निवृत्ति में मन ही प्रमुख होता है। अत: मन के जीतने पर ही साधक जितेन्द्रिय कहलाने के योग्य होता है।'[1]

जिसने मन का रोध किया उसने सब ही रोका अर्थात् जिसने अपने मन को वश में नहीं किया, उसका अन्य इन्द्रियादिक का रोकना भी व्यर्थ है। आचार्य शुभचन्द्र कहते हैं कि – 'हे भव्य आत्मन्! यदि तू कर्मरूपी दृढ़ बेड़ियों को काटने के लिए उद्यमी हुआ है तो उस मन को ही समस्त विकल्पों से रोककर शीघ्र ही अपने वश में कर।'[2]

मुनि के जैसे-जैसे मन की शुद्धता- साक्षात् होती जाती है, वैसे-वैसे विवेक अर्थात् भेदज्ञान रूप लक्ष्मी अपने हृदय में स्थिर पद को धारण करती है। अर्थात् मन की शुद्धता से उत्तरोत्तर विवेक बढ़ता है।[3]

इस मनोरोध करने से संसारी जीवों के ज्ञानावरण और संसार भ्रमण से उत्पन्न दोष नष्ट हो जाते हैं। मन के जीत लेने पर सभी अर्थों की सिद्धि और अभ्युदय की प्राप्ति होती है। इसके जीते बिना व्रत, नियम, तप, शास्त्राध्ययन, ज्ञान और कायक्लेश आदि निरर्थक हैं।[4]

मनोरोध के उपाय – नागसेन आचार्य ने तत्त्वानुशासन में मन के व्यापार को रोकने के दो उपाय बतलाए हैं - अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन और स्वाध्याय में नित्य उद्यमी होना।[5]

आचार्य हेमचन्द्र ने उदासीन भाव को मन को रोकने का उपाय बतलाया है। वे कहते हैं कि – 'मन की जिस विषय में प्रवृत्ति हो उसे उससे नहीं रोकना चाहिए। यदि उसे बलपूर्वक मोड़ा जाएगा तो मदोन्मत्त हाथी की तरह उन्मत्त होकर उसकी ओर ही प्रवृत्ति होगी और उसे नहीं रोकने से विषयों को प्राप्त कर शान्त हो जावेगा।'[4] स्वामी कार्तिकेय ने मन निरोध का उपाय अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन बतलाया है।[6]

1. तत्त्वानुशासन, 76.
2. ज्ञानार्णव, 22/9.
3. ज्ञानार्णव, 22/18.
4. वही, 20/20.
5. तत्त्वानुशासन, 79.
6. योगशास्त्र, 12/27-8.

मनोरोध का फल – इस जगत् में जो मुनि प्रशम, यम, समाधि, ध्यान विज्ञान अर्थात् भेदज्ञान के लिए तथा विनय व नय के स्वरूप की प्राप्ति के लिए, विवेक और उदार चारित्र की शुद्धि के लिए चित्तरूपी दुर्निवार सर्प को जीतते हैं वे योगियों के समूह द्वारा वन्दनीय हैं, और मुनियों में इन्द्र हैं।[1]

जब मन को अन्य विकल्प व विकारों से रहित करके आत्मस्वरूप में स्थिर करें तभी मोक्ष की प्राप्ति होती है।[2]

रागद्वेष का निरोध – प्रिय विषयों के प्रति प्रीति का होना राग कहलाता है।[3] और अप्रिय विषयों में अप्रीति भाव रखना द्वेष कहलाता है।[4] राग और द्वेष मोहस्वरूप ममकार और अहंकार से होता है। अर्थात् ममकार और अहंकार भाव से राग भी होता है और द्वेष भी।[5] जब किसी एक विषय के प्रति राग होता है तो दूसरे के प्रति द्वेष अवश्य उत्पन्न हो जाता है। अत: राग-द्वेष एक दूसरे के अविनाभावी है अर्थात् एक के होने पर दूसरे का होना आवश्यक है।[6]

ये रागादिक भाव मनुष्य को कभी तो मूढ करते हैं, कभी भ्रम रूप करते हैं, कभी भयभीत करते हैं, कभी आसक्त करते हैं, कभी शंकित करते हैं, कभी क्लेश रूप करते हैं, इत्यादि प्रकार से स्थिरता से डिगा देते हैं।[7]

रागद्वेष निरोध के उपाय – मोह के कारण ही रागद्वेष होते हैं इसलिए मोह को नष्ट करने का प्रयत्न करना चाहिए। आचार्य कुन्दकुन्द ने मोह-राग-द्वेष निरोध के निम्नांकित उपाय बताए हैं –

1. द्रव्य, गुण और पर्याय के द्वारा अरहंत भगवान् के स्वरूप को जानकर अपनी आत्मा के शुद्ध स्वरूप को भी उसी प्रकार जानने से मोह नष्ट हो जाता है।[8]

2. सर्वज्ञ उपदिष्ट जैनशास्त्रों का अध्ययन कर तत्त्वों का यथार्थ स्वरूप जानने से भी मोह नष्ट हो जाता है।[9]

हे आत्मन्! अपने मन को संक्लेश, भ्रांति और रागादिक विकारों से रहित करके अपने मन को वशीभूत कर तथा वस्तु के यथार्थ स्वरूप का अवलोकन कर।[10]

---

1. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 489.
2. ज्ञानार्णव, 22/35.
3. ज्ञानार्णव, 22/33.
4. प्रवचनसार, त. प्र. टीका, गाथा 85.
5. वही, गाथा 85.
6. तत्त्वानुशासन, 13.
7. ज्ञानार्णव, 23/25.
8. वही, 22/7.
9. प्रवचनसार, 1/80.
10. प्रवचनसार, 1/86.

जब मोहोदय से तपस्वी के रागद्वेष परिणाम उत्पन्न होते हैं, तब अपने निर्मल आत्म स्वरूप की भावना करे, ऐसा करने से रागद्वेष क्षणमात्र में प्रशान्त हो जाते हैं।[1]

पूर्वोक्त अर्थ का विचार करके हे धीर-वीर ! तू निश्चय से ज्ञान रूपी सूर्य के प्रकाश का आश्रय कर, क्योंकि जिसको प्राप्त होकर रागरूपी नदी सूख जाती है।[2] जिस प्रकार कटे हुए पंखों वाला पक्षी उड़ने में असमर्थ होता है, वैसे ही मन रूप पक्षी, राग-द्वेष रूपी पंखों के कट जाने से विकल्प रूप भ्रमण से रहित हो जाता है।[3]

साम्यभाव का स्वरूप एवं उसकी प्राप्ति का उपाय - इष्ट-अनिष्ट रूप सचित्त और अचित्त पदार्थों में मोह का नष्ट होना साम्यभाव कहलाता है। अथवा शरीर में आसक्त न रहना साम्यभाव है।[4]

आचार्य कुन्दकुन्द ने मोह और क्षोभ रहित आत्मा के परिणाम को साम्यभाव कहा है।[5] आचार्य शुभचन्द्र ने साम्य भाव प्राप्ति का प्रमुख कारण ध्यान बतलाया है। संयमी मुनि समभाव रूपी सूर्य की किरणों से रागादि तिमिर समूह के नष्ट होने पर परमात्मा का स्वरूप अपने में ही अवलोकन करता है।[6]

भेदविज्ञानी पुरुष है सो समभाव की सीमा का अवलम्बन करके तथा अपने में ही अपने आत्मा का निश्चय करके मिले हुए जीव और कर्म को पृथक्-पृथक् करता है।

आचार्य हेमचन्द्र कहते हैं कि 'निर्ममत्व से साम्यभाव होता है एवं अनुप्रेक्षाओं से निर्ममत्व की प्राप्ति बतलाई है।'[7]

साम्य की स्थिति के लिए आचार्य शुभचन्द्र का विचार है कि 'जिस समय यह आत्मा अपने आत्मा को औदारिक, तैजस और कार्मण इन तीन शरीरों से तथा रागद्वेष-मोह से रहित जानता है तब ही समभाव में स्थिति होती है। जिस योगीश्वर के समभाव है उसके ही अविचल सुख है और उसके ही अविनाशी पद और कर्म की निर्जरा है।'[8]

साम्यभाव यह ध्यान का अंग है। साम्य के बिना लौकिक प्रयोजनादिक के लिए जो ध्यान करते हैं वे व्यर्थ ही श्रम करते हैं। मोक्ष का साधन तो साम्यसहित ध्यान ही है।

ध्येय का स्वरूप व आलम्बन -

ध्यान करने योग्य वस्तु को ध्येय कहते हैं। वह ध्येय वस्तु चेतन और अचेतन के भेद से दो प्रकार की हो सकती है। अर्थात् सभी द्रव्य जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य युक्त हैं,

1. ज्ञानार्णव, 23/12.
2. समाधिशतक, 39.
3. ज्ञानार्णव, 23/22.
4. वही, 23/27.
5. वही, 24/2-3.
6. प्रवचनसार, 1/7.
7. ज्ञानार्णव, 24/5.
8. योगशास्त्र, 4/55-6.

सर्वथा नित्य व अनित्यता से रहित हैं, ध्येय होते हैं। इनमें पुद्गल मूर्तिक द्रव्य है और शेष अमूर्तिक। जीव जो कि अमूर्तिक द्रव्य हैं उसमें दो प्रकार से ध्येयता बनती है - एक तो कर्मरूप आवरण से युक्त सर्वज्ञदेव, जो कि सकल अर्थात् देहसहित हैं किन्तु कल्याण के पूरक अरहंत भगवान् हैं और दूसरे निरावरण व निष्कल अर्थात् शरीररहित सिद्ध भगवान्। ये जीवादिक षट्द्रव्य चेतन और अचेतन लक्षण से लक्षित हैं।

धर्मध्यान में बुद्धिमान् पुरुषों को इनके स्वरूप का अविरोधपूर्वक यथार्थ स्वरूप का ध्यान करना चाहिए। द्रव्यों का स्वरूप सम्यग्दर्शन के प्रकरण में विवेचित हो चुका है। ध्यान सदाकाल नहीं होता अत: ध्यान के निवृत्त होने के बाद बुद्धिमान पुरुष मन को सावधान रूप वैराग्य को प्राप्त कर करुणामयी समुद्र में मग्न करते हैं। आगे परमात्मा के ध्यान और स्वरूप का निर्देश करते हुए लिखा है कि - 'वह परमात्मा आकार-सहित शरीराकार मूर्तिक है तथा निर्गताकार अर्थात् निराकार है, निष्क्रिय (क्रिया रहित) परमात्मस्वरूप विकल्परहित, निष्कम्प, नित्य एवं आनन्द का घर है।

विश्वरूप अर्थात् समस्त ज्ञेयों के आकार जिसमें प्रतिबिम्बित हैं, अविज्ञात स्वरूप है अर्थात् जिसका स्वरूप मिथ्यादृष्टियों ने नहीं जाना है तथा सदाकाल उदय रूप है, कृतकृत्य है, जिसको कुछ भी करना शेष नहीं रहा है तथा शिव व कल्याणरूप है, शान्त (क्षोभरहित) निष्कल अर्थात् शरीररहित तथा करुणाच्युत, इन्द्रियरहित तथा समस्त भवों से उत्पन्न हुए क्लेशमय वृक्षों को दग्ध करने के लिए अग्नि के समान है तथा शुद्ध, कर्मरहित, अत्यन्त निर्लेप अर्थात् जिनके कर्म रूपी लेप नहीं है तथा ज्ञानरूपी राज्य में अर्थात् सर्वज्ञता में स्थित है। तथा निर्मल दर्पण में प्राप्त हुए प्रतिबिम्ब के समान प्रभावाला ज्योतिर्मय है अर्थात् जिसका ज्ञान प्रकाशरूप है, तथा अनन्त वीर्ययुक्त तथा परिपूर्ण है। जिसके कुछ भी अवयव (अंश) घटते नहीं, पुरातन है अर्थात् किसी ने नया बनाया नहीं। तथा निर्मल, सम्यक्त्वादि अष्टगुण सहित है, निर्द्वन्द्व, रागादिक से रहित, रोग रहित है, अप्रमेय अर्थात् जिसका प्रमाण नहीं किया जा सकता तथा परिज्ञात अर्थात् भेदज्ञानी पुरुषों के द्वारा जाना हुआ तथा समस्त तत्त्वों से व्यवस्थित अर्थात् निश्चय रूप है। तथा बाह्यभावों से तो ग्रहण करने योग्य नहीं है और अन्तरंग भावों से क्षणमात्र में ग्रहण करने योग्य है।

इस प्रकार आत्मा का स्वरूप संसार अवस्था में तो शक्तिरूप और मुक्त अवस्था में व्यक्ति रूप है, ऐसा जानकर परमात्मा को ध्यानगोचर करना चाहिए।'[1]

जो परमात्मा परमाणु से भी सूक्ष्म और आकाश से भी महान् है वह सिद्धात्मा जगत् से वंद्य निष्पन्न और अत्यन्त सुखमय है। जो वचनों के अगोचर है और अव्यक्त है, शब्द से वर्जित जन्मरहित (अज) तथा भवभ्रमण से रहित है, ऐसे परमात्मा का निर्विकल्प होकर चिन्तवन करें।[2]

1. ज्ञानार्णव, 24/16, 18 2. ज्ञानार्णव, 31/22-27.

आगे परमात्मा का ध्यान करने की विधि और फल का वर्णन करते हुए कहा गया है कि – 'ध्यानी मुनि उस परमात्मा के स्वरूप में मन लगाकर उसके ही गुणग्रामों से उसमें ही अपने आत्मा को आपसे ही उस स्वरूप की सिद्धि के लिए जोड़ता है अर्थात् तल्लीन होता है, इस प्रकार निरन्तर स्मरण करता हुआ योगी उस परमात्मा के स्वरूप के अवलम्बन से युक्त होकर उसके तन्मयत्व को प्राप्त होता है। वह परमात्मा मेरे ग्रहण करने योग्य है और मैं इसका ग्रहण करने वाला हूँ, ऐसे ग्राह्यग्राहक भाव से वर्जित होता है अर्थात् भेदभाव नहीं रहता।'[1]

वह ध्यान करने वाला मुनि अन्य सबकी शरण छोड़कर उस परमात्म स्वरूप में ऐसा लीन होता है कि ध्याता और ध्यान इन दोनों के भेद का अभाव होकर ध्येय स्वरूप से एकता को प्राप्त हो जाता है। जिस भाव में आत्मा अभिन्नता से परमात्मा में लीन होता है वह समरसी भाव आत्मा और परमात्मा की समानता स्वरूप भाव है सो उस परमात्मा और आत्मा को एक करने का स्वरूप कहा गया है।[2] अभिप्राय यह है कि जब जीव 'जो परमात्मा है वही मैं हूँ', इस प्रकार ध्याता और ध्येय के विकल्प को छोड़कर निर्विकल्प ध्यान में लीन होता है तब वह उसके प्रभाव से स्वयं, परमात्मा बन जाता है।

पूज्यपाद स्वामी ने इसी भाव को प्रकट करते हुए लिखा है – 'यह आत्मा भिन्न आत्मा स्वरूप अरिहंत और सिद्धों की उपासना अर्थात् आराधना करके उन्हीं के समान अरिहंत और सिद्ध बनता है, जिस प्रकार दीपक से भिन्न रहने वाली बत्ती दीपक की उपासना (समीपता को प्राप्त) कर दीप रूप बनती है। अथवा यह आत्मा अपने चिदानन्द स्वरूप आत्मा की ही आराधना कर परमात्मा हो जाता है। जैसे वृक्ष अपने को अपने द्वारा घर्षण कर अग्नि रूपता को प्राप्त होता है।'[3]

धर्म्यध्यान के अवलम्बन में वाचना, पृच्छना, परिवर्तन एवं अनुप्रेक्षा इन चारों को भी स्वीकार किया गया है।[4] इसके साथ जैनागमों में मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ जैसी भावनाओं को भी अवलम्बन स्वरूप कहा गया है।[5] इन भावनाओं का किञ्चित् विवेचन कर लेना उपयुक्त होगा।

मैत्री – जिस साधक में मैत्री भावना होती है वह सभी जीवों को समान भाव से देखता है उन्हें अपनी आत्मा के समान जानता है। इस भावना के अभ्यास से उस साधक के हृदय में से ईर्ष्या, शत्रुता आदि सभी अशुभ भावनाएँ समाप्त हो जाती हैं और 'सब जीव मेरे मित्र हैं'[6] ऐसी भावनाएँ बलवती हो जाती हैं। उसका अहिंसा भाव परिपुष्ट हो जाता है वह सभी जीवों के हित में अपना चित्त लगाए रखता है। वह सभी की कल्याण कामना

1. ज्ञानार्णव, 31/28, 33.
2. वही, 31/35-6.
3. वही, 31/37-8.
4. समाधितन्त्र, 97-8.
5. भगवती आराधना, गाथा 1705.
6. तत्त्वार्थसूत्र, 7/11.

करता हुआ सभी का मंगल करता है। वह हमेशा यही विचार करता है कि सारे संसार के जीव मेरे अपने हैं इन सब ने मेरे ऊपर बहुत उपकार किये हैं। इस प्रकार की भावना से उसका मैत्री भाव बढ़ता है। उसके इस स्वभाव का प्रभाव अन्य लोगों पर भी पड़ता है और वे भी शत्रुता को छोड़कर साधक बन जाते हैं। इस भावना का विषय प्राणीमात्र है। इसको भाने वाला योगी समता धारक बन जाता है।

प्रमोद – आध्यात्मिक उन्नति और अध्यात्म योग की साधना के लिए साधक को गुण ग्रहण करने चाहिए। साधक गुणों को तभी ग्रहण कर सकता है जब वह गुणवान व्यक्तियों के प्रति प्रेम भाव रखे और उनका सम्मान करे। प्रमोद भावना की साधना के द्वारा व्यक्ति (साधक) अपनी गुण को ग्रहण करने की शक्ति को उन्नत करता है। गुणी लोगों के सम्पर्क में आने से एवं उनसे प्रेम करने व उनका सम्मान करने से उसके अन्दर भी सभी सद्गुण आ जाते हैं, उसकी इसी विनम्रतापूर्ण भावना से उसके सद्गुणों का विकास होता है कि तुम्हारा आर्जव आश्चर्यकारी है और आश्चर्यकारी है तुम्हारा मार्दव। उत्तम है तुम्हारी क्षमा और मुक्ति।[1] इस प्रमोद भावना को समता योग का नेत्र कहा गया है। जैसे नेत्र सुन्दर, असुन्दर सभी चीजों को देखता है किन्तु सुन्दर वस्तुओं के प्रति ही आकर्षित होता है। उसी प्रकार से गुणी व्यक्ति सद्गुणों को ही ग्रहण करता है। यह गुणग्रहण करना ही प्रमोद भावना कहलाती है।

कारुण्य – बन्धन से मुक्त करने का प्रयत्न व चिन्तन करना ही कारुण्य भावना कहलाती है।[2] अर्थात् जो साधक कारुण्य भावना का अनुचिन्तन करता है वह न तो स्वयं कभी भयभीत रहता है और न ही कभी किसी को भयभीत करता है। अपितु वह भय से आक्रान्त एवं दु:खी प्राणियों के प्रति प्रेम रखता है और चाहता है कि सभी सुखी रहें, सब के दु:खों का अन्त हो जाए।

कारुण्य का बार-बार अभ्यास करने से साधक का हृदय दया से परिपूर्ण हो जाता है, उसके हृदय में करुणा एवं वात्सल्य का सागर उमड़ने लगता है। वह 'स्व' और 'पर' दोनों प्रकार की दया से परिपूर्ण व्यवहार करता हुआ उनका पालन करता है। स्व अर्थात् अपनी आत्मा को पीडित नहीं करता तथा पर अर्थात् वह कभी भी दूसरों को कष्ट नहीं देता। यह भावना समता योग का हृदय कहलाती है। जिस प्रकार शरीर में हृदय का जो स्थान होता है, उसी प्रकार समतायोग में कारुण्यभावना का होता है। जिस साधक का चित्त निर्मल एवं हृदय कोमल होता है जो किसी दूसरे का दु:ख न देख सकता हो, उसी को समतायोग की साधना की सिद्धि प्राप्त होती है, कठोर हृदय वाला इसकी साधना नहीं कर सकता। यह अध्यात्म योग का लक्ष्य है।

माध्यस्थ – समझाने-बुझाने पर भी सामने वाला व्यक्ति दोष का त्याग न

1. ज्ञानर्णव, 27/7. 2. ज्ञानर्णव, 25/8-10.

करे, उस स्थिति में उत्तेजित न होना, किन्तु योग्यता की विचित्रता का चिन्तन करता है वही माध्यस्थ भावना है। माध्यस्थ भावना का दूसरा नाम उपेक्षावृत्ति भी है। रागद्वेष को न करना, सुख-दु:ख की प्रतिकूल स्थितियों में भी समान रूप से रहना सदैव उपेक्षावृत्ति एवं माध्यस्थ भावना में रमण करना ये ही इस भावना के चिह्न है।[1]

जो साधक इस भावना का अभ्यास करता है वह प्रतिकूल स्थिति आने पर भी समभाव से यही सोचता है कि दु:ख और सुख एक सिक्के के दो पहलू हैं इनमें से कभी सुख आता है और कभी दु:ख। सुख आने पर अत्यधिक हर्ष नहीं करता और दु:ख के आगमन पर विषाद भी नहीं करता। माध्यस्थ भावना द्विमुखी है - यह राग और द्वेष दोनों पर ही विजय प्राप्त करती है। दोनों ही परिस्थितियों में समभाव से रहने वाले साधक सदैव सुखी रहते हैं। जो मनुष्य सुख आने पर भावों में आसक्त हो जाता है और प्रतिकूल परिस्थितियों के आने पर द्वेष भाव से युक्त हो जाता है वह अज्ञानी पुरुष हमेशा दु:खी रहता है।[2]

वह यही सोचता है कि ये सांसारिक सुख और दु:ख की परिस्थितियाँ न तो शाश्वत हैं और न ही स्थिर, ये सब संसार तो परिवर्तनशील है, इसीलिए रागद्वेष की भावना करना व्यर्थ है और उसके (साधक) इन्हीं विचारों से वह समभाव की स्थिति में पहुँच जाता है। जहाँ उसे न तो शोक होता है और न हर्ष, वह इन सबसे परे पहुँच जाता है। जहाँ उसे न तो कषायों की कलुषता रहती है न ही रागद्वेष की ज्वाला जलती है वह तो इन्द्रियों पर भी विजय प्राप्त कर लेता है। यह माध्यस्थ भावना समत्व योग की अन्तिम परिणति है, लक्ष्य बिन्दु है।[3]

इन मैत्री आदि चारों भावनाओं से साधक वीतरागता को प्राप्त करता है। उसके आत्मिक भावों की उन्नति होती है और एक दिन वह आत्मोन्नति के शिखर पर पहुँच जाता है यही मानव का चरम लक्ष्य है जो वह प्राप्त कर लेता है, और उसके विशुद्ध ध्यान का क्रम जो विच्छिन्न होता है वह पुन: सध जाता है।[5]

आत्मध्यान की प्रक्रिया -

यत्पश्यामीन्द्रियैस्तन्मे नास्ति यन्नियतेन्द्रिय: ।
अन्त: पश्यामि सानन्दं तदस्तु ज्योतिरुत्तमम् ।।[6]

मैं जो अन्तर में इन्द्रियों को संवरित करके, अतीन्द्रिय रूप से देखता हूँ, वही परमानन्दमय उत्तम ज्योति है, वही मेरा रूप है। इन्द्रियों के द्वारा जो शरीरादि रूप दिखता है वह मेरा रूप नहीं है। मात्र परमानन्दमय उत्तम ज्योति स्वरूप के दर्शन की प्रेरणा की गई

1. ज्ञानार्णव, 27/11-12.
2. वही, 27/8-10.
3. उत्तराध्ययन, 32/91.
4. ज्ञानार्णव, 27/14.
5. ज्ञानर्णव, 27/19.
6. समाधितन्त्र 15

है। यही आत्मज्योति है। बहिरात्मा की आत्मकल्पना भ्रान्त है उसकी दृष्टि तो मात्र बाह्य दृष्टि है। मैं मैं ही हूँ, शरीर, वचन और इन्द्रियादिक से मैं अलग हूँ, ऐसी अभ्रान्त दृष्टि वाला अन्तरात्मदृष्टि वाला होता है। जो आत्मा को अन्य से, कर्मादिक से बद्ध देखता है, वह द्वैत को देखता है, आत्मा को जड़-चेतनादि रूप अनुभव करता है। और जो आत्मा को दूसरे सब पदार्थों से विभक्त एवं भिन्न देखता है, वह उसे अबद्ध और निर्मल देखता है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार में आत्मा के स्वरूप को इस तरह स्पष्ट किया है – 'जो आत्मा को बंधरहित, पर के स्पर्श से रहित, अन्यत्व रहित, चलाचल रहित, विशेष से अतीत, अन्य के संयोग से रहित, ऐसे पाँच भाव रूप से देखता है और अनुभव करता है ऐसे आत्मदर्शन और आत्मानुभूति को शुद्धनयात्मक जानना चाहिए।'[1]

यहाँ पस्सदि शब्द से दर्शन क्रिया की उत्कृष्टता और अनिवार्यता ग्राह्य है। इसी को स्पष्ट करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं –

आत्मानुभूतिरिति शुद्ध नयात्मिका या, ज्ञानानुभूतिरियमेव किलेति बुद्ध्वा।
आत्मानमात्मनि निवेश्य सुनिष्प्रकम्पमेकोऽस्ति नित्यमवबोधघनःसमन्तात् ॥[2]

अन्तर्दृष्टि द्वारा यह जो आत्मानुभूति है, शुद्ध नयात्मिका है, वही वस्तुतः ज्ञानानुभूति है ऐसा जानकर आत्मा को आत्मा में सन्निविष्ट करके उसे सुनिष्कम्प एक व सर्व प्रकार से नित्य अवबोध घन ही जानना और देखना चाहिए।

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णमविसेसं।
अपदेससंतमज्झं पस्सदि जिणसासणं सव्वं ॥[3]

जो अपने को (आत्मा को) अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त ऐसे पाँच भाव स्वरूप देखता है वह सर्व जिनशासन को देखता है, वह जिनशासन द्रव्य और भाव रूप है।

अन्तर में विशेष ज्ञेयाकार रूप चित्रों को छोड़कर दर्शनमात्र तथा ज्ञानमात्र को ही देखा जाता है तथा अनुभव किया जाता है, तब ज्ञान आत्मा प्रकट अनुभव में आता है।

अन्तर्दर्शन विधा द्वारा इन पाँच भावों मय आत्मा को देखने में ही सारा जिनशासन समाहित है। ऐसी अन्तर्दृष्टि द्वारा ही सारे जिनशासन को देखता है, ऐसी महिमा कही है अन्तर्दृष्टि की। इससे अधिक कहा भी क्या जा सकता है ?

दशवैकालिक में भी ध्यान का सही सूत्र निबद्ध हुआ है – ''संपिक्खए अप्पगं

1. समयसार, 14.

अप्पाणगं'' अर्थात् आत्मा के द्वारा आत्मा को सम्यक् प्रकार से देखो।

अर्हन्त श्रमण ध्यान पद्धति की यही मूल पद्धति है कि आप अपने को अपने में देखो, स्वयं, स्वयं को देखो, अपने द्वारा इस प्रकार देखकर अपने को जानो। इस पद्धति में आत्मा स्वयं अपना साधक है, साधन है और साध्य है, आत्मा आप अपना दर्शक है, दर्शन है, और दृश्य है, आत्मा आप अपना ध्याता है, ध्यान और ध्येय है। आत्मा आप अपना ज्ञायक है, ज्ञान है और ज्ञेय है अर्थात् वह इन त्रिपुटियों का अखण्डित अनाकुल ज्योतिःपिण्ड ही है, सर्वांग ज्ञान चेतनारूप है। यह अन्तरात्मा ही विभाव मुक्त होकर अन्तर्दृष्टि में अनुभव रूप में आता है।

ये द्वन्द्वाभिघात, विषम तथा द्वेषादि विभाव तथा कषाय से मुक्त रहकर अन्तर्दृष्टि की अन्तर प्रसरित यात्रा है। उक्त प्रकार से निर्विकल्प विशेष अवलोकन में साधक विभिन्न अन्तर स्तरों की संवेदनाओं को अतिक्रमण करता-करता तटस्थ, साक्षित्व भाव की स्थिति रूप स्थिरता को प्राप्त होने लगता है। सब प्रकार से तनावों, क्षोभों तथा संस्कारों से खाली तथा निर्मल होता जाता है। पूर्वाग्रह और रागद्वेष से मुक्त होकर मात्र निर्विकल्प ही अवलोकन करो। इससे जीवन में पवित्रता, गहनता, गंभीरता, निर्लिप्तता, असंगता, निरन्तर आत्मा स्फूर्ति की प्राप्ति तथा शुद्धता रहने लगती है। जब मन और चित्त में द्रव्य-पुद्गल प्रवाह (कर्म-प्रत्यय प्रवाह) का और प्रतिक्षण बदलते उत्पाद-व्यय रूप (दुःख-सुख के भाव) प्रवाह का दृष्टा भाव जागता है तब इनकी अनित्यता को जानकर असंगता तथा भिन्नता करते-करते चित्रकला की पारदर्शी कला का सर्जन होने लगता है और चिद्कला उदय होने लगती है। चित्त निर्मल, निर्भय और दृश्य हो जाता है। विश्व रहस्यों को जानने लगता है। चित्त के विकार रहित होते ही चित्त ही चिद्रूप परिणत होता है, ऐसे चित्त तथा चिद्रूप के साक्षी एवं दृष्टा रहने का प्रयत्न करना होता है।

चित्त की उत्तमता (कुशलता) का उसके निर्मल चिद्रूप की कलात्मकता का उत्कर्ष करना होता है, उत्तम चित्त में मानवीय एवं देवी गुण संपदा का उदय होता है। यह चैतन्य दर्शन कर सकने की कला पर निर्भर है कि मानव प्राणी मात्र के साथ चैतन्य स्तर पर, एकत्व व समत्व का, अतः अहेतुकी करुणा, सौहार्द, मैत्री, समता, एकता, विश्व वात्सल्य का संवेदन पा सके इसके बिना वह अपने में दूसरों के समान-तत्त्व रूप को न देख सकेगा, न दूसरों में स्वयं के समान दिव्य तत्त्व रूप को। अन्तर वीतराग अनुभूति की गहराई के लिये चित्त को प्रेक्षा द्वारा न केवल अन्तर्दृष्टा बनाओ, न केवल अन्तर्दृष्टिमय बनाओ, उसे निरस्त आग्रह होकर एक आत्म-दर्शक तथा सर्वत्र साम्य वाला भी बनाओ।

अर्हत् श्रमण मार्ग तो दर्शन और चिन्तन, भावना रूप अनुप्रेक्षाओं का समन्वित

1. समयसार, कलश, 13.
2. समयसार, 15.

अभ्यास मार्ग है, बारह अनुप्रेक्षाओं से चित्त में वीतराग अनुभूति की प्रीति एवं गहराई और व्यापकता बढ़ती है और इन्हें बढ़ाना चाहिए। ये अनुप्रेक्षाएँ चिन्तन तथा आत्म भावना के विकास तथा परिष्कार रूप हैं और प्रेक्षा तो मात्र दर्शन और अनुभव रूप ही है। चिन्तन, धारणा या भावना सबसे अतीत निष्कर्ष रूप तथा कर्म-निर्जरात्मक रूप है, अबंध रूप है, सरल, सुगम और शीघ्रता का असाम्प्रदायिक श्रमण अध्यात्म मार्ग है।[1]

अध्यात्म की अपेक्षा से जैन दार्शनिकों[2] ने आत्मा के निम्नांकित तीन भेद किये हैं - 1. बहिरात्मा, 2. अन्तरात्मा और 3. परमात्मा।

1. बहिरात्मा - प्रथम अवस्था में आत्मा का यथार्थ स्वरूप कर्म आवरणों से पूर्णत: आच्छादित रहता है। अत: उसका ज्ञान भी मिथ्यात्व युक्त होता है। मिथ्यात्वकर्म का उदय होने से आत्मस्वरूप से अनभिज्ञ जीव शरीरादि को ही आत्मा समझता है। हेय, उपादेय या हिताहित का विवेक न होने के कारण वह विषय भोगों में ही आसक्त रहता है। उक्त अवस्था में विद्यमान जीव को बहिरात्मा की कोटि में परिगणित किया जाता है।[3]

2. अन्तरात्मा - द्वितीय अवस्था से मिथ्यात्व के नष्ट हो जाने से सम्यग्दर्शन का आविर्भाव हो जाता है और आत्मा को स्व-पर का विवेक अर्थात् भेद ज्ञान की प्रतीति होने लगती है। जैन मतानुसार जिस अवस्था में शरीर को आत्मा न मानने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाए और शरीर व आत्मा में भेद प्रतीत होने लगे, उसे अन्तरात्मा कहा जाता है।[4] आचार्य कुन्दकुन्द ने इसे परमात्म-अवस्था को प्राप्त करने का उपादेय साधन माना है।[5] आचार्य शुभचन्द्र एवं उपाध्याय यशोविजय प्रभृति जैन विद्वान् भी अन्तरात्मा को साधकावस्था समझते हैं, क्योंकि इस अवस्था में जीव शुभाशय से धार्मिक क्रियाओं का आचरण करते हुए आध्यात्मिक उन्नति की ओर अग्रसर होता है।[6]

3. परमात्मा - संसारी जीवों में आत्मा की सबसे उत्कृष्ट स्थिति 'परमात्मा' कही जाती है।[7] कर्मावरणों से निर्लिप्त संकल्प-विकल्पादि उपाधियों से रहित शुद्ध, आनन्दमय एवं अनन्तगुणों से युक्त आत्मा को परमात्मा नाम से अभिहित किया जाता है।[8] बहिरात्मा और अन्तरात्मा दोनों का क्रमश: त्याग करने से परमात्मा का स्वरूप प्रतिभासित होता है।[9] उक्त अवस्था की तुलना पातंजलयोगसूत्र में वर्णित कैवल्यावस्था

---

1. अष्टांगयोग अभ्यास रत्नदीपिका, पृ. 135-6.
2. मोक्षपाहुड, 5,8. समाधिशतक, 4. ज्ञानार्णव, 32/5. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 192. आदि
3. मोक्षपाहुड, गाथा 9. व परमात्मप्रकाश 1/13.
4. नियमसार, गाथा 150.
5. मोक्षपाहुड, गाथा 5-8.
6. अध्यात्मसार, 7/20-3.
7. समाधितन्त्र, टीका, श्लोक 6 पृ. 225.
8. भावसंग्रह, 272-3.
9. ज्ञानार्णव, 26/24.

से की जा सकती है। इन तीनों के भी अवान्तर भेदों की प्ररूपणा जैन आगमों एवं योगसाहित्य में मिलती है। जिन्हें आवश्यकतानुसार वहाँ से ही देख लेना चाहिए।

आचार्य शुभचन्द्र ने परमात्मा रूप ध्येय का विवेचन करने के पश्चात् आत्मद्रव्य रूप ध्येय का विवेचन करते हुए निर्देशित किया है - जिसने अपनी आत्मा का स्वरूप *नहीं जाना वह परमात्मा के स्वरूप को नहीं जान सकता है।* अत: परम पुरुष परमात्मा के ध्यान करने से पूर्व आत्मा के स्वरूप का निश्चय करना जरूरी है, क्योंकि आत्मा को जाने बिना शरीरादि से आत्मा को पृथक् करके जानना शक्य नहीं है और शरीरादि के भेदविज्ञान बिना आत्मलाभ सम्भव नहीं है। अत: मुमुक्षुओं को सबसे पहले समस्त परद्रव्यों की पर्याय या कल्पनाओं से रहित आत्मा का ही निश्चय करना चाहिए।

योगी निर्विकल्प एवं अतीन्द्रिय आत्मा को पर-पदार्थों से पृथक् तथा उनमें आत्मबुद्धि का त्याग करता हुआ अविनश्वर परमात्मा का ध्यान करता है।

भारतीय ध्यान-योग की नाना परम्पराओं के विशाल आकाश में पल्लवित व परिवर्द्धित होने वाली ध्यान की अनेक प्रक्रियाओं के मध्य भी उन सभी के महत्त्व एवं फल में एक अद्भुत समानता एवं उपादेयता समुपलब्ध होती है। इसमें भी आचार्य शुभचन्द्र द्वारा सुगठित एवं संयोजित विधि-विधान का महत्त्व एवं फल जात्य उपलब्धि है। इसमें जहाँ कर्मक्षय एवं मोक्षोपलब्धि जैसी परम्परित मान्यताएँ सुरक्षित हैं, वहीं मानसिक अवसाद का उपशमन एवं अन्य तनावों का शैथिल्य जैसे नव आकर्षण मौजूद हैं। इसी के कारण उनकी रचना ज्ञानार्णव किसी भी साधक के लिए मार्गदर्शन करने के लिए समुचित और प्रतिष्ठामय स्थान दिलाने में समर्थ है।

सप्तम अध्याय

ध्यान महत्त्व एवं फल

ध्यान-योग का महत्त्व –

जैन दर्शन में ध्यान-योग का लक्ष्य मुख्यतया कर्म-निरोध और कर्मनिर्जरा है और इन दोनों के द्वारा अशेष कर्ममुक्ति प्राप्त करना है। यद्यपि योगी को अनेक ऋद्धियाँ-सिद्धियाँ भी उसके प्रभाव से उपलब्ध हो जाती हैं। पर वे उसकी दृष्टि में प्राप्य नहीं होती, मात्र आनुषंगिक ही होती हैं। उनसे उसको न कोई लगाव होता है और न उसके लिए ध्यान ही करता है। वे तथा अन्य स्वर्गादि अभ्युदय उसे उसी प्रकार मिलते हैं, जिस प्रकार चॉवलों के लिए खेती करने वाले किसान को भूसा अप्रार्थित मिल जाता है। किसान भूसा को प्राप्त करने का लक्ष्य नहीं रखता और न उसके लिए प्रयास ही करता है। योगी भी ध्यान-योग का आराधन मात्र कर्म-निरोध और कर्म-निर्जरा के लिए करता है। यदि कोई योगी उन ऋद्धि-सिद्धियों में उलझता है, उनमें लुभाता है तो वह ध्यान-योग के वास्तविक लाभ से वंचित होता है।

तत्त्वार्थसूत्रकार आचार्य उमास्वामी ने स्पष्ट शब्दों में तप से संवर और निर्जरा करने का निर्देश दिया है।[1] इसी तरह आचार्य रामसेन भी अपने तत्त्वानुशासन में ध्यान को संवर और निर्जरा का कारण बतलाते हैं।[2] इन दोनों से समस्त कर्मों का अभाव होता है और समस्त कर्माभाव ही मोक्ष है।[3] इससे स्पष्ट है कि जैनदर्शन में ध्यान-योग का आध्यात्मिक महत्त्व मुख्य है।

सिद्धान्त चक्रवर्ती आचार्य नेमिचन्द्र ने अपने द्रव्यसंग्रह ग्रन्थ में लिखा है कि – 'मुक्ति का उपाय रत्नत्रय है और यह रत्नत्रय व्यवहार तथा निश्चय की अपेक्षा दो प्रकार का है। यह दोनों प्रकार का रत्नत्रय ध्यान से ही उपलभ्य है। अत: सम्पूर्ण प्रयत्न करके मुनि को निरन्तर ध्यान का अभ्यास करना चाहिए।'[4] तत्त्वार्थसारकार आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी की दृष्टि में भी ध्यान का आध्यात्मिक प्रयोग ही मुख्य है। यथा – 'यथार्थ में ध्यान में जब योगी अपने से भिन्न किसी दूसरे मन्त्रादि पदार्थ का अवलम्बन लेकर उसे ही अपने श्रद्धान, ज्ञान और आचरण का विषय बनाता है, तब वह व्यवहार मोक्षमार्गी होता है और जब केवल अपने आत्मा का अवलम्बन लेकर उसे ही श्रद्धा, ज्ञान और चर्या का विषय बनता है, तब वह निश्चयमोक्षमार्गी होता है। अत: मोक्ष प्राप्त करने वाले रत्नत्रय मार्ग पर आरूढ होने के लिए योगी को ध्यान बहुत आवश्यक और उपयोगी है।'[5]

---

1. तत्त्वार्थसूत्र, 9/3. 2. तत्त्वानुशासन, 56. 3. तत्त्वार्थसूत्र, 10/2.
4. द्रव्यसंग्रह, गाथा 47. 5. तत्त्वार्थसार, 1/4.

मनुष्य के चिरन्तन संस्कार उसे विषय और वासनाओं की ओर ही ले जाते हैं। और इन संस्कारों की जनिका एवं उद्बोधिका पाँचों इन्द्रियाँ तो हैं ही, मन तो उन्हें ऐसी प्रेरणा देता है कि उन्हें न जाने योग्य स्थान में भी जाना पड़ता है। फलतः मनुष्य सदा इन्द्रियों और मन का अपने को गुलाम बनाकर तदनुसार उचित-अनुचित सब प्रकार की प्रवृत्ति करता है। परिणाम यह होता है कि वह निरन्तर रागद्वेष की भट्टी में जलता और कष्ट उठाता है।

यह सच है कि इन्द्रियों और मन पर नियंत्रण करना सरल नहीं है, अति दुष्कर है। परन्तु यह भी सच है कि वह असम्भव नहीं है। सामान्य मनुष्य और असामान्य मनुष्य में यही अन्तर है कि जो कार्य सामान्य मनुष्य के लिए अतिदुष्कर होता है वह असामान्य मनुष्य के लिए सम्भव होता है। और वह उसे कर भी डालता है। अतः इन्द्रियों और मन पर नियंत्रण करने में आरम्भ में भले ही कठिनाई दिखे, पर संकल्प और दृढ़ता के साथ निरन्तर प्रयत्न करने पर उस कठिनाई पर विजय पाई जा सकती है। इन्द्रियों और मन पर काबू पाने के लिए अनेक उपाय बताये गये हैं। उनमें प्रधान दो उपाय हैं - 1. परमात्मभक्ति और 2. शास्त्रज्ञान। परमात्मभक्ति के लिए पंचपरमेष्ठी का जप, स्मरण और गुणकीर्त्तन आवश्यक है। उसे ही अपना शरण माना जाय। इससे आत्मा में निर्मलता आयेगी। मन और वाणी में निर्मलता आयेगी। और उनके निर्मल होने पर वह ध्यान की ओर सहजतया झुकेगा तथा ध्यान द्वारा उपर्युक्त द्विविध मोक्षमार्ग को प्राप्त करेगा। परमात्मभक्ति में उन सब मन्त्रों का जाप किया जाता है, जिनमें केवल अर्हत्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय या साधु का भी स्मरण होता है या संयोग के साथ दो, तीन या इससे भी अधिक पदों का जाप किया जाता है।[1]

आचार्य विद्यानन्दि ने लिखा है कि परमेष्ठी की भक्ति, स्मरण, कीर्तन और ध्यान से निश्चय ही श्रेयोमार्ग की संसिद्धि होती है।[2] इसी से उनका स्तवन करना बड़े-बड़े मुनिश्रेष्ठों ने बतलाया है।

इन्द्रियों और मन को वश में करने का दूसरा उपाय श्रुतज्ञान है। यह श्रुतज्ञान सम्यक् शास्त्रों के अनुशीलन, मनन और सतत् अभ्यास से प्राप्त होता है। वास्तव में जब मन का व्यापार शास्त्र-स्वाध्याय में लगा होगा - उसके शब्द और अर्थ के चिन्तन में संलग्न होगा तो वह अन्यत्र जायेगा ही कैसे ? और जब वह नहीं जायेगा तो इन्द्रियाँ उस अग्नि की तरह ठंडी (राख) हो जायेगी, जो ईंधन के अभाव में राख हो जाती हैं। वस्तुतः इन्द्रियों को मन के व्यापार से ही खुराक मिलती है। इसलिए मन को ही बन्ध और मोक्ष का कारण कहा गया है। शास्त्र-स्वाध्याय मन को नियंत्रित करने के लिए एक अमोक्ष

1. द्रव्यसंग्रह, गाथा 49.
2. आप्तपरीक्षा, 2.

उपाय है। सम्भवत: इसी से 'स्वाध्याय: परमं तप:' कहा गया है।

उपर्युक्त दो मुख्य उपाय ही इन्द्रियों और मन को नियंत्रित करने के माने गये हैं। इन्द्रिय और मन के नियंत्रित हो जाने पर ही ध्यान किया जा सकता है। अन्य सब ओर से चित्त की वृत्तियों को रोककर उसे एकमात्र आत्मा में स्थिर करने का नाम ही ध्यान है। चित्त को जब तक एक ओर केन्द्रित नहीं किया जाता तब तक न आत्मदर्शन होता है, न आत्मज्ञान और न आत्मा में आत्मा की चर्या। और जब तक ये तीनों प्राप्त नहीं होते तब तक दोष और आवरणों की निवृत्ति सम्भव नहीं। अत: योगी ध्यान के द्वारा चित्त और आनन्दस्वरूप होकर स्वयं परमात्मा हो जाता है।

आचार्य रामसेन लिखते हैं कि 'जिस प्रकार सतत् अभ्यास से महाशास्त्र भी अभ्यस्त एवं सुनिश्चित हो जाते हैं, उसी प्रकार निरन्तर के ध्यानाभ्यास से ध्यान भी अभ्यस्त एवं सुस्थिर हो जाता है।' वे योगी को ध्यान करने की प्रेरणा करते हुए कहते हैं -

'हे योगिन्! यदि तू संसार-बंधन से छूटना चाहता है तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय को ग्रहण करके बन्ध के कारणरूप मिथ्यादर्शनादि के त्यागपूर्वक निरन्तर सद्ध्यान का अभ्यास कर।'[1]

आचार्य अमितगति ने ध्यान करने वालों को शिक्षा देते हुए योग्य ही कहा है - 'कि आत्मा संयोग के कारण नाना दु:खों को पाता है।'[2] अगर वह इस तथ्य को समझ ले तो उस संयोग के छोड़ने में उसे एकक्षण भी न लगे। तत्त्वज्ञान से क्या असम्भव है ? यह तत्त्वज्ञान श्रुतज्ञान है और श्रुतज्ञान ही ध्यान है। अत: ध्यान के अभ्यास के लिए सर्वप्रथम आवश्यक है कि इन्द्रियों और मन पर नियंत्रण। जब तक दोनों पर नियंत्रण नहीं होगा तब तक मनुष्य विषय-वासनाओं में डूबा रहेगा और उनसे कष्टों को भोगता रहेगा। पर यह तथ्य है कि कष्ट या दु:ख किसी को इष्ट नहीं है, सभी को सुख और शान्ति इष्ट है। जब वास्तविक स्थिति यह है तब मनुष्य को सत्संगति से या शास्त्रज्ञान से उक्त तथ्य को समझकर विषय-वासनाओं में ले जाने वाली इन्द्रियों और मन पर नियंत्रण करना जरूरी है। जब इन्द्रिय और मन नियंत्रित रहेंगे तो मनुष्य की प्रवृत्ति आत्मोन्मुखी अवश्य होगी, क्योंकि वे निर्विषय नहीं रह सकते। आत्मा उनका विषय हो जाने पर स्वाधीन सुख और शान्ति की उत्तरोत्तर अपूर्व उपलब्धि होती जायेगी।

नि:संदेह ध्यान एक ऐसी अवस्था है, जो परलोक के लिए उत्तम पाथेय है। वह इस लोक को भी सुखी, स्वस्थ और यशस्वी बनाता है। यह ध्यान गृहस्थ और मुनि दोनों के लिए अपनी-अपनी भूमिका के अनुसार उपयोगी है। यदि मानव इसके महत्त्व को

1. तत्त्वानुशासन, 88.

2. सामायिकपाठ, 28.

समझ ले तो वह पूर्व ऋषियों के प्रभावपूर्ण आदर्श को अपने अन्दर सहज ही उपस्थित पा सकता है।

इसके प्रभाव से जहाँ जितेन्द्रिय और मनस्वी सन्तानों का जन्म होगा, वहीं परिवार-नियोजन, संग्रहवृत्ति आदि अनेक समस्याएँ अनायास ही सुलझ जायेगीं।

आचार्य रामसेन के शब्दों में इसकी महिमा अतुलनीय है। वे कहते हैं कि - 'ध्यान के अभ्यास की प्रकर्षता से मोह का नाश करने वाला चरमशरीरी योगी तो उसी पर्याय से मुक्ति तक पा जाता है और जो चरमशरीरी नहीं है वे उत्तम देवादि की आयु को प्राप्त कर क्रमशः मुक्ति को प्राप्त करते हैं। यह ध्यान की ही अपूर्व महिमा है।'[1]

धर्मध्यान का फल -

अन्त के दो ध्यान मोक्ष के कारण रूप में प्ररूपित किये गये हैं।[2] अर्थात् संसारलता के मूलोच्छेद का हेतुभूत प्रशस्त ध्यान है और वह दो प्रकार का है - धर्म्य और शुक्ल।

धर्म्यध्यान के फल का निरूपण करते हुए आचार्य शुभचन्द्र ने कहा है कि - 'उत्तम मनुष्य भव के सुख भोगकर पुनः भेदज्ञान (शरीरादिक से आत्मा की भिन्नता) को उल्लंघन कर, संसार के परिभ्रमण से विरक्त हो, रत्नत्रय अर्थात् सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र को प्राप्त कर, दुर्धर तप कर तथा अपनी शक्ति के अनुसार धर्मध्यान और शुक्लध्यान को धारण कर और समस्त कर्मों का नाश कर, अविनाशी मोक्षपद को प्राप्त होता है। यह धर्मध्यान का परम्परारूप फल है।'[3]

अर्थात् मनुष्य शुभध्यान के फल से उत्पन्न हुई स्वर्ग की लक्ष्मी को भोगते हैं और क्रम से मोक्ष को प्राप्त करते हैं।

षट्खण्डागम के प्रसिद्ध टीकाकार एवं कलिकाल में सर्वज्ञ की उपमा को प्राप्त आचार्य वीरसेन स्वामी ने भी धर्मध्यान के फल का निरूपण करते हुए लिखा है कि - 'अचरम शरीरियों को स्वर्ग और चरम शरीरियों को मोक्षप्रदायक है। अक्षपक जीवों को देवपर्याय सम्बन्धी विपुल सुख मिलना उसका फल है, और कर्मों की गुणश्रेणी निर्जरा होना भी उसका फल है। जबकि क्षपक जीवों को तो असंख्यात गुणश्रेणी रूप से निर्जरा होती है और शुभकर्मों के उत्कृष्ट अनुभाग का होना उसका फल है।'[4]

'चरमशरीरी ध्याता के मुक्ति का और उससे भिन्न अन्य ध्याता के भुक्ति का कारण बनता है, जिसने उस ध्यान से विशिष्ट पुण्य का उपार्जन किया है, ध्यान के अभ्यास की प्रकर्षता से मोह का नाश करने वाले चरमशरीरी योगी के उस भव में मुक्ति होती है और जो

1. तत्त्वानुशासन, 223-4.
2. तत्त्वार्थसूत्र, 9/29.
3. ज्ञानार्णव, 41/26-7.
4. धवला, पुस्तक 13, पृ. 71

चरमशरीरी नहीं है उसको क्रम से मुक्ति होती है।'[1] – यह विचार आचार्य रामसेन ने अपने तत्त्वानुशासन में स्पष्ट निबद्ध किये हैं।

इस प्रकार धर्मध्यान के अभ्यास के अनन्तर इससे अतिक्रान्त होता हुआ ध्याता अत्यन्त विशुद्धि के बल से साक्षात् मोक्ष का हेतुभूत शुक्लध्यान का, जो कि धर्म ध्यान पूर्वक होता है, निर्मलता के साथ प्रारम्भ करता है।

धर्मध्यान का फल अतिशय पुण्य, संवर और निर्जरा – उत्कृष्ट धर्मध्यान के द्वारा शुभास्रव, संवर, निर्जरा और देवों का सुख आदि विपुल फल प्राप्त होते हैं। चारित्र की भावना के बल से जो ध्यान में लीन है, उसके नूतन कर्मों का ग्रहण नहीं होता, पुराने कर्मों की निर्जरा होती है और शुभ कर्मों का आस्रव होता है। अथवा जैसे मेघपटल भवन से ताडित होकर क्षणमात्र में विलीन हो जाते हैं, वैसे ही ध्यानरूपी पवन से उपहत होकर कर्म-मेघ भी विलीन हो जाते हैं।[2]

आचार्य यतिवृषभ के मतानुसार 'सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थान के अन्त में कर्मों की सर्वोपशमना तथा मोहनीयकर्म का क्षय धर्मध्यान का ही फल माना जाता है।'[3]

इस धर्मध्यान में कर्मों का क्षय करने वाले क्षपक के सद्दृष्टि अर्थात् सम्यग्दृष्टि नामक चौथे गुणस्थान से लेकर सातवें अप्रमत्त गुणस्थान पर्यन्त अनुक्रम से असंख्यातगुणी कर्म की हानि होती है। और जो कर्मों का उपशम करने वाले उपशामक हैं, उनके क्रम से असंख्यात गुणा कर्मों का उपशम होता है, इसलिये ऐसा धर्मध्यान आतंक-दाहादि दुःखों से रहित होता हुआ उपशमभाव रूप सुख को प्राप्त कराता है।

ज्ञानार्णवकार आचार्य शुभचन्द्र ने धर्मध्यान के पुण्य रूप फल का निरूपण करते हुए कहा है – 'धर्मध्यान के द्वारा स्वर्ग में देवों का सुख निर्द्वन्द्व, क्षोभों से रहित, अभ्युदययुक्त और नित्य उत्सवों से युक्त दिव्य रूप प्राप्त होता है। जो भव्य पुरुष इस पर्याय के अन्त समय में समस्त परिग्रहों को छोड़कर धर्मध्यान से अपना शरीर छोडते हैं वे पुरुष पुण्य के साधन रूप ऐसे ग्रैवेयक और अनुत्तर विमानों में तथा सर्वार्थसिद्धि में उत्पन्न होते हैं।'[4]

शुक्लध्यान का फल –

विशेष रूप से धर्मध्यान के फलभूत वे ही शुभास्रव आदि तथा अनुपम देवसुख ही आरम्भ के दो शुक्लध्यानों का भी फल है। किन्तु अन्तिम दो शुक्लध्यानों का फल मोक्ष की प्राप्ति माना जाता है।

1. तत्त्वानुशासन, 197.
2. धवला, पुस्तक 13, पृ. 77.
3. तिलोयपण्णत्ती, 3/5
4. ज्ञानार्णव, 41/16.

पृथक्त्ववितर्कवीचार नामक प्रथम शुक्ल ध्यान को प्राप्त योगी यदि उपशम श्रेणी पर आरूढ है तो वह चारित्रमोह का उपशम करता है और यदि क्षपक श्रेणी पर आरूढ है तो वह चारित्र मोह का क्षय करता है। इस ध्यान के पहले कर्म रूपी शत्रुओं का प्रसार- आस्रव होता रहता है, परन्तु इस ध्यान के होते ही उनका प्रसार रुक जाता है। उनका संवर होने लगता है और ग्यारहवें गुणस्थान में पहुँचते-पहुँचते एक सातावेदनीय को छोड़कर समस्त कर्म-प्रकृतियों का संवर हो जाता है। यह ध्यान अपने आपमें अत्यन्त निर्मल होता है और इतना निर्मल कि अन्तर्मुहूर्त के भीतर ही कर्मशिरोमणि मोहनीयकर्म को क्षीण अथवा उपशान्त करने में समर्थ होता है।

ध्याता मुनि इस दूसरे शुक्लध्यान एकत्ववितर्क अवीचार से अग्नि की ज्वाला के समान दर्शन और ज्ञान के आवारक दर्शनावरण और ज्ञानावरण कर्म को अन्तराय कर्म के साथ क्षणमात्र में नष्ट कर देता है।

उस द्वितीय शुक्लध्यान के प्रभाव से अर्हन्त भगवान् के क्षायिक ज्ञान, दर्शन, दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य, सम्यक्त्व और चारित्र ये नौ लब्धियाँ प्रकट हो जाती हैं। चौंतीस अतिशयों से युक्त और चारों दिशाओं में दिखने वाले चार मुखों से युक्त, परमौदारिक शरीर को प्राप्त अर्हन्त जगत् को आश्चर्यकारी वैभवयुक्त अष्ट प्रातिहार्यादि के स्वामी हो जाते हैं। इसके फलस्वरूप ही समस्त जीवों को आनन्द देने वाले, अन्य पदार्थों के आलम्बन से रहित आत्मसापेक्ष अनन्त सुख प्रकट होता है।

यद्यपि अरहन्त भगवान् के वेदनीयादि चार कर्मों का उदय रूप अस्तित्व शेष रहता है, किन्तु उनके महादुःखदायी मोहनीयकर्म का क्षय हो चुकता है अतः वेदनीय कर्म विद्यमान होने पर भी अपना कार्य करने में समर्थ नहीं होता।

एकत्ववितर्क अवीचार ध्यान से घातिकर्म का नाश करके, अपने आत्मलाभ को प्राप्त होता है और अत्यन्त उत्कृष्ट शुद्धता को पाकर, केवलज्ञान और केवलदर्शन को प्राप्त करता है।

आचार्य शुभचन्द्र के अनुसार समस्त शुक्लध्यानों के फलस्वरूप निम्न दशा प्राप्त होती है - 'इस शुक्लध्यान के प्रभाव से ज्ञानलक्ष्मी, तपोलक्ष्मी और देवों के द्वारा निर्मित की जाने वाली समवसरण आदिक लक्ष्मी तथा मोक्षलक्ष्मी को पाकर धर्म के चक्रवर्ती होते हैं। अन्तरंग बहिरंग लक्ष्मी से सहित केवली भगवान् जगत् से वन्दनीय और सब अभ्युदयों के सूचक ऐसे कल्याण रूप विभव को पाकर, तीनों लोकों के अधिपति होते हैं। जिन भगवान् के नाम लेने से ही भव्य जीवों के अनादिकाल से उत्पन्न हुए जन्ममरण जन्य समस्त रोग लघु हो जाते हैं। इन्द्र, चन्द्रमा, सूर्य, धरणेन्द्र, मनुष्य और देवों से नमस्कृत हुए है चरण जिनके, ऐसे केवली भगवान् शील अर्थात् चौरासी लाख उत्तरगुण और ऐश्वर्य सहित पृथ्वीतल में विहार करते हैं।

इस प्रकार अब तक सूक्ष्मक्रिया अप्रतिपाती और व्युपरतक्रियानिवृत्ति इन दोनों शुक्लध्यानों का निरूपण किया, इन दोनों ध्यानों का फल मोक्ष है।'[1]

प्रथम प्रकार के शुक्लध्यान के फलस्वरूप संवर, निर्जरा और अमरसुख प्राप्त होता है, क्योंकि इससे मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती।

यद्यपि इन आर्त-रौद्र आदि सभी ध्यानों में चित्त की स्थिरता की समानता है तो भी फल की विभिन्नता से इनमें भिन्नता सिद्ध होती है। आर्त्तध्यान का स्वभाव धूम के समान है इससे तिर्यञ्च आयु का बन्ध होता है। रौद्रध्यान का स्वरूप अन्धकार के समान है इससे नरकायु का बन्ध होता है। धर्म्यध्यान का स्वभाव अग्नि के समान है इससे अन्तरात्मा में प्रकाश होता है तथा कर्मों की निर्जरा होती है और शुक्लध्यान सूर्य के समान है इससे लोकालोक प्रकाशित करने वाला केवलज्ञान प्राप्त होता है और अन्त में मोक्ष की प्राप्ति होती है।[2]

योगी तप, आसन, प्राणायाम, समाधि, ध्यान आदि द्वारा योगसिद्धि करता है अथवा मोक्षाभिमुख होता है। साधना के क्रम में योग साधक चिरकाल से उपार्जित पापों को वैसे ही नष्ट कर देता है, जैसे इकट्ठी की हुई बहुत-सी लकड़ियों को अग्नि क्षण भर में भस्म कर देती है।[3] योगसाधना के ही क्रम में अनेक चमत्कारिक शक्तियों का भी उदय होता है, जिन्हें लब्धियाँ कहते हैं। ये लब्धियाँ अलौकिक शक्तियों से सम्पन्न होती हैं, तथा सामान्य मानव को आश्चर्य में डालने वाली भी। वस्तुत: जिस साधक का अन्तिम उद्देश्य मोक्ष प्राप्ति ही होता है, वह भौतिक या चमत्कारिक लब्धियों के व्यामोह में नहीं फँसता। जैसे-जैसे योगी का मन निर्मल होता जाता है वैसे-वैसे उसमें समता, वैराग्य, सहनशीलता, परोपकार आदि सद्भावनाएँ जाग्रत होती जाती हैं। लेकिन जो साधक रागद्वेषादि भावनाओं के वश होकर रौद्रध्यान द्वारा लब्धियाँ (शक्तियाँ) पाने की अभीप्सा रखते हैं वे आत्मसिद्धि के मार्ग से च्युत होकर संसार में भ्रमण करने लगते हैं। अत: लब्धियाँ मोक्षाभिमुख योगी के लिए बाधक ही सिद्ध होती हैं। इसलिए योगियों को आदेश है कि वे तप का अनुष्ठान किसी लाभ, यश, कीर्ति अथवा परलोक में इन्द्रादि देवों जैसे सुख अथवा अन्य ऋद्धियाँ प्राप्त करने की इच्छा से न करें।[4] इस प्रकार योगसाधना का ध्येय शुद्ध आत्मतत्त्व की प्राप्ति करना है और लब्धियाँ उस योगमार्ग के बीच आई हुई फलसिद्धि हैं, जो आत्मतत्त्व की प्राप्ति करने में बाधक भी बन सकती हैं।

योग साधना के दौरान प्राप्त होने वाली लब्धियों का वर्णन वैदिक, बौद्ध एवं जैनयोग में क्रमश: विभूति, अभिज्ञा तथा लब्धियों के रूप में मिलता है और कहा है कि लब्धियों का उपयोग लौकिक कार्यों में करना वांछित नहीं है।

1. ज्ञानार्णव 42/30-7.
2. अध्यात्मतरङ्गिणी, पृ. 62.
3. योगशास्त्र, 1/7.
4. दशवैकालिक सूत्र, 9/4.

वैदिक योग में लब्धियाँ –

उपनिषद् में स्पष्ट उल्लेख है कि लब्धियों से निरोगता, जरा-मरण का न होना, शरीर का हल्कापन, आरोग्य, विषयनिवृत्ति, शरीरकान्ति, स्वर-माधुर्य, मलमूत्र की अल्पता आदि प्राप्त होती हैं।[1] इसी प्रकार विभिन्न प्रकार की लब्धियों का वर्णन उपनिषद्रों, गीता, पुराण एवं हठयोगादि ग्रन्थों में है, जिनका विवेचन-विश्लेषण करना यहाँ अभीष्ट नहीं है। यहाँ केवल योगदर्शन में वर्णित लब्धियों का परिचय ही अभिप्रेत है।

योग दर्शन में यम, नियम आदि जो योग के आठ अंग कहे गये हैं, उनमें से प्रत्येक अंग की साधना से आभ्यन्तर एवं बाह्य दोनों प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

यम से प्राप्त लब्धियों अर्थात् विभूतियों के विषय में बताया गया है कि अहिंसाव्रत को पालन करने वाले साधक के सान्निध्य में हिंस्र पशु भी अपना क्रूर स्वभाव छोड़ देते हैं, सत्यव्रती का वचन कभी मिथ्या नहीं होता, अस्तेयव्रत से रत्नसमृद्धि प्राप्त होती है। ब्रह्मचर्य से वीर्यसंग्रह का लाभ होता है तथा अपरिग्रह से जन्म के स्वरूप का बोध हो जाता है।[2]

नियम से प्राप्त लब्धियों के विषय में कहा है कि अन्तर्बाह्य शौच के पालन से अपने शरीर के प्रति जुगुप्सा तथा अलिप्तता का भाव उदित होता है और चित्त की शुद्धि, आनन्द, एकाग्रता एवं इन्द्रियजय तथा आत्मदर्शन की योग्यता प्राप्त होती है। सन्तोष से उत्कृष्ट सुख, तप से शरीर एवं इन्द्रियों की शुद्धि, स्वाध्याय से अपने इष्ट देवता का साक्षात्कार और ईश्वर प्रणिधान से समाधि की सिद्धि होती है। आसन द्वारा सर्दी एवं गर्मी की बाधा उत्पन्न नहीं होती।[3] प्राणायाम से विवेक ज्ञानावरण का क्षय एवं विविध प्रकार की धारणा के लिए मन की तैयारी होती है। प्रत्याहार से समस्त इन्द्रियों पर विजय प्राप्त होती है।[4] इसी प्रकार अतीत-अनागत का ज्ञान, विभिन्न प्राणियों की बोलियों की पहचान दूसरों की चित्तवृत्ति का ज्ञान, शरीर की दीप्ति एवं हलकापन, आकाशगमन आदि की प्राप्ति के साथ-साथ सर्वज्ञता भी प्राप्त होती है।[5]

इस प्रकार योगदर्शन में अनेक विभूतियों या लब्धियों का विस्तृत वर्णन मिलता है, जिनकी सिद्धियाँ जन्म, औषध, मन्त्र, तप, समाधि[6] आदि से प्राप्त होती हैं।

बौद्धयोग में लब्धियाँ –

बौद्ध परम्परा में लब्धियों का वर्णन अभिज्ञा नाम से मिलता है। बौद्धयोग के

1. श्वेताश्वतरोपनिषद्, 2/12-13.
2. योगदर्शन, 2/35-9.
3. वही, 2/40-6.
4. वही, 2/49-54.
5. योगदर्शन, 3/5, 16-8, 26, 40-2 आदि.
6. वही, 4/1.

अनुसार अभिज्ञाएँ अर्थात् लब्धियाँ दो प्रकार की होती हैं - लौकिक और लोकोत्तर।[1] लौकिक अभिज्ञाओं के अन्तर्गत ऋद्धिविध, दिव्यस्रोत, चैतीपरेज्ञान-पूर्वनिवासानुस्मृति एवं चित्योत्पाद अभिज्ञाएँ हैं जिनसे क्रमश: आकाशगमन, पशु-पक्षी की बोलियों का ज्ञान, परचितविज्ञानता, पूर्वजन्मों का ज्ञान तथा दूरस्थ वस्तुओं का दर्शन होता है। लोकोत्तर अभिज्ञा की प्राप्ति तब होती है, जब साधक अर्हत् अवस्था को प्राप्त करके पुन: जन साधारण के समक्ष निर्वाण-मार्ग को बतलाने के लिए उपस्थित होता है।

जैनयोग में लब्धियाँ -

वैदिक एवं बौद्ध योग की ही भाँति जैन योग में भी तप, समाधि, ध्यानादि द्वारा अनेक प्रकार की लब्धियाँ प्राप्त करने का वर्णन मिलता है। अन्य जैन योग ग्रन्थों की अपेक्षा ज्ञानार्णव[2] एवं योगशास्त्र में लब्धियों का विवेचन स्पष्ट एवं विस्तृत रूप में हुआ है। इन दोनों ग्रन्थों में विस्तार पूर्वक विभिन्न प्रकार की लब्धियों और चमत्कारिक शक्तियों का वर्णन है, जैसे जन्म-मरण का ज्ञान, शुभ-अशुभ शकुनों का ज्ञान, परकायाप्रवेश, कालज्ञान आदि। ध्यातव्य है कि इन लब्धियों की प्राप्ति जैनयोग साधना का बाह्य अंग है, आन्तरिक नहीं, क्योंकि योग-साधना का मू उद्देशय कर्म एवं कषायादि का क्षय करके सम्यग्दर्शन, ज्ञान और सिद्धि रूप में मोक्ष प्राप्त करना है। जैनदर्शन के अनुसार लब्धिप्राप्ति के लिए कुछ करने की आवश्यकता नहीं, वे तो प्रासंगिक फल के रूप में स्वत: निष्पन्न या प्रकट होती है। अत: साधक अथवा योगी इन लब्धियों से युक्त होकर भी कर्मों के क्षय का ही उपाय करते हैं तथा मोक्षपथिक बनते हैं। वे लब्धियों में अनासक्त रहकर आत्मसाधना में लगे रहते हैं।

जैनयोगमत

पातंजलयोग के समान जैनपरम्परा में भी यह मान्यता रही है कि तप, ध्यान और योगसाधना से ऋद्धि एवं सिद्धियों की प्राप्ति होती है।[3] आचार्य हरिभद्र[4], शुभचन्द्र,[5] हेमचन्द्र [6]तथा उपाध्याय यशोविजय[7] ने भी उक्त मान्यतानुसार अपनी सहमति व्यक्त की है। जैन-परम्परा में पातंजलयोग के 'विभूति' शब्द को 'कर्मसम्पदा' नाम से भी अभिहित किया गया है,[8] यद्यपि वहाँ विभूति शब्द के स्थान पर ऋद्धि अथवा लब्धि शब्द का प्रयोग अधिक मिलता है। योगसिद्धियाँ साधक की मध्यवर्तिनी अवस्थाएँ हैं, इसी दृष्टि से आचार्य जिनदास ने मोक्ष को 'परम अवस्था' और यौगिक विभूति आदि को 'अपरम अवस्था' कहा है।[9]

1. विशुद्धिमार्ग, मार्ग 1, पृ. 34.
2. ज्ञानार्णव, 26 सर्ग.
3. तत्त्वार्थराजवार्तिक, 9/6/27.
4. योगशतक, 83-4.
5. ज्ञानार्णव, 35/29.
6. योगशास्त्र, 1/8.
7. द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, 9/14., 18/24.
8. उत्तराध्ययनसूत्र, 1/47.
9. दशवैकालिक, 9/2/2.

जिस प्रकार पातंजलयोग में जन्म, औषधि, मन्त्र, जप, तप आदि से जनित अनेक प्रकार की सिद्धियों का उल्लेख किया गया है, उसी प्रकार जैन-परम्परा में भी तीन प्रकार की ऋद्धियाँ मानी गई हैं - 1. देव, 2. राज्य और 3. गणि (आचार्य)। इनमें 'देवऋद्धि' जन्म से प्राप्त होती है और 'राज्यऋद्धि' विविध उपायों से तथा 'गणिऋद्धि' तप से प्राप्त होती है।[1]

जैन परम्परा के सिद्धान्त ग्रन्थों में ऋद्धियों-सिद्धियों का विस्तृत विवेचन उपलब्ध है, इसलिए आचार्य हरिभद्र, आचार्य शुभचन्द्र, आचार्य हेमचन्द्र तथा उपाध्याय यशोविजय आदि मनीषियों ने अपने योग ग्रन्थों में ऋद्धियों के स्वरूप एवं भेदोपभेद आदि का व्यवस्थित, विस्तृत एवं सर्वांगीण विवरण प्रस्तुत नहीं किया। चूँकि ऋद्धि-सिद्धि आदि का साधना के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण स्थान है, इसलिए इनका ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। जैन-परम्परा में वर्णित सिद्धियों का वर्णन इस प्रकार है -

जैन आगम[2] व आगमोत्तर ग्रन्थों में विभिन्न प्रकारों की ऋद्धियों (लब्धियों) की चर्चा की गई है। भगवती सूत्र[3] में जहाँ ज्ञान, दर्शन, चारित्रादि दस प्रकार की लब्धियों का उल्लेख हुआ है वहाँ तिलोयपण्णत्ती[4], श्रुतसागरीय तत्त्वार्थवृत्ति[5] तथा धवलाटीका[6] में 64, आवश्यकनिर्युक्ति[7] में 24, षट्खण्डागम[8] में 44, विद्यानुशासन में 48, मंत्रराजरहस्य[9] में 50, प्रवचनसारोद्धार[10] एवं विशेषावश्यकभाष्य[11] में 28 ऋद्धियों का वर्णन मिलता है। श्रुतसागरीय तत्त्वार्थवृत्ति के अनुसार ऋद्धियों का वर्णन इस प्रकार है -

गणधर देव आठ ऋद्धियों से युक्त होते हैं - बुद्धि, क्रिया, विक्रिया, तप, बल, औषधि, रस और क्षिति (क्षेत्र)।[12]

बुद्धिऋद्धि [13] -

बुद्धि नाम अवगम या ज्ञान का है। उसको विषय करने वाली ऋद्धियाँ 18 प्रकार की होती हैं -

---

1. स्थानांगसूत्र, 3/4/501.
2. वही, 2/2.
3. भगवतीसूत्र, 8/2.
4. तिलोयपण्णत्ती, 4/1067-91.
5. तत्त्वार्थवृत्ति, 3/36.
6. धवला, पु. 14, पृ. 58.
7. आवश्यकनिर्युक्ति, 69-70.
8. षट्खण्डागम, 4/1/9.
9. मन्त्रराजरहस्य, 1-7.
10. प्रवचनसारोद्धार, 1492-1508.
11. विशेषावश्यकभाष्य, 777-807.
12. तत्त्वार्थवृत्ति, 3/36.
13. तिलोयपण्णत्ती, 4/969-1023.

1. **केवलज्ञान** – चार घातिया कर्मों अर्थात् ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय तथा अन्तराय कर्मों के क्षीण होने पर पूर्ण अतीन्द्रिय ज्ञान केवलज्ञान की प्राप्ति।

2. **अवधिज्ञान** – अवधिज्ञान रूपी (स्पर्श, गन्ध, रस, वर्णयुक्त) पदार्थों के त्रैकालिक पदार्थों को जानने की क्षमता।

3. **मन:पर्याय** – संज्ञी जीवों के मनोगत भावों को सामान्य रूप से जानने की सामर्थ्य।

4. **बीजबुद्धि** – सुने हुए ग्रन्थ के एक बीजपद को जानने से ही अनेक पदों और उनके अर्थों को जानने की क्षमता।

5. **कोष्ठकबुद्धि** – गुरु-मुख से एक ही बात स्मृत, श्रवित एवं पठित ज्ञान को अक्षरश: ग्रहण कर स्मृति में सुरक्षित रखने की क्षमता।

6. **पदानुसारी** – एक पद के आधार पर पूरे श्लोक या सूत्र को जान लेने की क्षमता।

7. **संभिन्नस्रोत** –प्रत्येक अंग से सुनने की क्षमता तथा सभी इन्द्रियों द्वारा एक दूसरे का कार्य करने की सामर्थ्य।

8. **दूरस्वादित्व** – जिह्वा इन्द्रिय के उत्कृष्ट विषयक्षेत्र के बाहर संख्यात योजनों के विविध रसों को जान लेने की क्षमता।

9. **दूरदर्शित्व** – चक्षुरिन्द्रिय के उत्कृष्ट विषय क्षेत्र के बाहर संख्यात योजनों में स्थित द्रव्यों को देखने की सामर्थ्य।

10. **दूरस्पर्शत्व** – स्पर्शनेन्द्रिय के उत्कृष्ट विषय क्षेत्र के बाहर संख्यात योजनों तक आठ प्रकार के स्पर्शों को जान लेने की क्षमता।

11. **दूरघ्राणत्व** – घ्राणेन्द्रिय के उत्कृष्ट विषय क्षेत्र के बाहर संख्यात योजनों तक बहुत प्रकार के गंधों को ग्रहण करने की योग्यता।

12. **दूरश्रवणत्व** – श्रोत्रेन्द्रिय के उत्कृष्ट विषय क्षेत्र के बाहर संख्यात योजन पर्यन्त तक स्थित मनुष्यों-तिर्यञ्चों के अक्षर-अनक्षर रूप शब्दों को सुनने की सामर्थ्य।

13. **दशपूर्वित्व** – मुनियों के दशपूर्व के पढ़ने में 500 महाविद्याओं और 700 लघुविद्याओं के देवता आकर आज्ञा मांगते हैं। उस समय जो मुनि जितेन्द्रिय

होकर उन विद्याओं की इच्छा नहीं करते वे 'विद्याधर श्रमण' इस पर्याय नाम से भुवन में प्रसिद्ध होते हुए अभिन्न दशपूर्वी कहलाते हैं। उन मुनियों की बुद्धि दशपूर्वी जानी जाती है।

14. **चतुर्दशपूर्वित्व** – सम्पूर्ण श्रुत अर्थात् चौदह पूर्वों में पारंगतता।

15. **अष्टांगमहानिमित्त** – नभ, भौम, अंग, स्वर, व्यंजन, लक्षण, चिह्न और स्वप्न – इन आठ भेदों सहित निमित्त ज्ञान में कुशलता प्राप्त होना।

16. **प्रज्ञाश्रमण अथवा प्राज्ञश्रमण** – अध्ययन के बिना ही चौदह पूर्वों में से अतिसूक्ष्म विषय का निरूपण करने में कुशलता। यह ऋद्धि औत्पत्तिकी, पारणामिकी, वैनयिकी और कर्मजा भेद से चार प्रकार की होती है।

    इनमें से पूर्व भव में किए गये श्रुत के विनय से उत्पन्न होने वाली औत्पत्तिकी, निज-निज जाति में उत्पन्न हुई पारिणामिकी, द्वादशांग श्रुत के योग्य विनय से उत्पन्न होने वाली वैनयिकी और उपदेश के बिना ही विशेष तप की प्राप्ति से आविर्भूत हुई चतुर्थ कर्मजा प्रज्ञाश्रमणऋद्धि कहलाती है।

17. **प्रत्येकबुद्धि** – गुरु के उपदेश के बिना ही कर्मों के उपशम से सम्यग्ज्ञान और तप के विषय में प्रगति।

18. **वादित्व** – शक्रादि के पक्ष को भी बहुत वाद से निरुत्तर कर देना और पर के द्रव्यों की गवेषणा करना।

विक्रियाऋद्धि या वैक्रियऋद्धि [1]–

शरीर को छोटा, बड़ा, भारी, हल्का आदि करने की क्षमता। यह 11 प्रकार की मानी गई है –

1. **अणिमा** – शरीर को अणु के समान छोटा बनाने की क्षमता।
2. **महिमा** – शरीर को मेरु के बराबर बड़ा बनाने की सामर्थ्य।
3. **लघिमा** – शरीर को वायु से भी हल्का बनाने की क्षमता।
4. **गरिमा** – शरीर को वज्र से भी अधिक भारी बनाना।
5. **प्राप्ति** – भूमि पर खड़े रहकर अंगुली से मेरु, सूर्य, चन्द्रादि को छू लेने की सामर्थ्य।
6. **प्राकाम्य** – जल के समान पृथ्वी पर भी उन्मज्जन – निमज्जन क्रिया करना और पक्षी के समान जल पर भी गमन करना।

1. तिलोयपण्णत्ती, 4/1024-32.

7. **ईशित्व** – समस्त जगत् पर प्रभुत्व प्राप्त करना।

8. **वशित्व** – तप द्वारा समस्त जीवों को वश में करना।

9. **अप्रतिघात** – शैल, शिला या वृक्षादि के मध्य में होकर आकाश के समान गमन करने की सामर्थ्य।

10. **अन्तर्धान** – अदृश्य होने की सामर्थ्य।

11. **कामरूपित्व** – एक साथ अनेक रूप निर्माण करने की सामर्थ्य।

क्रियाऋद्धि [1]–

चारण और आकाशगामित्व भेद से क्रियाऋद्धि से दो प्रकार की मानी गई है –

चारणऋद्धि – चारण, चारित्र, संयम, पापक्रियानिरोध – इनका एक ही अर्थ है। इसमें जो कुशल अर्थात् निपुण हैं वे चारण कहलाते हैं। चारण ऋद्धि के जलचारण, जंघाचारण, फलचारण, पुष्पचारण, पत्रचारण, अग्नि-शिखाचारण, मकड़ीतन्तुचारण आदि पुनः कई प्रभेद किये गये हैं।

1. **जलचारण** – जलकायिक जीवों को कष्ट दिये बिना समुद्र के मध्य जाने तथा दौड़ने की क्षमता।

2. **जंघाचारण** – चार अंगुल प्रमाण पृथ्वी को छोड़कर आकाश में घुटनों को मोड़े बिना बहुत योजनों तक गमन करने की सामर्थ्य।

3. **फलचारण** – वनफलों में रहने वाले जीवों की विराधना न करके उनके ऊपर चलना।

4. **पुष्पचारण** – बहुत प्रकार के फूलों में रहने वाले जीवों की विराधना न करके उनके ऊपर से चलना।

5. **पत्रचारण** – बहुत प्रकार के पत्तों में रहने वाले जीवों की विराधना न करके उनके ऊपर से गमन करना।

6. **अग्निशिखाचारण** – अग्निशिखाओं में स्थित जीवों की विराधना न करके उन विचित्र अग्निशिखाओं से गमन करना।

7. **मकड़ीतन्तुचारण** – शीघ्रता से किये गये पद विक्षेप में अत्यन्त लघु होते हुए मकड़ी के तन्तुओं की पंक्ति पर से गमन करना।

1. तिलोयपण्णत्ती, 4/1033-45.

योगशास्त्र की स्वोपज्ञवृत्ति में चारणऋद्धि के उपर्युक्त भेदों के अतिरिक्त श्रेणीचारण, धूमचारण, नीहारचारण, अवश्यायचारण, मेघचारण, वारिधाराचारण, ज्योतिरश्मिचार तथा वायुचारण आदि लब्धियों का उल्लेख भी मिलता है।

आकाशगामित्व – आकाश में आने-जाने की विशिष्ट शक्ति प्राप्त होना।

तपऋद्धि [1]–

तपऋद्धि के 7 भेद माने गये हैं – 1. घोरतप, 2. महातप, 3. उग्रतप, 4. दीप्ततप, 5. तप्ततप, 6. घोरगुणब्रह्मचारिता और 7. घोरपराक्रमता।

1. **घोरतप** – सिंह, व्याघ्र, चीता, स्वापद आदि दुष्ट प्राणियों से युक्त गिरिकन्दरा आदि स्थानों में और भयानक श्मशानों में तीव्र आतप, शीत आदि की बाधा होने पर भी घोर उपसर्गों का सहना।

2. **महातप** – पक्ष, मास, छहमास और एक वर्ष का उपवास करना अथवा मतिज्ञानादि चार सम्यग्ज्ञानों के बल से मंदरपंक्ति सिंहनिष्क्रीडित आदि सभी महान् तपों को करना।

3. **उग्रतप** – पंचमी, अष्टमी और चतुर्दशी को उपवास करना तथा दो या तीन बार आहार न मिलने पर तीन, चार अथवा पांच उपवास करना। धवला तथा तिलोयपण्णत्ती में उग्रतप के दो उपभेद माने गये हैं – उग्रोग्रतप और अवस्थिततप। दीक्षोपवास आदि को करके आमरणांत एक-एक अधिक उपवास को बढ़ाकर निर्वाह करना उग्रोग्रतप है। दीक्षा के लिए एक उवास करके पारणा करना, पुन: एक दिन के अन्तर से उपवास करके पारणा करना। इस प्रकार किसी निमित्त से एक उपवास के स्थान पर दो उपवास (षष्ठोपवास) करना, फिर दो से विहार करते हुए अष्टम, दशम और द्वादश आदि के क्रम से उपवासों को जीवनपर्यन्त बढ़ाते जाना, पीछे न हटना, अवस्थित उग्रतप कहलाता है।

4. **दीप्ततप** – शरीर से बाहर सूर्य जैसी कान्ति का निकलना।

5. **तप्ततप** – तपे हुए लौहपिण्ड पर गिरी हुई जल की बूँद की तरह आहार ग्रहण करते हुए आहार का पता न लगना अर्थात् आहार का पच जाना।

6. **घोरगुणब्रह्मचारिता या अघोरब्रह्मचारित्व** – मुनि के क्षेत्र में भी चोर आदि की बाधाएँ, काल महामारी और महायुद्ध आदि का न होना अथवा सब गुणों के आश्रय से महर्षि का ब्रह्मचारित्व अघोर (शान्त, अखण्डित) रहना।

1. तिलोयपण्णत्ती, 4/1049-57.

7. **घोरपराक्रम** – मुनियों को देखकर भूत, प्रेत, राक्षस, शाकिनी आदि का डर जाना।

बलऋद्धि [1]–

बलऋद्धि के तीन भेद हैं – 1. मनोबल, 2. वचनबल और 3. कायबल।

1. **मनोबल** – अन्तर्मुहूर्त में सम्पूर्ण श्रुत को चिन्तन करने की सामर्थ्य।
2. **वचनबल** – अन्तर्मुहूर्त में सम्पूर्ण श्रुत को पाठ करने की सामर्थ्य।
3. **कायबल** – महीनों तक एक ही आसन से बैठे या खड़े रहने की क्षमता अथवा अंगुली के अग्रभाग से तीनों लोकों को उठाकर दूसरी जगह रखने की सामर्थ्य का होना।

औषधऋद्धि [2]–

औषधऋद्धि आठ प्रकार की है। जिन योगियों-मुनियों के कफ, श्लेष्म, विष्ठा, कान का मल, दांत का मल, आंख और जीभ का मल, हाथ आदि का स्पर्श, विष्ठा, मूत्र, केश, नख आदि कथित या अकथित सभी पदार्थ औषध रूप बन जाते हैं और उनसे प्राणियों के असाध्य रोग भी नष्ट हो जाते हैं, वे औषधऋद्धि के धारी होते हैं। ये ऋद्धियाँ आठ प्रकार की होती हैं –

1. **आमर्शौषधि** – योगी के हाथ-पैर आदि के स्पर्शमात्र से प्राणी का नीरोग हो जाना।
2. **क्ष्वेलौषधि** – योगी की लार, कफ, अक्षिमल और नासिकामल से जीवों का रोगों का विनाश।
3. **जल्लौषधि** – योगी के स्वेद, पसीने आदि से रोगों का नाश।
4. **मलौषधि** – योगी के जिह्वा, ओष्ठ, दांत, श्रोत्रादि के मल से जीवों के समस्त रोगों का नष्ट होना।
5. **विप्रौषधि** – योगी के मूल, विष्ठा आदि से जीवों के भयानक रोगों का नाश।
6. **सर्वौषधि** – योगी के स्पर्श किये हुए जल व वायु तथा रोम और नख आदि से व्याधि का निराकरण।

1. तिलोयपण्णत्ती, 4/1061-66.
2. वही, 4/1067-76.

7. **मुखनिर्विष** – योगी के वचनमात्र से तिक्तादि रस व विष से युक्त विविध प्रकार के अन्न का निर्विष होना। आस्यनिर्विष मुनि के वचन के श्रवण मात्र से ही व्याधियुक्त मनुष्य का स्वस्थ हो जाना।

8. **दृष्टिनिर्विष** – योगी द्धारा रोग और विष से युक्त जीव को देखने मात्र से उसका नीरोग हो जाना।

रसऋद्धि [1]–

इसके 6 भेद हैं –

1. **आशीर्विष** – योगी द्धारा किसी प्राणी को 'मर जाओ' ऐसा कहने पर उस प्राणी की तत्क्षण ही मृत्यु हो जाना।

2. **दृष्टिविष** – किसी क्रुद्ध मुनि के द्धारा किसी प्राणी के देखे जाने पर उस प्राणी की उसी समय मृत्यु हो जाना।

3. **क्षीरास्रावी** – योगी के हाथ में आए हुए नीरस भोजन एवं वाणी का क्षीर के समान मधुर एवं सन्तोषजनक हो जाना।

4. **मध्वास्रावी** – योगी के हाथ में आए हुए नीरस भोजन एवं वाणी का मधु के समान मधुर हो जाना अथवा योगी के वचनों का मधु आदि द्रव्य के समान हो जाना।

5. **सर्पिरास्रावी** – योगी के हस्तगत नीरस भोजन एवं वाणी का घृत के समान स्निग्ध होना।

6. **अमृतस्रावी** – योगी के हस्तगत नीरस भोजन एवं वाणी का अमृत के समान विशुद्ध एवं निर्मल हो जाना।

क्षेत्रऋद्धि [2]–

क्षेत्रऋद्धि के दो भेद हैं – 1. अक्षीणमहानसऋद्धि और 2. अक्षीणमहालयऋद्धि।

1. **अक्षीणमहानस ऋद्धि या अक्षीणमहानसिक** – किसी मुनि या साधु द्धारा किसी के घर में भोजन किये जाने पर भिक्षा या भोजन की कमी न होना।

2. **अक्षीणमहालय** – किसी मुनि या साधु द्धारा किसी मन्दिर में निवास करने पर उस स्थान में समस्त देव, मनुष्य और तिर्यञ्चों को बाधारहित निवास करने की शक्ति प्राप्त होना।

1. तिलोयपण्णत्ती, 4/1077-85.
2. तिलोयपण्णत्ती, 4/1088-91.

भारतीय ध्यान-योग की समृद्ध एवं वैभवशाली परम्परा के प्रस्थापक महर्षि वेदव्यास, महर्षि पतंजलि, आचार्य कुन्दकुन्द आदि जैसे अनेक साधक एवं सिद्ध-महर्षियों ने ध्यान-योगसाधना के लिए जिस प्रकार की प्रक्रिया की प्ररूपणा की है, वह मूलत: अधिकांश साम्यता के आधार पर ही स्थिर है। उनकी प्रक्रिया में बतलाये गये योगांगों का क्रम व स्वरूप कदाचित् अनुक्रम में हो या न हो परन्तु उससे उपलब्ध होने वाली सिद्धि के लिए सभी एकमत एवं निश्चितमत दिखाई देते हैं। और यही इस परम्परा का महत्त्वपूर्ण अवदान है।

आचार्य शुभचन्द्र ने भी इसी स्थापित परम्परा को समय एवं परिवेश के अनुकूल प्रस्तुत कर योग एवं ध्यान को सरल बनाने के साथ ही गौरवपूर्ण भी बनाया है। उनके द्वारा निरूपित प्रक्रिया जहाँ वैज्ञानिक वर्गीकरण एवं महाकाव्य जैसे प्रवाहमान कथानक की तरह व्यवस्थित है, वहीं सांगोपांग विवेचन के कारण उपादेय एवं सद्य: सफलता प्रदान करने वाली है।

अष्टम अध्याय
उपसंहार

योग विद्या इस भारत धरा की ही उत्कृष्ट और अति प्राचीन काल से आई विद्या है। परम तत्त्व पारगामी मनीषी अर्हत्पुरुषों एवं तीर्थंकरों ने जिज्ञासा और विचारणा तक ही न रहकर अन्तरात्म क्षितिजों के पार स्वयं आनन्द मूर्ति ज्ञानघन रूप में ही अपने को विकसित भी किया था। योग विज्ञान का उत्स प्राणी-जीवन के परिष्कार को, निर्मल सत्य आनन्द स्वरूप को लक्ष्य करके तथा उसको ही समर्पित होकर इस भारत धरा पर उन्होंने किया।

विश्व के अखिल धर्मों का एक ही स्रोत रहा है। सद्धर्म वही है जो मानव को दुःख मुक्त करके निर्मल आनन्द स्वरूप में धृत रखे। मूल सद्धर्म के ही मूल आधार तत्त्वों को लेकर विभिन्न संप्रदाय परिपुष्ट हुए हैं। विभिन्न दर्शन-भूमियों पर से ही नानात्व दृष्टिगोचर होता है। निर्मल आत्म स्वरूप की अन्तर्दृष्टि पर तो प्राणीमात्र समान रूप से चेतन तत्त्व ही दीख पड़ता है। जब परम शिव प्रभु हिरण्यगर्भ वृषभेश्वर ने इस विश्व को इस युग के आरम्भ में सर्वप्रथम योगशासन दिया तब मानव जाति नाना मतों तथा संप्रदायों में विभक्त न थी। उस योगमय धर्म-प्रवर्तन में एक ही सद्धर्म की दृष्टि थी, एक ही निर्मल आत्म ज्ञान की अवधारणा थी। यह समूची मानव जाति के लिए थी। इसकी सीमाएँ किसी एक प्रदेश या कालखण्ड के लिए नहीं थी। यह शाश्वत धर्म अवतारणा थी।

सर्व योगीजन, आगम, मनीषी पुरुष तथा प्राचीन संप्रदाय एक स्वर से हिरण्यगर्भ प्रभु को ही आदि पूर्णपुरुष तथा योग के प्रवक्ता स्वीकार करते हैं। जैन परम्परा उन्हें हिरण्यगर्भ कहने के अतिरिक्त प्रथम तीर्थंकर आदीश्वर आदि भी कहती है। वेद रचना से पूर्व योगविद्या उस योग शासन में परिपक्व हो चुकी थी, यह एक सर्वमान्य तथ्य है। सम्पूर्ण जीवन की विशिष्ट पद्धति रूप यह योग सारे विश्व में प्राचीनतम विद्या है। इसके प्राणदायी तत्त्वों को अपनी-अपनी धारणा तथा दर्शन मान्यता अनुसार सर्वत्र ग्रहण किया गया है। एक समान सूत्र की तरह यह योग सर्वधर्म-संप्रदायों की एकमूलता को भी प्रकट करता है। यह योग वेदपूर्व प्रागैतिहासिक काल से जुड़ा है। इसमें आत्मा की मौलिकता निर्मलता तथा अनेकान्त दृष्टि आदि वे तत्त्व हैं, जो मानव के सद्रूपान्तरण के लिए मूलभूत हैं, तथा राष्ट्रीय एकीकरण, सर्वधर्मसमादर, मानसिक उत्क्रान्ति के लिए भी आधारभूत हैं।

वेदों की तुलना में उपनिषद्, जैन आगम तथा बौद्ध त्रिपिटक आदि अर्वाचीन समझे जाते हैं। परन्तु यह निश्चित है कि अर्वाचीन समझे जाने वाले आगम साहित्य में जो आध्यात्मिक चिन्तनधारा पाई जाती है, वह अति प्राचीनतम काल से ही चली आ रही है।

उसका स्रोत सुदूरवर्ती अतीत में से ही प्रवाहित होता आया है। वही कालान्तर में लिपिबद्ध होकर बहुत अंशों में अद्यावधि सुरक्षित है। यह सुनिश्चित है कि योग शासन के पुरस्कर्ता हिरण्यगर्भ ऋषभदेव ही है, जिनकी ऋग्वेदादि में स्तुतियाँ हैं। वेद सूक्तों पर सायणभाष्य तो अपेक्षतया अर्वाचीन है और यह सचाई है कि सायण ने श्री शंकर पूज्यपाद से प्रभावित और प्रेरित होकर वेद मंत्रों के अर्थ करने के कई जगह प्रयत्न किए हैं। वेद उपदेश ही नहीं, इतिहास भी है, उस इतिहास के साथ भारत की गौरवशाली प्राचीन गाथाएँ भी जुड़ी हुई हैं। वे गाथाएँ उन प्राचीन त्रेसठशलाका पुरुषों से जुड़ी हैं, जिनसे भारत के आलोकमय अध्याय बने। उनसे ही हमारी धर्म, संस्कृति और सारी विद्याओं के उत्स जुडे हैं।

तीर्थंकर और अर्हत्पुरुष वीतरागी और निर्ग्रन्थ रहे, वे मात्र प्रवचन करते थे, अत: ग्रन्थ रचनाएँ नहीं की। जैन आगम तथा योग रचनाएँ बहुत बाद में उस सरस्वती काल में आरम्भ हुई जिसका पता मथुरा की कंकाली टीले के उत्खनन से प्राप्त सरस्वती एवं जैन मूर्तियों से चलता है। इसके बाद तो दक्षिण और फिर उत्तर भारत के कई समर्थ आचार्यगणों ने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रणयन किए।

आगमशास्त्र, निरुक्तियों आदि के अतिरिक्त योग विषयक रचनाओं में ध्यानशतक या ध्यानाध्ययन, ज्ञानार्णव, तत्त्वानुशासन, योगसारप्राभृत, योगमार्ग, योगामृत, आदिपुराण, समाधितन्त्र, इष्टोपदेश, तत्त्वार्थसूत्र तथा उसकी अनेक टीकाएँ, परमात्मप्रकाश, द्रव्यसंग्रह आदि के अलावा प्रवचनसार, समयसार, नियमसार, रयणसार, अष्टपाहुड, पंचास्तिकाय, समयसारकलश, पुरुषार्थसिद्धचुपाय, आत्मानुशासन आदि दिगम्बर रचनाएँ हैं तथा योगसंदृष्टियाँ आदि, हेमयोगशासन आदि श्वेताम्बर रचनाएँ भी हैं। बाद की रचनाओं में समयसारनाटक, छहढाला, ब्रह्मविलास, अध्यात्मरहस्य, ध्यानोपदेश, चिद्विलास, अनुभवप्रकाश, ज्ञानदर्पण तथा योगप्रदीप आदि अन्य दिगम्बर रचनाएँ हैं।

प्रकट ही जैनों में विपुल योग तथा अध्यात्म साहित्य रचनाएँ हैं। इनमें वह चिन्तन पर्याप्त प्रस्तुत हुआ है जो मूलत: प्राचीन रहा है। यही कारण है योग के लक्ष्य, स्वरूप तथा मोक्षादि तत्त्व प्रतिपादन में जैनदृष्टि एक स्वर से समान ही रहती आई है, जो इसकी विशिष्ट मौलिकता है। जबकि यह बात अन्य सम्प्रदायों में मोक्षादि अवधारणा के सम्बन्ध में नहीं देखी जाती। जैन अध्यात्म परम्परा में अब भी आचार्य एवं मुनिजनों का विहार है, यद्यपि सर्वज्ञ तीर्थंकरों का इस भूभाग में विहार नहीं है। यह परम्परा चाहे कई शाखाओं में विभक्त हो गई, पर फिर भी सिद्धान्तादि तथा योग तत्त्वों में मौलिक रूप से एक तथा समान है। समर्थ आचार्यगणों ने परम्परा से प्राप्त तीर्थंकर प्रवचन तथा ज्ञान को अवधारित करके

व्याख्याओं आदि के रूप में यथा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से पुन: पुन: विवेचित किया है। सर्वज्ञ तीर्थंकरों के वचन सूक्ष्म रूप में अद्यावधि अपनी सम्पूर्ण ज्योति-शक्तियों के साथ गगन मण्डल में स्पंदित हैं और साधक योगीजनों को उन वचनों में निहित महिमामय सद्संकल्पों के प्रत्यक्ष चित्रमय दर्शन और अनुभव भी होते रहे हैं। उनमें आज भी उनके अभिमुख होने पर मानव को मानवता तथा देवत्व में प्रतिष्ठित करने की क्षमताएँ वर्तमान हैं। योग का मार्ग सर्वत्र अर्हत्पुरुषों जिनेश्वरों के चरण चिह्नों से सुस्पष्ट चिह्नित है, इससे स्वपुरुषार्थ से, आत्म शरण लेने से अन्तर्यात्रित होने पर चला जाता है।

यह योग शासन जैनों में मुत्ति-मग्ग या मुक्तिमार्ग वा तपोयोग के नाम से जाना जाता रहा है। इसमें जीवन दर्शन के अतिरिक्त ध्यान, चारित्र, तप, अहिंसा आदि अनेक उपाय रत्नत्रय रूप मोक्षमार्ग का कथन है। ऋषिगणों ने इसे श्रेष्ठ विद्या स्वीकार किया - "**सा विद्या या विमुक्तये**" - ऐसा उद्घोष किया।

अर्हत्पुरुषों ने मानव की अभिव्यक्ति को सुधारने हेतु तथा दु:ख मुक्ति के हेतु मानव के अन्तर्निहित प्रभु-तत्त्व को ही बाहर प्रकट करने के प्रयत्न दिए हैं, मानव की वर्तमान चेतना को अन्य परम चेतना में उर्ध्वीकरण के उद्योग किए हैं। उनके निकट वर्ण, जाति, कुल, मत, पन्थ आदि के ग्रहण तथा भेद रेखाएँ भी महत्त्वहीन रही हैं। वे सर्व कृत्रिम भेद सीमाओं से परे, स्वयं मानव के ही परम सत्य के खोजी और प्रवक्ता रहे हैं। यह परम सत्य ही मानव में सदा से विद्यमान रहा है और विकास की प्रतीक्षा में है। उस सत्य के निरावरण में दर्शन और आराधन ही मुख्य तत्त्व हैं। उस दर्शन को उन्होंने निर्विकल्प होकर प्राप्त किया। दर्शन का ही विस्तार ज्ञान है। वह ज्ञान समग्र अस्तित्व का है। समग्र अस्तित्व के दर्शन से ही समग्र ज्ञान का प्रतिफल मिलता है।

अपने दर्शन तथा ज्ञान से बड़ा या उच्चतर न कोई तत्त्व है, न द्रव्य है। आत्मा स्वयं अपना ईश्वर है, नियामक है। अत: वही एक मात्र शरण है। पंचपरमेष्ठी इस आत्मा के ही स्वरूप हैं। परमेष्ठी का अर्थ है जो परम स्वरूप आत्मा में स्थित है। यही तो मानव आत्मा का परम प्राप्तव्य है। यह प्राप्त ही है - मात्र विकसित होने तथा आवरण क्षय होने की ही प्रतीक्षा है। मानव की सर्व इयत्ता अपने परम ज्ञान के उद्घाटन तक ही है - अर्थात् सर्वज्ञता ही इयत्ता है या कहें वही अनन्तता है। स्व तथा पर सब तत्त्वों तथा द्रव्यों की विद्यमानता ज्ञान तथा ज्ञान के द्वारा ही है। सब पर पदार्थ ही क्या - स्वयं आत्मा भी अपने अस्तित्व, सत्ता, परिचय, सिद्धि तथा सार्थकता के लिए आत्मा के चैतन्य ज्ञान की ऋणी है।

सत्य धर्म आत्मपरक व आत्मधर्म रूप ही हो सकता है, अनात्म या पर-स्वरूप रूप हो भी कैसे सकता है ? आत्मा का सहज स्वभाव दर्शन, ज्ञान रूप ही है और आत्मा

की परिणति तथा उपयोग परिणाम भी चिद्रूप है। इसी के अन्तरस्तत्त्व का प्रवचन अर्हत् तीर्थंकर करते हैं। इसके ही विस्तार मय चिन्तन में आगमों का सर्जन हुआ है और संक्षेप में यह निरक्षर ओंकार ध्वनि रूप है। यही सद्धर्म सदा जीवन्त है। इसका उन्मेष या साक्षात्कार चिन्तन-ध्यान की पराकाष्ठा में, निश्चिंतना के कालजयी क्षण में सम्भव होता है।

आत्मतत्त्व की मान्यता, निष्ठा, श्रद्धा ही इस योग धर्म का आधार है। यह मान्यता ही अन्त:प्रविष्ट होकर साकार तथा साक्षात्कार को प्राप्त कराती है। यही आगमचक्षु की सद्दृष्टि को ग्रहण करके परम सत्य के दर्शन को सम्भव कराती है। सम्यग्दृष्टि ही परम सत्य को आविर्भाव करके निरावरण देखती है। इसीलिए उसका स्वरूप सत्य संस्पर्शी होता है। निज अन्तर्यात्रा में, सम्यक्चारित्र में ज्ञान के अनुरूप जीवन स्थिरता में ही स्व-संवित्ति रूप परम आत्मतत्त्व का दर्शन समुपलब्ध होता है।

इस योग विज्ञान में दर्शन, ज्ञान और चारित्र की अखण्डता है। चारित्र ही सारे योग अभ्यास की चरम परिणति है।

यह आत्मा को आत्मा के निर्मल स्वरूप में योग कराने से सार्थक रूप ही योगविज्ञान है। विविक्त आत्मा के जो अव्यय, नित्य है, परिज्ञान में ज्ञान और सम्प्राप्ति (अवस्थिति) अन्तर्निहित ही है। इस अवस्था को ही विषमता से निवृत्ति और समता में प्रवृत्ति कहा जाता है। यह समता ही समाधि है। यह आत्म-परिस्पंदन रूप योगावस्था से अयोग की उत्कृष्ट अयोगिजिनेश्वर रूप आत्मावस्था में ले जाता है। वही पूर्ण योगावस्था है। यह किसी एक नय या दृष्टि की संकीर्णता से बंधा नहीं है। यह अनेकान्त आत्मा का प्रतिपादक और प्रतिष्ठापक है।

आत्मविशुद्धि ही अध्यात्म का केन्द्रीय विषय है। अत: यह विज्ञान मानव व्यक्ति को आत्मकेन्द्रित करता है। मानव सामाजिक प्राणी है - समाज में वह जन्मता है और समाज में ही शिक्षित तथा दीक्षित होता हुआ जीवन-यापन के साधन पाता है। उसमें जीवन की सार्थकता, अनुशासन, तप, त्याग आदि समाज के माध्यम से ही पनपते हैं। वैसे समाज भी व्यक्ति का ही विस्तार है। व्यक्तियों से ही समाज बनता है। यह सत्य है कि जो व्यक्ति आत्मकेन्द्र का परिचय पा लेता है, वही आत्मा के जीवन की निर्मलता में स्नात हो जाता है और वही समाज में फिर निर्मलता के मूल्यों को, नैतिकता के मूल्यों को स्थापित भी कर सकता है। आत्मज्ञान बिना व्यक्ति में सत्ता, धन आदि का मद बढ़ जाता है और वह अपना और समाज की सेवा कर सकने के बजाय अपकार ही अधिक करता है। आत्मज्ञान की सामाजिक उपादेयता बहुत है। धर्म संस्थापन का आधार यही ज्ञान मानव

को परमार्थ के लिए संकल्पवान बनाता है। सर्वज्ञ पुरुषों ने प्रकट किया है कि आत्मा के मौलिक निर्मल स्वरूपों के आलेख पहले तो लेश्या वर्णों में, तदनन्तर अलेश्य वर्णों में प्रकट होते हैं, जो आनन्दमग्न कर देते हैं। अर्हत्पुरुषों के संकल्प साधकों को आज भी वर्ण और अवर्ण रूपों में बिम्बित हुए अनुभव में आते हैं और इनकी अनुभूतियाँ ही जीवन की सबसे बड़ी सम्पदा के रूप में होती है। योगचर्या से ही मानव मानसिक-शारीरिक व्याधियों, चिन्ताओं तथा तनावों से मुक्त होकर चेतना के निर्मलतर स्वभाव में आरोहण कर लेता है। इसकी सन्तचर्या में उन प्रशान्त रागद्वेष-मोह-कषाय विवर्जित प्रकंपनों का आकर्षण होता है जो वीतराग निर्ग्रन्थ सर्वज्ञ पुरुषों तथा तीर्थंकरों की अध्यात्म साधना के नि:श्वास रूप अन्तरिक्षों में अद्यावधि विद्यमान है। व्यक्ति और समाज दोनों को ही योगमार्ग कल्याणकारी है। यह व्यक्ति और समाज की टकराहट को दूर करके दोनों में समता के भाव देता है।

इस योग शासन के लक्ष्य, स्वरूप, उपलब्धि, उपलब्धियों की विधियों तथा अनुभव की विलक्षणताओं से सब ही उल्लसित हो सकते हैं - यदि इसकी शिक्षाओं का अनुपालन करें। आधुनिक विज्ञान प्रसार से उन्मुक्त हुए बौद्धिक स्वतन्त्र वातावरण में तथा युग चेतना की मांग और प्यास के सन्दर्भों में यह आवश्यक ही है कि इस ज्ञान की शिक्षाओं को आगमीय व शास्त्रीय बस्तों के बंधन से बाहर लाकर पठनीय साहित्य के रूप में, प्रायोगिक अभ्यासों के रूप में, एक नई शैली में, शरीर विज्ञान, प्राणी विज्ञान, मनोविज्ञान आदि-आदि विज्ञानों के सन्दर्भों सहित परिभाषित तथा व्याख्यात करके प्रकाशित करें, ताकि इस विद्या का जीवन्त अलौकिक स्वरूप सर्व समाज के समक्ष प्रकट हो। उन आदर्श '**गुरूणां गुरु**' अर्हत् तीर्थंकर पुरुषों के उच्च लक्ष्य और प्रकाशमय संकल्पों तथा बिम्बों को रूपायित करने की स्थितियाँ भी इसी पर निर्भर हैं।

उपर्युक्त पुरातन जैन योगपरक चिन्तनाओं तथा साधना पद्धतियों से अनुप्राणित और तत्त्व परिपोषक अन्यान्य यौगिक परम्पराओं से अनुभावित आचार्य शुभचन्द्र का चिन्तन ज्ञानार्णव के रूप में परिस्फुटित हुआ। वह उनकी जैनयोग के क्षेत्र में अनुपम देन है।

आचार्य शुभचन्द्र की दर्शन और योग के क्षेत्र में जो देन है इसे एक असाधारण देन कहा जा सकता है। उन्होंने सरस, कोमलकान्त पदावलिपूर्ण काव्य शैली को दर्शन और योग जैसे विषय में अत्यन्त सफलता के साथ प्रयुक्त किया है। इसकी उपमा हम उस औषधि से दे सकते हैं जो कटु होती है किन्तु बहुत लाभकारी है। जिस पर सर्करा आदि का आवरण है। वैसी औषधि को लेने से रोगी व्यक्ति कठिनाई का अनुभव नहीं करता। वह मधुरता के साथ उदरगत हो जाती है और अद्भुत प्रभाव दिखा पाती है। इस शैली के बीज

आचार्य शुभचन्द्र को अपनी पूर्ववर्ती आचार्यों की रचनाओं में उपलब्ध थे, जिनका उन्होंने भरपूर उपयोग किया।

जैन योग के निरूपण की दृष्टि से ज्ञानार्णव ग्रन्थ में समग्रता के दर्शन होते हैं। आचार्य शुभचन्द्र ने अपने ग्रन्थ में एक सांगोपांग स्वतन्त्र विषय के रूप में योग को प्रस्तुत किया है। उनकी कलम एक ही दिशा को समुद्दिष्ट किये रही। अत: वहाँ जिन विषयों का समावेश वाँछित नहीं था, वह नहीं हो सका।

आचार्य शुभचन्द्र ने भावनात्मक दृष्टि से मन की पवित्रता को ध्यान योग के लिए प्रथम आवश्यकता के रूप में स्वीकार किया। इसके लिए उन्होंने प्रारम्भ में ही भावों की शुद्धता के लिए बारह भावनाओं का निरूपण किया, जो कि वैराग्य को उत्पन्न करने वाली और समता-सुख को जाग्रत करने वाली हैं। एकत्व, अन्यत्व आदि भावनाओं से अनुभावित योगी जब यह मानने लगता है कि "मैं तो सर्वत: एकाकी हूँ, अकेला आया हूँ, अकेला जाऊँगा, ये सब सांसारिक सम्बन्ध जिनकी श्रृंखलाओं में जकड़ा हूँ, मिथ्या है। ये सभी पदार्थ व व्यक्ति जिनके सम्मोह ने मुझे आत्मविस्मृत कर रखा है, सब अन्य हैं।" ध्यान में जाने की सामान्यत: यह पहली पृष्ठभूमि है। अतएव ग्रन्थकार ने इतना करने के पश्चात् साधक को ध्यान का प्रारम्भिक परिचय दिया है। जिससे वह एक संस्कार लिए आगे साधना के मार्ग पर गतिशील हो। उन्होंने जो आचार्य कुन्दकुन्द आदि पुरातन आचार्यों के अध्यात्म प्रधान ग्रन्थों को आश्रय बनाकर संक्षेप में ध्यान के शुभ, अशुभ और शुद्ध ये तीन भेद किए हैं, वह इनकी विवेचन पद्धति की अपनी निजी विशेषता है। इससे पूर्ववर्ती किसी आचार्य ने ध्यान के इन तीन भेदों का उल्लेख नहीं किया है। उपयोग के त्रिविध प्रकारों का अवश्य ही आचार्य कुन्दकुन्द, योगीन्दुदेव आदि ने प्रवचनसार और परमात्मप्रकाश आदि ग्रन्थों में विस्तृत विवेचन किया है।

ध्यान के विस्तृत वर्णन के प्रारम्भ में ही आचार्य शुभचन्द्र ने ध्याता पुरुष के स्वरूप का निर्देश करते हुए कौन-सा व्यक्ति ध्यान के योग्य होता है और कौन-सा अयोग्य, इस तरह ध्याता के गुण-दोषों की चर्चा विस्तारपूर्वक की है। जो अन्यत्र मिलना कठिन है। ध्यान की सिद्धि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की एकता रूप रत्नत्रय की शुद्धतापूर्वक होती है। क्योंकि रत्नत्रय आत्मा की निष्कलुष परिणति का नाम है। और चित्त की निर्मलता ही ध्यान सिद्धि का प्रमुख कारण है। तत्त्वार्थ का यथार्थ श्रद्धान, ज्ञान और पापाचरण से निर्वृत्ति होना रत्नत्रय का लक्षण है। सम्यग्ज्ञानी पुरुष रागद्वेष की निर्वृत्ति के लिए चारित्र को अंगीकार करता है। अतएव आचार्य शुभचन्द्र ने सम्यक्चारित्र के अन्तर्गत ध्यान के अंगभूत यम नामक योगांग का विस्तृत वर्णन करते

हुए, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पांच महाव्रतों का वर्णन किया है। द्वितीय नियम नामक योगांग का भी रत्नत्रय में ही समावेश हो जाता है। जिसकी चर्चा योगांगों के विवेचन में की जा चुकी है। आचार्य शुभचन्द्र स्वयं एक महान् योगी थे, अतः इन्हें योगमार्ग में आने वाली बाधाओं का स्वयं अनुभव प्राप्त था। इसलिए ही इन्होंने योग के पथ पर चलने वाले साधकों को इन बाधाओं से बचाने के लिए कषाय-निग्रह, इन्द्रियजय, रागद्वेषनिषेध, ब्रह्मचर्यपालन, स्त्रीसंसर्गनिषेध आदि की विस्तार से चर्चा की है। इसके साथ-साथ एक योगी में प्राणीमात्र के प्रति करुणाभाव और गुणीजनों के प्रति प्रमोदभाव, दुखी प्राणियों के प्रति करुणाभाव और धर्ममार्ग से विपरीत चलने वाले विरोधी जनों के प्रति माध्यस्थ भाव होना चाहिए। वृद्धजनों की सेवा को भी आचार्य शुभचन्द्र ने भावों की शुद्धता, विद्या, विनय और शील आदि की वृद्धि एवं परिपालन के लिए बहुत हितकारी माना है।

ग्रन्थकार ने धर्मध्यान के प्रसंग में साम्यभाव का विवेचन किया है। साम्यभाव को ही परमध्यान बतलाया है। फिर उन्होंने संसार के कारणभूत आर्त्तरौद्र ध्यानों का विवेचन किया है। इसके बाद वे आत्मोत्कर्षक ध्यान के मूल विषय पर आते हैं। उन्होंने सबसे पहले ध्यानविरुद्ध स्थानों का कथन किया है। जिनका योगी को वर्जन करना जरूरी है। फिर ध्यान के योग्य स्थान, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा आदि का वर्णन करते हुए धर्मध्यान पर आते हैं। इसका भेद सहित विस्तार से वर्णन किया है। फिर शुक्लध्यान का विवेचन किया है। जिसकी परिपूर्णता समाधि में होती है।

आत्मविकास के लिए ध्यान योग एक प्रमुख साधन है। भारतीय संस्कृति के समस्त चिन्तकों, विचारकों एवं मननशील ऋषि-मुनियों ने योगसाधना के महत्त्व को स्वीकार किया है। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध **भारतीय योग परम्परा और ज्ञानार्णव** में भारत के प्रमुख वैदिक, जैन, बौद्ध सम्प्रदायों में प्रचलित योग पद्धतियों पर विचार किया गया है।

वैदिक परम्परा में योग शब्द का समाधि एवं तप के रूप में प्रयोग किया गया है। लेकिन उपनिषदों में ध्यान का प्रचुरमात्रा में उल्लेख किया गया है। वहाँ ध्यान के द्वारा ही परमात्मा की प्राप्ति का निर्देश किया गया है। ध्यान के द्वारा चित्त एक बिन्दु पर केन्द्रित किया जाता है। गीता में भी भक्ति-योग, ज्ञानयोग एवं कर्मयोग के साथ ध्यानयोग के महत्त्व को बतलाया गया है। बौद्धयोग में भी ध्यान की अनेक क्रियाओं के विषय में बतलाया गया है। बौद्ध परम्परा में तो ध्यान का इतना महत्त्व बढ़ा कि वहाँ एक सम्प्रदाय ध्यानसम्प्रदाय के नाम से प्रख्यात हुआ।

जैन परम्परा में ध्यान का एक विशिष्ट एवं उच्च स्थान है। वहाँ ध्यान के पर्याय

के रूप में तप, समाधि, धीरोध, समरसीभाव एवं सवीर्यध्यान आदि का वर्णन किया गया है। चित्त को किसी एक विषय पर केन्द्रित करना अथवा मन, वचन एवं काय के निरोध को ध्यान कहते हैं।

ध्यान के चार प्रकारों को बतलाते हुए उसे दो भागों में विभक्त किया गया है। जो कि प्रशस्तध्यान और अप्रशस्तध्यान के अन्तर्गत आते हैं। आर्त्त एवं रौद्रध्यान अप्रशस्तध्यान हैं। आर्त्तध्यान एवं रौद्रध्यान संसार बंधन के हेतु माने जाते हैं। जो कि दु:खों से व्याप्त एवं समस्त क्लेशों से भरे हुए हैं। इन दोनों ध्यानों के चार-चार प्रभेदों की भी व्याख्या की गई है। प्रशस्तध्यान के अन्तर्गत धर्मध्यान एवं शुक्लध्यान आते हैं। धर्मध्यान आत्मविकास की प्रथम सीढ़ी हैं। इससे साधक को आत्मज्ञान की प्राप्ति होती है और आत्मज्ञान को प्राप्त करके वह अपने कर्मों को क्षीण कर देता है।

साधक जब ध्यान की पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है तब उसे शुक्लध्यान कहा जाता है। शुक्लध्यान योग की सर्वोच्च अवस्था मानी गयी है। धर्मध्यान को करते हुए साधक शुक्लध्यान की अवस्था में पहुँचता है। शुक्लध्यान में चित्त का पूर्ण निरोध हो जाता है। साधक के समस्त कर्मों का क्षय हो जाता है। और मन का आत्मा की सत्ता में विलय हो जाता है। इस ध्यान का फल मोक्ष है।

धर्म और शुक्लध्यान के भी चार-चार भेद निर्दिष्ट किये गए हैं। शुक्लध्यान के प्रथम दो ध्यान अर्थात् पृथक्त्ववितर्कवीचार एवं एकत्ववितर्कअवीचार शुक्लध्यान बौद्ध एवं पतंजलि के योगदर्शन से मिलते-जुलते हैं।

बौद्ध योग में बतलाये गए ध्यान के भेदों में वितर्क एवं वीचार ध्यान बतलाया गया है। सूक्ष्मक्रिया अप्रतिपाती शुक्लध्यान एवं वैदिक योग परम्परा में प्रयुक्त अध्यात्म प्रसाद और ऋतम्भरा में अर्थ साम्यता मालूम पड़ती है। पतंजलि के योगदर्शन में असम्प्रज्ञात समाधि का उल्लेख किया गया है। जो शुक्लध्यान के अन्तिम भेद समुच्छिन्न क्रियाअप्रतिपाती से साम्य रखती है। इस अवस्था में साधक की श्वासोच्छ्वास की क्रिया भी समाप्त हो जाती है और वह जीवनमुक्त हो जाता है।

चित्त को किसी एक स्वभाव में स्थिर करना ध्यान कहा गया है। जब तक चित्त को स्थिर नहीं किया जाता तब तक कर्मों की संवर-निर्जरा नहीं हो सकती और बिना संवर-निर्जरा के परम ध्येय की प्राप्ति नहीं होती। ध्यान या समाधि का निरूपण प्रकारान्तर से इस प्रकार किया जा सकता है कि जिसमें सांसारिक समस्त कर्मबन्धनों का विनाश हो ऐसे शुभचिन्तन स्वरूप का विमर्श करना। तप, समाधि धीरोध स्वान्तनिग्रह अन्त:संलीनता साम्यभाव समरसीभाव सवीर्यध्यान आदि का ध्यान के पर्यायरूप में

प्रयोग हुआ है।

ध्यान की प्रारम्भिक अवस्था में अन्तरंग में आने वाले विचार यथार्थ या अयथार्थ हो सकते हैं। अतः इन परिस्थितियों में इन विचारों का निरीक्षण करना होता है। निरीक्षण का मतलब है कि रागद्वेष भावना को उभरने न दें और जहाँ रागद्वेष की परम्परा नहीं रहती वहाँ शान्ति और समता का वातावरण रहता है। इसी वातावरण में ध्यान का निवास रहता है।

बिना ध्यान के योगी का ध्येय सिद्ध नहीं हो सकता। ध्येय साधना में योगी के अन्तरंग में सुदृढ़ निर्णय और धैर्य की आवश्यकता रहती है। यह योग्यता ध्यान के माध्यम से अनायास अर्जित हो जाती है। भले ही और कुछ भी प्राप्त हो न हो परन्तु आन्तरिक शान्ति अवश्य ही मिलती है, विक्षोभ आकुलता व्यग्रता मिटती है। ऐसे ही शान्त स्थिर मन में नव स्फुरणों का साम्राज्य रहता है। जैसे कहा भी है –

स्वस्थे चित्ते बुद्धयः प्रस्फुरन्ति

ध्यान की अवस्था में यह आवश्यक है कि व्यक्ति सतत् जागरूक रहे, मन के चक्कर में न पड़कर उससे ऊपर उठकर अपने स्वरूप में स्थिर रहे। आलस्य और नींद के त्याग के लिए नासाग्रदृष्टि रखना परम उत्तम है। चित्त को किसी एक वस्तु अथवा बिन्दु पर केन्द्रित करना एक कठिन साधना है। क्योंकि यह किसी भी एक विषय पर अन्तर्मुहूर्त से ज्यादा समय स्थिर नहीं हो सकता। चंचल मन जब तक जीता नहीं जाता तब ध्यान नहीं होता। जैसे जलाशय में निरन्तर प्रतिक्षण तरंगें उठती रहती हैं, वैसे ही मन में विचारों की तरंगें उठती रहती हैं। इन्हीं उठी हुई तरंगों को स्थिर करना योग है। यह राजयोग ध्यान के लिए उपयुक्त है। प्राणायाम आदि भी मन पर नियन्त्रण करने के लिए सहायक हैं। परन्तु जैनदर्शन में हठयोग की अपेक्षा राजयोग पर जोर दिया गया है। कारण रागद्वेष मन से उत्पन्न होने वाली तरंगें हैं। इसलिए अनेक प्रकार के ध्यान की सिद्धि और चित्त को स्थिर करने के लिए इष्ट-अनिष्ट पदार्थों में राग, द्वेष और मोह का त्याग करना आवश्यक है।

ध्यान की विधि में प्रथम मन को जीतना आवश्यक समझा गया है। जिसने अपने मन को वश में नहीं किया उसका ध्यान, तप, शास्त्राध्ययन, व्रतधारण और ज्ञान ये सब तुषखण्डन के समान व्यर्थ है। कारण मन के वशीभूत हुए बिना ध्यान की सिद्धि नहीं होती। जो मन को जीते बिना ध्यान की चर्चा करता है तो उसने ध्यान को अभी तक समझा ही नहीं। मन को जीतने के लिये मैत्री, प्रमोद, कारूण्य और माध्यस्थ इन चार भावनाओं का निरन्तर अभ्यास करना आवश्यक माना गया है। इन्हीं चार भावनाओं से पवित्रता व शुद्धता आती है। मन रागादि भाव से विमुक्त होता है। जैसे मैले दर्पण में रूप का अवलोकन

नहीं होता या किया नहीं जाता उसी प्रकार रागादि भाव से युक्त मन में शुद्ध आत्म-स्वरूप नहीं दिखाई देता या देखा नहीं जाता। एकाग्रचिन्तन से विषय और विषयी में एकरूपता आती है। इसी एकरूपता के कारण वहाँ कोई भेद नहीं रहता। और जहाँ भेद नहीं रहता वहाँ चेतना की अनुभूति होती है। एकाग्रता मन को वश करने में सहायक है। ध्यान एकाग्रता के आधार पर हो जाता है। आध्यात्मिकता की परम श्रेणी ध्यान है और एकाग्रता में अस्थिर मन स्थिर रत्नाकर के सादृश्य हो जाता है। अवचेतन में विचारों का दमन करने की अपेक्षा विसर्जन करना एकाग्रता और ध्यान के लिए उपयुक्त है। विचारों का विसर्जन सम्यक्पूर्वक प्राप्त किये गये ज्ञान द्वारा अन्तरंग दृष्टि में रखने पर होता है। क्योंकि जब बाह्य दृष्टि रहती है तब अन्तर्दृष्टि नहीं रहती। अत: विचारों का विसर्जन करने के लिये सम्यग्भावना की प्राप्ति परम आवश्यक है। कारण बिना सम्यग्दर्शन के सम्यग्ज्ञान नहीं होता और बिना सम्यग्ज्ञान के उत्तम चरित्र नहीं होता। इसी से विरहित किया हुआ तप और ध्यान व्यर्थ कहा जाता है।

प्रशस्त व अप्रशस्त ध्यान का अवलम्बन लेकर चित्त की एकाग्रता के प्रयास से दिव्य चिन्तामणि रत्न के समान शुद्ध आत्मा व खली के टुकड़ों के समान नि:सार सांसारिक विषय-भोगोपभोग की सामग्री को प्राप्त किया जा सकता है। जिस प्रकार दही को विलोकर उसमें से घी अलग निकाल लेते हैं। उसी प्रकार जो योगी आत्मा और शरीर को भिन्न-भिन्न समझने में चतुर हैं वे ध्यान के द्वारा इस शरीर से शुद्ध आत्मा को सर्वथा भिन्न कर लेते हैं।

इस प्रकार का ध्यान करने वाला ध्याता यम, नियम, व्रत, धारणा, कषायों का निग्रह और मन एवं इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखने की क्षमता वाला हो। अत: उसे इसी परम सिद्धि के लिए दुर्ध्यान (आर्त्त-रौद्रध्यान) असंयम, चपलता पर निरोध करना चाहिए। इसलिये वैराग्य, तत्त्वचिन्तन, परीषहजय आदि का उल्लेख है। पुन: पूरण, कुम्भक, रेचक, दहन, हवन, आसन, मन्त्र, मण्डल आदि का भी ध्यानावस्था में उपयोग होता है। इसके उपरान्त भी पूर्व संस्कारवश अशुद्धता, अतिचार, अशुभ विचार या बार-बार उपयुक्त रमणीय स्त्री का ध्यान आता हो उस समय उसी का ध्यान करते हुए और उसकी क्षणभंगुरतादि का परिवर्तन तत्त्व चिन्तन की धारा में कर देना चाहिए। इससे साधक के मन में अपने आप ऐसी परिस्थिति उत्पन्न होगी, जिससे साधक के मन में स्त्री आदि विषयक उदासीनता का भाव पैदा होगा और साधक का ध्यान शुभ प्रवृत्तियों में केन्द्रित होगा। अत: शुभ प्रवृत्तियों में ही सुखद मन की स्थिति होती है। इसलिए मन की शुद्धि के बिना सब क्रिया कलाप अनुष्ठान करना केवल कायक्लेश है। इसके लिए इन्द्रियों को विषयों से रोकना आवश्यक है। बिना इन्द्रिय विजय के कषायों पर विजय नहीं होगी।

कषायविजय से मन में शुद्धता आती है। इसी शुद्धता, स्थिरता में ध्याता को ध्यान में ध्येय के प्रति तल्लीनता आती है। इसी तल्लीनता से समग्र दोषों का परिहार होता है और आत्मज्ञान भी आत्मा द्वारा होता है इससे कर्म का क्षय होता है और कर्म क्षय से मोक्ष प्राप्ति होती है।

विषय और विषयी के आधार पर ध्यान के कई भेद किये जा सकते हैं। शास्त्रकार मनीषियों व दार्शनिकों ने भले ही ध्यान के अनेक प्रकार का निरूपण किया हो परन्तु उन्हें दो भेदों में विभक्त किया जा सकता है। वे दो प्रकार शुभ ध्यान और अशुभ ध्यान हैं। जैनाचार्यों ने प्रशस्त और अप्रशस्त नाम को स्वीकार किया है। बौद्धाचार्यों ने कुशल-अकुशल नामों से व्यवहार किया है और इसी शुभाशुभ को वैदिक परम्परा में क्लिष्ट और अक्लिष्ट नाम दिया है। जैनागम में प्रमुख चार भेद आर्त्त, रौद्र, धर्म और शुक्लध्यान हैं। प्रथम दो ध्यान को अप्रशस्त या अशुभ तथा शेष दो को प्रशस्त या शुभ ध्यान की संज्ञा दी गई है। प्रशस्त ध्यान ही मोक्ष प्राप्ति के हेतु माने गए हैं। ज्ञानार्णव में अप्रशस्त अर्थात् अशुभ, शुभ और शुद्ध इन तीनों भेदों का प्रकारान्तर से इसी के अन्तर्गत समावेश किया जा सकता है। पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ये चार ध्येय के भेद माने गए हैं। रामसेनाचार्य ने मात्र नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव ये चार प्रकार माने हैं। अतः इनकी यह विशेषता है। अन्यत्र ध्यान के 28 भेद और प्रभेद का उल्लेख देखने में आता है। अतएव उक्त चारों प्रकारों में इन्हीं सब भेद-प्रभेदों का समावेश हो जाता है। इसलिए आगम में वर्णित इन्हीं चार प्रकार का विवेचन यहाँ किया गया है।

राज्यादि भोगोपभोग, स्त्री, रत्न आदि अलंकार का वियोग न हो और इन्हीं की प्राप्ति की तीव्र अभिलाषा रखते हुए निरन्तर चिन्तन करना आर्त्तध्यान कहलाता है। क्रूर प्रवृत्ति धारण करना, अन्य जीवों के प्रति प्रतिकूलता रखना रौद्रध्यान है। हिंसा, चोरी, मैथुनादि कार्य में निरन्तर रत रहना आर्त्त-रौद्रध्यान है। दूसरे शब्दों में मनोज्ञ वस्तु के संयोगादि कारण, सांसारिक वस्तुओं में रागभाव रखना आर्त्तध्यान है। रागद्वेषात्मक भावों के कारण वांछनीय वस्तु के प्रति मोह होता है, मोह भाव रखना अज्ञान है। इसी अज्ञान भाव का परिवर्तन दुःख में होता है अतः इष्ट में सुख अनिष्ट में दुःख मानते हुए, इन्हीं के सम्बन्ध में निरन्तर सोचना आर्त्तध्यान है। इसी के कारण जीव भयभीत, शोकाकुल, संशयी, प्रमादी, विषयी और निद्रालु होता है। इसलिए बुद्धि स्थिर नहीं होती। विवेकहीनता की यही धारा छठे गुणस्थान तक रहती है। रौद्रध्यान में संक्षेप में सब पापाचार का अन्तर्भाव होता है। इसके भी चार भेद हैं - हिंसानन्द, मृषानन्द, चौर्यानन्द, परिग्रहानन्द। इससे पता चलता है कि इस ध्यान का ध्याता अपध्यान में लगा रहता है और इससे दूसरे प्राणियों को पीड़ा पहुँचती है। इस प्रकार का ध्यान वाला जीव अनुकम्पा

से रहित, नीच कर्मों में निर्लज्ज एवं पाप में ही आनन्द मानने वाला होता है यह ध्यान पहले से पाँचवे गुणस्थान में स्थित जीवों के होता है।

धर्म और शुक्लध्यान को सद्, शुभ या प्रशस्त माना है। इसी ध्यान में जीव का रागभाव परिणाम न्यून होता है और वह आत्मचिन्तन में लीन होता है। इसी दृष्टिकोण से इस ध्यान को आत्मविकास का प्रथम चरण माना गया है। द्वादशांग रूप जिनवाणी, इन्द्रिय, गति, काय, योग, वेद, कषाय, संयम, ज्ञान, दर्शन, लेश्या, भव्याभव्य, सम्यक्त्व, सैनी-असैनी, आहारक-अनाहारक इस प्रकार 14 मार्गणा, 14 गुणस्थान, 12 भावना, 10 धर्म का चिन्तन करना धर्मध्यान है। धर्मध्यान शुक्लध्यान की भूमिका है। शुक्ल ध्यानवर्ती जीव सातवें गुणस्थान में श्रेणी चढ़ना प्रारम्भ कर देता है। धर्मध्यान में बाह्य साधनों का आधार रहता है, परन्तु शुक्लध्यान में सिर्फ आत्मा का आलम्बन रहता है। इसी ध्यान में आत्मा और कर्म का युद्ध होता है। धर्मध्यान में कर्म को धमकाया जाता है और शुक्लध्यान में कर्म रूपी सेना का श्रुतज्ञान के सहाय से पराभव करने की योजना बनाई जाती है। तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानवर्ती जीवों में मन का अभाव रहता है। चौदहवें गुणस्थान में मन, वचन, काय इन त्रियोग का कम्पन नहीं रहता अत: यहाँ का ध्यान सर्वोत्कृष्ट कहा गया है और इन्द्रियनिग्रह की चरमोत्कृष्ट अवस्था यही है। रूपातीत ध्यान में ध्याता-ध्येय ध्यान आत्मा ही है।

अभ्यास की पूर्ण अवस्था होने पर मन को एकाग्र करने में समय की आवश्यकता नहीं रहती। सुबह के समय अवचेतन मन में विशेषत: कामशक्तियाँ या अन्य प्रवृत्तियों का प्रभाव रहता है, अत: ऐसे समय में मन को विचलित न होने देने के लिए ध्यान के लिए सुबह का समय निर्धारित किया गया है। विश्राम के पहले का समय भी योग्य माना है।

ध्यान के योग्य स्थान ऐसा हो जहाँ ध्यान भंग के कारण, बाधाएँ और उपद्रव की संभावना न हो। ध्याता को ऐसी जगह कभी भी ध्यान नहीं करना चाहिए कि जहाँ स्त्री, पशु, नपुंसक, राक्षस और कोलाहल हो। जिस स्थान पर ध्यान करना हो उसी स्थान पर आसन सुखदायक और ध्यान की मर्यादा टिक सके ऐसा हो। विक्षोभ के कारण न हों, सुखासन, सहज साध्य, ध्यान में व्याघात न पहुँचता हो, इस प्रकार का आसन और स्थान होना चाहिए। ध्यान के लिए अनेक आसनों का विधान किया गया है। उनमें पर्यंकासन और खडगासन मुख्य हैं।

आचार्य शुभचन्द्र ने पूर्ववर्ती आचार्यों की कृतियों को आधार बनाकर ज्ञानार्णव ग्रन्थ की रचना की है। अत: पूर्वाचार्यों के समान ही उनके वचन प्रामाणिक एवं संग्रहणीय माने जाते हैं। यही कारण है कि उत्तरवर्ती ग्रन्थकारों ने आचार्य शुभचन्द्र और उनके

ज्ञानार्णव को अपनी कृतियों में प्रमाण के रूप में उद्धृत किया। **स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा** की **भट्टारक शुभचन्द्र** (16 वीं शती) विरचित टीका में **तथा ज्ञानार्णवे** एवं इनके पूर्ववर्ती **पंडित आशाधर** (13 वीं शती) कृत **भगवती आराधना** की टीका में **उक्तं च ज्ञानार्णवे विस्तरेण** कहकर ज्ञानार्णव के कुछ श्लोक उद्धृत किये हैं।

आचार्य शुभचन्द्र का समय कल्पनाओं और अनुमानों पर आधारित है फिर भी उनके अनुसार जो तथ्य आकलित किए जा सके उनसे वे आचार्य हेमचन्द्र के पूर्ववर्ती सिद्ध होते हैं। आचार्य हेमचन्द्र कृत (वि.सं. 1145-1226) **योगशास्त्र** पर आचार्य शुभचन्द्र के ज्ञानार्णव का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। योगशास्त्र का प्राणायाम और ध्यान का प्रसंग ज्ञानार्णव के वर्णन और विषय से पूर्ण साम्य रखता है। केवल छन्दोगत परिवर्तन होने से कुछ शब्द भेद दृष्टिगत होता है। ज्ञानार्णव में जहाँ विवेचन अत्यन्त विस्तृत, क्रमविहीन व अप्रासंगिक चर्चा से युक्त है, वहीं योगशास्त्र का विवेचन संक्षिप्त एवं क्रमबद्ध होने के साथ-साथ अप्रासंगिक चर्चा से रहित है। ऐसा प्रतीत होता है कि हेमचन्द्र ने ज्ञानार्णव के प्रसंगों को अपने बुद्धिचातुर्य से व्यवस्थित एवं संक्षेप रूप प्रदान किया है। दोनों की विवेचन शैली में इतना अन्तर है कि जहाँ शुभचन्द्र ने अहिंसा आदि महाव्रतों की विवेचना की है वहाँ हेमचन्द्र ने गृहस्थों द्वारा उपास्य अणुव्रतों का भी विवेचन किया है। दोनों के दृष्टिकोण में अन्तर था। आचार्य शुभचन्द्र के समक्ष वे साधक थे जो लौकिक जीवन का सर्वथा परित्यागकर अपने आपको संयममय ध्यानमय साधना में लीन करना चाहते थे। आचार्य हेमचन्द्र योगसाधना का सरलीकृत रूप जन-जन को बतलाना चाहते थे।

आचार्य शुभचन्द्र द्वारा उपस्थित तथा आचार्य हेमचन्द्र द्वारा विशदीकृत जैनयोग की परम्परा आगे के लेखकों को भी प्रभावित करती रही। पण्डित आशाधर ने जिनका समय 13-14 वीं शती माना जाता है अध्यात्मरहस्य नामक रचना की। उसमें आत्मदर्शन तथा आत्मसंमार्जन का योग की भूमिका पर निरूपण हुआ है।

योगप्रदीप नामक एक जैन योग विषयक ग्रन्थ प्राप्त है, इसमें आत्मा परमात्मा के साथ अपना विशुद्ध स्थायी एवं शाश्वत मिलन कैसे साध सकता है, वह परम पद कैसे अधिगत कर सकता है इसका बड़े सरल शब्दों में विवेचन हुआ है उन्मनीभाव तथा समरसभाव आदि का भी सुन्दर वर्णन है। ये दोनों ही शब्द शुभचन्द्र तथा हेमचन्द्र द्वारा अपने ग्रन्थों में विशेष रूप से प्रयुक्त हुए हैं। इस पर शुभचन्द्र तथा हेमचन्द्र का बहुत प्रभाव है। इसे ज्ञानार्णव और योगशास्त्र का एक संक्षिप्त संस्करण कहा जा सकता है।

खरतरगच्छीय आचार्य श्री देवचन्द्र ने अठारहवीं शताब्दी में ध्यानदीपिका नामक ग्रन्थ की रचना की। ध्यानदीपिका की रचना में उनका लक्ष्य यह रहा है कि जो ज्ञानार्णव

जैसे विशाल ग्रन्थ का अध्ययन कर लाभ नहीं ले सकते, इससे उनके लाभ हो। इसमें द्वादशभावना, रत्नत्रय, महाव्रत, समिति, गुप्ति, ध्यान, ध्येय, ध्याता के भेद आदि का जो विवेचन किया गया है उस पर आचार्य शुभचन्द्र की छाप है।

पूर्ववर्ती महान आचार्यों द्वारा निरूपित योग को आगे उन्नत एवं विकसित करने वाले उपाध्याय यशोविजय थे। उन्होंने आचार्य हरिभद्र के ग्रन्थों पर विशेष रूप से कार्य किया। आचार्य शुभचन्द्र और हेमचन्द्र भी उनके योग विषयक साहित्यिक साधना के प्रेरक रहे। वे योगबिन्दु, ज्ञानार्णव और योगशास्त्र से विशेष प्रभावित थे। उन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की जिनमें अध्यात्मसार और अध्यात्मोपनिषद् मुख्य हैं।

उपाध्याय यशोविजय का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य उनके द्वारा पातंजलयोगसूत्र के कुछ सूत्रों की जैनदृष्टि से व्याख्या है। उन्होंने अपनी रचना में योगसूत्र वर्णित समाधि और सिद्धान्तसम्मत ध्यान की बड़ी सुन्दर व्याख्या की है।

आगे चलकर संस्कृत, गुजराती आदि भाषाओं में और भी योगविषयक रचनाएँ हुईं जो ध्यान, ध्यानपद्धति, ध्यानसाधना के लिए अपेक्षित वातावरण तथा ध्यान के अनुरूप मनोभूमि प्राप्त करने के लिए कषाय विवर्जन आदि के प्रतिपादन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं।

आचार्य बुद्धिसागर सूरि ने कर्मयोगविषयक ग्रन्थ में आसक्तभाव से कर्म न करने का मार्गदर्शन दिया। आसक्ति वर्जन की जो जैनदृष्टिसम्मत प्रेरणा उन्हें प्राप्त हुई। उसका बीज ज्ञानार्णव में पा सकते हैं। इसके साथ ही गीता की अनासक्ति कर्मयोग परक चिन्तनधारा का भी उस पर प्रभाव है।

इस प्रकार आचार्य शुभचन्द्र एक गौरवशाली ज्ञान तथा साधना की परम्परा लेकर आए। अपनी योगानुभूतियों से उसे अनुप्राणित कर अभिनव उपलब्धियाँ अर्जित कीं। यह सब वाङ्मय में पूर्ववर्ती आचार्यों के चिन्तन और अपने साधना निष्णात अनुभवों से घटित हुआ। जिसकी निष्पत्ति भारतीय योग के क्षेत्र में दीप्तिमान प्रेरक उपादान के रूप में हुई। उनका ग्रन्थ ज्ञानार्णव, जिसने आगे आने वाली विद्वानों की पीढ़ियों को सतत प्रेरित किया, एक संबल प्रदान किया जो योग वाङ्मय के रूप में आज प्राप्त है। उस पर गहन अध्ययन और अन्वेषण की आवश्यकता है।

सन्दर्भ ग्रन्थों की सूची

अंगुत्तरनिकाय - प्रका. महाबोधि सभा, कलकत्ता

अथर्ववेद - प्रका. आक्सफोर्ड प्रेस, लन्दन

अध्यात्मतरंगिणी - आचार्य सोमदेवसूरि, प्रका. अहिंसा मन्दिर, दिल्ली, 1960.

अध्यात्म रहस्य - पं. आशाधर, प्रका. वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली, 1957.

अनगारधर्मामृत - पं. आशाधर, सम्पा. पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, प्रका. भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, 1977

अभिधानचिन्तामणि - आचार्य हेमचन्द्र, प्रका. देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार, सूरत, 1946.

अभिधानराजेन्द्रकोश - आचार्य राजेन्द्रसूरि, प्रका. अभिधानराजेन्द्रकोश प्रकाशन संस्था, रतलाम, 1986.

अमितगतिश्रावकाचार - आचार्य अमितगति, प्रका. अनन्तकीर्ति दिग. जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, 1979.

अर्हत् अष्टांग योग अभ्यास रत्नदीपिका (ध्यान -योग अनुशीलन) पूर्वार्ध - कैलाशचन्द्र जैन बाढदार, प्रका. जैन विद्या संस्थान, महावीरजी,

अष्टपाहुड - आचार्य कुन्दकुन्द, हिन्दी मगनमल हीरालाल, प्रका. दिग. जैन ग्रन्थमाला, मारोठ, वी. नि. 2476.

अष्टांग योग रहस्य - डॉ. चिमनलाल गौतम, प्रका. संस्कृति संस्थान, बरेली, 1982.

आत्मप्रबोध - कुमार कवि, हिन्दी पं. गजाधरलाल जैन, प्रका. सिंघई धन्यकुमार जैन, कटनी, 1989.

आदिपुराण - आचार्य जिनसेन, सम्पा. डॉ. पन्नालाल जैन साहित्याचार्य, प्रका. भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली, 2000.

आधुनिक सामान्य मनोविज्ञान - डॉ. श्रीमती प्रीति वर्मा, प्रका. विनोद पुस्तक मन्दिर कार्यालय,

आराधनासमुच्चयं योगसारसंग्रहश्च - सम्पा. आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये, प्रका. भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, 1965.

इष्टोपदेश - आचार्य पूज्यपाद स्वामी, टीका पं. आशाधर, प्रका. परम श्रुत प्रभावक मण्डल, अगास, 2000.

ईशावास्योपनिषद् - डॉ. चिमनलाल गौतम, प्रका. संस्कृति संस्थान, बरेली, 1981.

उपासकाध्ययन - आचार्य सोमदेवसूरि, सम्पा. पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, प्रका. भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली,

आचारांगसूत्र - प्रका. अखिल भारतीय श्वेताम्बर स्थान वासी जैन शास्त्रोद्धार समिति, दिल्ली, 1957

आचारांगचूर्णि - जिनदास गणि, प्रका. ऋषभदेव केसरीमल जी श्वेताम्बर संस्था, रतलाम

आत्मानुशासन - गुणभद्र, सम्पा. पं. फूलचन्द्र शास्त्री, गणेश वर्णी दिग. जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी, 1983.

आदिपुराण - आचार्य जिनसेन, सम्पा. पं. पन्नालाल जैन साहित्याचार्य, प्रका. भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, 1951.

आप्तपरीक्षा - आचार्य विद्यानन्दि, प्रका. वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट, 1949.

आराधनासार - आचार्य देवसेन, प्रका. माणिकचन्द्र दिग. जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, वि. सं. 1973.

आवश्यकचूर्णि - प्रका. आगमोदय प्रकाशन समिति, मेहसाणा, 1917.

आवश्यकनिर्युक्ति - भद्रबाहु, आगमोदय प्रकाशन समिति, मेहसाणा, 1917.

आवश्यकनिर्युक्ति वृत्ति - आचार्य हरिभद्र, प्रका. देवचन्द्र लालभाई पुस्तकोद्धार फण्ड, सूरत, 1976.

आवश्यकसूत्र - सम्पा. महासती सुप्रभा, प्रका. आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, 1985.

उत्तराध्ययन - अनु. आत्माराम जी, प्रका. जैन शास्त्रमाला कार्यालय, लाहौर, 1942.

उपनिषत्संग्रह - सम्पा. जगदीशलाल शास्त्री, प्रका. मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1980.

ऋग्वेद - श्रीराम शर्मा, संस्कृति संस्थान, बरेली, 1962.

ऋग्वेद संहिता - सम्पा. दा. सातवलेकर, प्रका. स्वाध्याय मण्डल, औध सतारा, 1940.

औपपातिकसूत्र - सम्पा. छगनलाल शास्त्री, प्रका. आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, 1982.

कार्तिकेयानुप्रेक्षा - स्वामी कुमार, सम्पा. डॉ. आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्याय, प्रका. परम श्रुत प्रभावक मण्डल, अगास, 1990.

कुन्दकुन्दप्राभृत - सम्पा. पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, प्रका. जैन संस्कृति संरक्षण संघ, सोलापुर, 1960.

कुन्दकुन्द भारती - सम्पा. पं. पन्नालाल साहित्याचार्य, प्रका. दिग. जैन समाज, खेकड़ा, 1992.

कषायपाहुड - आचार्य गुणधर, सम्पा. पं. फूलचन्द्र शास्त्री, प्रका. दिग. जैन संघ, मथुरा, 1944.

गीता - महर्षि वेदव्यास, प्रका. गीताप्रेस, गोरखपुर, वि. सं. 2028.

गीतामृत तरंगिणी - पं. रघुनाथ प्रसाद, प्रका. खेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई, 1990

गोम्मटसार कर्मकाण्ड - आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती, प्रका. परम श्रुत प्रभावक मण्डल, अगास, 1928.

गोम्मटसार जीवकाण्ड - आचार्य नेमिचन्द सिद्धान्तचक्रवर्ती, प्रका. आचार्य शिवसागर दिग. जैन ग्रन्थमाला, महावीरजी, 1993.

गोरक्षसंहिता - सम्पा. चमनलाल गौतम, संस्कृति संस्थान खवाजा, बरेली, 1982.

घेरण्डसंहिता - सम्पा. चमनलाल गौतम, संस्कृति संस्थान खवाजा, बरेली, 1981.

जैन इतिहास की पूर्व पीठिका और हमारा अभ्युत्थान - डॉ. प्रोफे. हीरालाल जैन, प्रका. हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई,

जैनदर्शन : मनन और मीमांसा-मुनि नथमल, प्रका. आदर्श साहित्य संघ, दिल्ली, 1973.

जैनदर्शन में आत्मविचार - डॉ. लालचन्द जैन, प्रका. पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, जैनधर्म - पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, प्रका. दिग. जैन संघ, मथुरा, वी. सं. 2474.

जैनधर्म विश्वधर्म - पं. नाथूराम डोंगरीय जैन, प्रका. कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर,

जैन परम्परा में ध्यान का स्वरूप : एक समीक्षात्मक अध्ययन - डॉ. सीमा रानी शर्मा, प्रका. पीयूष भारती, बिजनौर, 1962.

जैन बौद्ध और गीता का साधना मार्ग - डॉ. सागरमल जैन, प्रका. पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, 1982.

जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन - डॉ. सागरमल जैन, प्रका. राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर, 1982.

जैन योग का आलोचनात्मक अध्ययन - डॉ. अर्हद्दास बन्डोवा दिगे, प्रका. जैनधर्म प्रचारक समिति, अमृतसर, 1981.

जैन योग के सात ग्रन्थ - अनु. मुनि दुलहराज, प्रका. जैन विश्व भारती, लाडनूँ, 1984.

जैनयोग ग्रन्थ चतुष्टय - आचार्य हरिभद्रसूरि, प्रका. मुनि श्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन, ब्यावर, 1982.

जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश - क्षु. जिनेन्द्र वर्णी, प्रका. भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, 1975.

ज्ञानसार - मुनि पद्मनन्दि, प्रका. दिग. जैन पुस्तकालय, सूरत, वी. नि. 2470.

ज्ञानार्णव - आचार्य शुभचन्द्र, अनु. पं. बालचन्द सिद्धान्तशास्त्री, प्रका. जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर, 1977.

ज्ञानार्णव - आचार्य शुभचन्द्र, प्रका. परम श्रुत प्रभावक मंडल, अगास, 1995.

ज्ञानार्णव : एक समीक्षात्मक अध्ययन - साध्वी डॉ. दर्शनलता, प्रका. श्री श्वेताम्बर स्थाकवासी स्वाध्यायी संघ, गुलाबपुरा, 1997.

ज्ञानार्णवप्रवचन - क्षु. मनोहरलाल वर्णी, प्रका. सहजानन्द शास्त्रमाला, मेरठ, 1996.

डॉ. महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य स्मृति ग्रन्थ - सम्पा. डॉ. भागचन्द्र जैन भागेन्दु, प्रका. डॉ. महेन्द्रकुमार जैन स्मृति ग्रन्थ प्रकाशन समिति, दमोह, वी. नि. 2522.

णाणसार - आचार्य पद्मसिंह, प्रका.मूलचन्द किशनदास कापडिया, सूरत,वी. नि. 2470.

तजो मन करो ध्यान - आर्यिका विजयामती, प्रका. दिग. जैन कुन्थुविजय ग्रन्थमाला समिति, जयपुर,

तत्त्वभावना - आचार्य अमितगति,

तत्त्वविचारसार - आचार्य वसुनन्दि, अनु. मुनि मार्दवसागर, प्रका. सकल दिग. जैन समाज, छिंदवाड़ा, 1999.

तत्त्वसार - आचार्य देवसेन, प्रका. सत्श्रुत सेवा साधना केन्द्र, अहमदाबाद,

तत्त्वानुशासन - आचार्य रामसेन, प्रका. वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली, 1963.

तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति - आचार्य हरिभद्र, प्रका. देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार फण्ड, मुम्बई, वि. सं. 1982.

तत्त्वार्थराजवार्तिक - आचार्य अकलंक, सम्पा. पं. महेन्द्रकुमार जैन, प्रका. भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, 1982.

तत्त्वार्थवृत्ति - श्रुतसागरसूरि, प्रका. भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, 1949.

तत्त्वार्थसार - आचार्य अमृतचन्द्रसूरि, सम्पा. पं. पन्नालाल साहित्याचार्य, प्रका. गणेश वर्णी दिग. जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी,

तत्त्वार्थसूत्र - उमास्वामी, सम्पा. पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, प्रका. श्रीमती कनक जैन, अजमेर, 1991.

तन्त्रालोक - अभिनव गुप्त, प्रका. कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर, 1975.

तर्कभाषा - आचार्य यशोविजय, सम्पा. पं. सुखलाल संघवी, प्रका. सिंघी जैन ग्रन्थमाला, अहमदाबाद, 1938.

तिलोयपण्णत्ती - आचार्य यतिवृषभ, अनु. आर्यिका विशुद्धमती, प्रका. भा. दिग. जैन महासभा, लखनऊ, 1984.

तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा - डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री, प्रका. भारतवर्षीय दिग. जैन विद्वत् परिषद, सागर, 1974.

तीर्थंकरों का सर्वोदय मार्ग - डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन, प्रका. लाल प्रेमचन्द जैन, दिल्ली,
दर्शन और चिन्तन - पं. सुखलाल संघवी, प्रका. जैन संस्कृति संशोधन मण्डल, बनारस, 1957.
दशवैकालिक : एक समीक्षात्मक अध्ययन - आचार्य तुलसी, प्रका. आगम साहित्य प्रकाशन समिति, कलकत्ता, 1968.
दशवैकालिकसूत्र - सम्पा. मधुकर मुनि, प्रका. आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, 1985.
दसवेआलियं - सम्पा. मुनि नथमल, प्रका. जैन विश्व भारती, लाडनूँ, 1974.
दार्शनिक चिन्तन और शाक्त सिद्धान्त - स्व. कृष्णानन्द बुधौलिया, प्रका. पीताम्बरापीठ, दतिया, वि. सं. 2044.
दीघनिकाय - सम्पा. जगदीश कश्यप एवं राहुल सांकृत्यायन, प्रका. महाबोधि सभा, सारनाथ
दोहा पाहुड - मुनि रामसिंह, सम्पा. डॉ. देवेन्द्रकुमार शास्त्री, प्रका. भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, 1998.
द्रव्यसंग्रह - आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव, सम्पा. पं. दरबारीलाल कोठिया, प्रका. गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी, 1966.
द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका - आचार्य सिद्धसेन, प्रका. जैनधर्म प्रसारक सभा, भावनगर, वि. सं. 1966.
द्वात्रिंशद्वात्रिंशिका - यशोविजय, प्रका. जैनधर्म प्रसारक सभा, भावनगर,
धम्मपद - धर्मरक्षित, प्रका. खेलाडीलाल एण्ड सन्स, बनारस
ध्यानदीपिका - सकलचन्द्र, प्रका. सोमचन्द्र शाह, अहमदाबाद, 1916.
ध्यानदीपिका - देवेन्द्रनन्दि, प्रका. अध्यात्मज्ञान प्रसारक मण्डल, 1929.
ध्यानशतक - आचार्य जिनभद्रगणि, प्रका. विनयसुन्दर ग्रन्थमाला, जामनगर, वि. सं. 1947.
ध्यानशतक - आचार्य हरिभद्रसूरि,
ध्यानशतक एवं ध्यानस्तव - सम्पा. बालचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री, प्रका. वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली, 1976.
ध्यानशास्त्र - आचार्य रामसेन, प्रका. वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट, दिल्ली, 1965.
ध्यानस्तव - भास्करनन्दि, सम्पा. सुजुको ओहिरा, प्रका. भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, 1973.
ध्यानस्तव - श्री भास्करनन्दि, प्रका. वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली, 1976.
धर्मजीवन तथा साधना - स्वामी यतीश्वरानन्द, प्रका. रामकृष्ण मठ, नागपुर, 1984.

धर्मध्यान - सम्पा. ब्र. प्रदीप शास्त्री पीयूष, प्रका. दिग. साहित्य प्रकाशन समिति, बरेला,

धर्मशास्त्र का इतिहास -

नवतत्त्वप्रकरण - विवे. भगवानदास हरखचन्द, प्रका. हेमचन्द्राचार्य जैन ग्रन्थमाला, अहमदाबाद, 1928.

नवपदप्रकरण - यशोपाध्याय, प्रका. जीवनचन्द साकरचंद झवेरी, बम्बई, 1927.

नाममाला - कवि धनंजय, प्रका. सरल जैन ग्रन्थ भण्डार, जबलपुर,

नियमसार - आचार्य कुन्दकुन्द, प्रका. दिग. जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़, वी. नि. 2500.

नीति, शृंगार, वैराग्यशतक - भर्तृहरि, वि. सं.1962.

पंचास्तिकाय - आचार्य कुन्दकुन्द, प्रका. परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई, 1916.

पं. जगन्मोहनलाल शास्त्री साधुवाद ग्रन्थ - सम्पा. ए. विलास संगवे, प्रका. पं. जगन्मोहनलाल शास्त्री साधुवाद ग्रन्थ समिति, कुण्डलपुर, 1989.

परमात्मप्रकाश योगसार - आचार्य योगीन्दुदेव, सम्पा. डॉ. आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये, प्रका. परम श्रुत प्रभावक मण्डल, अगास, वि. सं. 2014.

पातंजलयोग एवं जैनयोग का तुलनात्मक अध्ययन - डॉ. अरुणा आनन्द, प्रका. मोतीलाल बनारसीदास प्रा. लि. दिल्ली, 2002.

पातंजलयोगदर्शन - हिन्दी मुनि ब्रह्मलीन, प्रका. चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 1984.

पातंजलयोगदर्शन - भास्वती हरिहरानन्द आरण्यक, प्रका. मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली,

पातंजलयोगसूत्र का विवेचनात्मक एवं तुलनात्मक अध्ययन - नलिनी शुक्ला, प्रका. शक्ति योगाश्रम, कानपुर, 1975.

पाहुडदोहा - मुनि रामसिंह, सम्पा. पं. हीरालाल जैन, प्रका. जैन पब्लिकेशन सोसाइटी, कारंजा, वि. सं. 1960.

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय - आचार्य अमृतचन्द्र, प्रका. परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई, 1928.

प्रतिक्रमणग्रन्थत्रयी - प्रभाचन्द्राचार्य, प्रका. बालचन्द देवचन्द शहा, मुम्बई,

प्रबन्धचिन्तामणि - मेरुतुंगाचार्य, सम्पा. जिनविजय मुनि, प्रका. सिंघी जैन ग्रन्थमाला, अहमदाबाद, 1940.

प्रबोधसार - महापण्डित यश:कीर्ति, प्रका. रावजी सखाराम दोशी, सोलापुर, 1928.

प्रमाणनयतत्त्वलोकालंकार - आचार्य वादिदेवसूरि, प्रका. तिलोक रत्न स्थानकवासी जैन धार्मिक परीक्षा बोर्ड, पाथर्डी, 1972.

प्रवचनसार - आचार्य कुन्दकुन्द, सम्पा. डॉ. ए. एन. उपाध्ये, प्रका. श्रीमद् राजचन्द्र शास्त्रमाला, अगास, 1964.

प्रवचनसारोद्धार - आचार्य नेमिचन्द्र सूरि, प्रका. देवचन्द लालभाई पुस्तकोद्धार संस्था, बम्बई, 1922.

प्रशमरति प्रकरण - उमास्वामि, प्रका. परम श्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई,

प्राकृत पंचसंग्रह - सम्पा. पं. हीरालाल जैन, प्रका. भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, 1960.

बाइबिल -

बारसाणुप्रेक्षा - आचार्य कुन्दकुन्द, प्रका. जैन संस्कृति संरक्षण संघ, सोलापुर, 1986.

बारहकक्खर कक्क - मुनि श्री विद्यानन्द, प्रका. अपभ्रंश साहित्य अकादमी जैन विद्या संस्थान, महावीर जी, 2000.

बिन्दुसोग - अज्ञात, प्रका. खेमराज श्रीकृष्णदास प्रकाशन, बम्बई,

बोधिचर्यावतार - शान्तिदेव, प्रका. बुद्धविहार, लखनऊ, 1955.

बौद्धदर्शन - पं. राहुल सांकृत्यायन, प्रका. किताब महल, इलाहाबाद, 1992.

बौद्धधर्मदर्शन - आचार्य नरेन्द्रदेव, प्रका. बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, 1971.

भक्तिकालीन हिन्दी साहित्य में योगभावना - डॉ. शिवशंकर शर्मा, अप्रकाशित शोध प्रबन्ध

भगवतीआराधना - आचार्य शिवार्य, प्रका. ब्र. हिरालाल खुशालचन्द्र दोशी, फलटण, वी. नि. 2516.

भगवती आराधना - आचार्य शिवार्य, सम्पा. पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, प्रका. जैन संस्कृति संरक्षण संघ, सोलापुर, 1978.

भगवतीसूत्र - अनु. बेचरदास, प्रका. निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, 1974.

भगवान महावीर जीवन दर्शन - पं. सुमेरुचन्द्र दिवाकर, 1970.

भारत की संस्कृति साधना - रामजी उपाध्याय, प्रका. रामनारायणलाल बेनीमाधव, इलाहाबाद, 1967.

भारतीय दर्शन - डॉ. राधाकृष्णन् सर्वपल्ली, प्रका. राजपाल एण्ड संस, दिल्ली, 196.

भारतीय संस्कृति और साधना - कविराज गोपीनाथ; प्रका. बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, 1963.

भारतीय संस्कृति एवं साहित्य में जैनधर्म का योगदान - डॉ. सुदर्शनलाल जैन, प्रका. अखिल भारतीय दिग. जैन विद्वत परिषद्, 1996.

भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान - डॉ. हीरालाल जैन, प्रका. मध्यप्रदेश शासन परिषद्, भोपाल, 1962.

भावसंग्रह - आचार्य देवसेन, हिन्दी पं. लालाराम शास्त्री, प्रका. ब्र. चॉदमल चूडीवाल, नागौर, वि. सं. 2013.

मंगलमन्त्र णमोकार एक अनुचिंतन - डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री, प्रका. भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, 1979.

मंत्रराजरहस्यम् - आचार्य सिंहतिलकसूरि, प्रका. भारतीय विद्या भवन, बम्बई, 1980.

मज्झिमनिकाय - सम्पा. राहुल सांकृत्यायन, प्रका. महाबोधि सभा, सारनाथ, 1933.

मनुस्मृति - कुल्लुकभट्ट, प्रका. चौखम्बा संस्कृति सीरिज, वाराणसी, 1970.

मनोनुशासनम् - आचार्य तुलसी, प्रका. आदर्श साहित्य संघ, चूरू, 1979.

महाभारत - वेदव्यास, प्रका. भाण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीटयूट, पूना, 1976.

मिलिन्दप्रश्न - नागसेन, प्रका. बर्मी धर्मशाला, सारनाथ, वाराणसी,

मूलाचार का समीक्षात्मक अध्ययन - डॉ. फूलचन्द्र प्रेमी, प्रका. पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, 1987.

मूलाचार - आचार्य वट्टकेर, अनु. आर्यिका ज्ञानमती, सम्पा. पं. कैलाचन्द्र शास्त्री, प्रका. भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, 1999.

मूलाचार - आचार्य वट्टकेर, प्रका. श्रुत भण्डार व ग्रन्थ प्रकाशन समिति, फलटण, वि. सं. 2484.

मूलाचार प्रदीप - आचार्य सकलकीर्ति, प्रका. दिगम्बर जैन समाज, मारोठ,

यशस्तिलकचम्पू - आचार्य सोमदेव, प्रका. महावीर जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी, 1971.

याज्ञवल्क्य स्मृति - प्रका. संस्कृति संस्थान, बरेली,

योग की पूर्णता - स्वामी प्रभपाद, प्रका. भक्ति वेदान्त बुक ट्रस्ट, बम्बई,

योगदर्शन - महर्षि पतंजलि, प्रका. गीता प्रेम, गोरखपुर, वि. सं. 2055.

योगदर्शन तथा योगविंशिका - न्यायाचार्य यशोविजय, प्रका. शारदाबेन चीमनभाई एज्युकेशनल रिसर्च सेन्टर, अहमदाबाद, 1999.

योगप्रदीप - अज्ञात, प्रका. जैन साहित्य विकास मण्डल, बम्बई, 1960.

योग, प्रयोग, अयोग - डॉ. साध्वी मुक्तिप्रभा, प्रका. प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर, 1993.

योगबिन्दु - आचार्य हरिभद्र, अनु. बुद्धिसागर, प्रका. जैन ज्ञान मन्दिर विजयपुर, 1950.
योगमनोविज्ञान - शान्तिप्रकाश आत्रेय, प्रका. दी इंटरनेशनल स्टेण्डर्ड पब्लिकेशन, वाराणसी, 1965.
योगयाज्ञवल्क्य स्मृति - सम्पा. दिवान प्रह्लाद, प्रका. मुंशीराम मनोहरलाल, बम्बई, 1954.
योग वाशिष्ठ - सम्पा. डॉ. भगवानसिंह राणा, प्रका. डायमंड पाकेट बुक्स (प्रा. लि.), नई दिल्ली,
योगवाशिष्ठ - सम्पा. वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री, प्रका. तुकाराम जावजी, बम्बई, 1918.
योगविंशिका - आचार्य हरिभद्र, प्रका. ऋषभदेव केसरीमल श्वेताम्बर संस्था, रतलाम, 1927
योगशास्त्र - आचार्य हेमचन्द्र, सम्पा. गो. जी. पटेल, प्रका. जैन साहित्य प्रकाशन समिति, अहमदाबाद, 1938.
योगशास्त्र : एक परिशीलन - उपाध्याय अमर मुनि, प्रका. सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, 1963.
योगशिखोपनिषद् - प्रका. मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1980.
योगसारप्राभृत - आचार्य अमितगति, सम्पा. पं. जुगलकिशोर मुख्तार, प्रका. भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, 1969.
योगसारसंग्रह - विज्ञानभिक्षु, अनु. पवनकुमारी, प्रका. ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली, 1981.
योगसूत्र - सम्पा. दुण्डिराज शास्त्री, प्रका. चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 1982.
योगानुशीलन - कैलाशचन्द्र वाडदार, प्रका. प्रबन्धकारिणी कमेटी, महावीर जी, 1982.
रघुवंश - महाकवि कालिदास, प्रका. चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, वि. सं. 2037.
रयणसार - आचार्य कुन्दकुन्द, व्याख्या श्री ज्ञानभूषण महाराज,
रयणसार - आचार्य कुन्दकुन्द, सम्पा. डॉ. देवेन्द्रकुमार शास्त्री, प्रका. वीर निर्वाण ग्रन्थ प्रकाशन समिति, इन्दौर, वी. नि. 2500.
रत्नकरण्डक श्रावकाचार - आचार्य समन्तभद्र, हिन्दी पं. पन्नालाल साहित्याचार्य, प्रका. मुनि संघ साहित्य प्रकाशन समिति, सागर, 1992.
वसुनन्दिश्रावकाचार - आचार्य वसुनन्दि, सम्पा. पं. हीरालाल जैन, प्रका. भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, 1952.
विंशतिविंशिका - आचार्य हरिभद्र, सम्पा. के. वी. अभ्यंकर, प्रका. आर्य भूषण प्रिंटिंग प्रेस, 1932.

विशेषावश्यकभाष्य - जिनभद्र गणि, सम्पा. नथमल टाटिया, प्रका. रिसर्च इन्स्टीट्यूट ऑफ प्राकृत जैनालॉजी एण्ड अहिंसा, वैशाली, 1972.

विशेषावश्यकभाष्य - सम्पा. पं. दलसुख मालवणिया, प्रका. भारतीय संस्कृति विद्यामन्दिर, अहमदाबाद,

विष्णुपुराण - वेदव्यास, प्रका. परिमल पब्लिकेशन, दिल्ली, 1986.

विसुद्धमग्ग - बुद्धघोष, प्रका. भारतीय विद्या भवन,

वृहद्द्रव्यसंग्रह - आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तदेव, प्रका. श्री सन्मति दिग. जैन महिला विद्यालय, सीकर, वि. सं. 2043.

वृत्तरत्नाकर - सम्पा. पं. केदारनाथ शर्मा, प्रका. चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, वि. सं. 2037.

वैदिक धर्म एवं दर्शन - प्रका. मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली,

वैराग्यमणिमाला - श्रीचन्द्र कवि, प्रका. भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत परिषद, सोनागिर, 1990.

वैष्णव, शैव एवं अन्य धार्मिक मत - प्रका. भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी,

शास्त्रवार्तासमुच्चय - आचार्य हरिभद्र, प्रका. लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्या मन्दिर, अहमदाबाद, 1969.

श्रमणसूत्र - अगरचन्द नाहटा, प्रका. सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, 1951.

श्रीमद्भागवतपुराण - वेदव्यास, प्रका. गीता प्रेस, गोरखपुर, वि. सं. 2013.

षट्खण्डागम - धवला टीका सहित, सम्पा. डॉ. हीरालाल जैन, शिताबराय लक्ष्मीचन्द जैन साहित्योद्धारक फण्ड कार्यालय, अमरावती

षट्खण्डागम में गुणस्थान विवेचन (आध्यात्मिक विकासक्रम) - डॉ. प्रमिला जैन, प्रका. भारतवर्षीय दिग. जैन महासभा, लखनऊ, प्रथम संस्करण

संतकाव्य में योग का स्वरूप - रामेश्वर प्रसाद सिंह, वि. सं. 2034.

संयुत्तनिकाय - जगदीश कश्यप, प्रका. महाबोधि सभा, सारनाथ

संस्कृत हिन्दी कोष - वामन शिवराम आप्टे, प्रका. मोतीलाल बनारसीदास पब्लिसर्स प्रा. लि., दिल्ली, 1989.

सन्मतितर्क - सिद्धसेन दिवाकर, व्याख्या अभयदेवसूरि, प्रका. शेठ मोतीशा लालबाग जैन ट्रस्ट, बम्बई, वि. सं. 2040.

समयसार - आचार्य कुन्दकुन्द, सम्पा. पं. मनोहरलाल शास्त्री, प्रका. परम श्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई, वि. सं. 1919.

समयसारकलश - आचार्य अमृतचन्द्र, प्रका. वीतराग सत्साहित्य प्रसारक ट्रस्ट, भावनगर, वी. सं. 2503.

समवायांग - प्रका. गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद
समाधितन्त्र और इष्टोपदेश - आचार्य पूज्यपाद, प्रका. वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली, 1954.
समाधिमरणोत्साहदीपक - आचार्य सकलकीर्ति, अनु. हीरालाल सिद्धान्तशास्त्री, प्रका. वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट प्रकाशन, दिल्ली, 1964.
समाधिशतक - आचार्य पूज्यपाद, सम्पा. पं. सुमेरुचन्द्र दिवाकर, प्रका. आचार्यरत्न देशभूषण महाराज ग्रन्थमाला, स्तवनिधि,
समाधिसार - त्रैविद्य सोमसेनाचार्य, सम्पा. पं. पन्नालाल जैन साहित्याचार्य, प्रका. दिग. जैन ग्रन्थ प्रकाशन समिति, नागौर, वि. सं. 2034.
सर्वदर्शनसंग्रह - माधवाचार्य, प्रका. चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, 1978.
सर्वार्थसिद्धि - आचार्य पूज्यपाद, सम्पा. पं. फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री, प्रका. भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, वी. नि. 2572.
सागारधर्मामृत - पं. आशाधर, सम्पा. पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, प्रका. भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, 1978.
सारसमुच्चय - कुलभद्राचार्य, हिन्दी आर्यिका सुपार्श्वमती, प्रका. भारतवर्षीय अनेकान्त परिषद, सोनागिरि, 1990.
साहित्यदर्पण - कविराज विश्वनाथ, प्रका. मेहरचन्द्र लक्ष्मणदास, दिल्ली, 1982.
सिद्धसिद्धान्तपद्धति - गोरक्षनाथ, सम्पा. कल्याणी मलिक, प्रका. ओरियन्टल बुक हाउस, पूना, 1954.
सुत्तनिपात - अनु. भिक्षु धर्मरत्न, प्रका. महाबोधि सभा, सारनाथ, 1951.
सुबोधचन्द्रिका - सागरचन्द्र बडजात्या, प्रका. बसंतकुमार बडजात्या, ग्वालियर, 199.
सूत्रकृतांग - प्रका. गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद
स्थानांगसूत्र - प्रका. गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद
हठयोगप्रदीपिका - स्वात्माराम, प्रका. माधव योग मन्दिर समिति, लोनावला, सं. 2035.
हठयोग प्रदीपिका - प्रका. वेंकटेश्वर प्रेस प्रकाशन, मुम्बई, 1962.
हरिवंशपुराण - आचार्य जिनसेन, सम्पा. पं. पन्नालाल साहित्याचार्य, प्रका. भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, 1978.

पत्रिकाएँ

अर्हद् वचन, सम्पा. डॉ. अनुपम जैन, कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर, जनवरी 1997.
कल्याण – योगांग विशेषांक, गीता प्रेस, गोरखपुर,
जिनवाणी – सम्पा. डॉ. नरेन्द्र भानावत, ध्यान–योग : रूप और दर्शन विशेषांक, 1972.
तीर्थंकर – सम्पा. डॉ. नेमीचन्द्र जैन, हीरा भैया प्रकाशन, इन्दौर
तुलसीप्रज्ञा – सम्पा. डॉ. नथमल टाटिया, जैन विश्व भारती, लाडनूँ,

• English Book

Concentration : A Practical Course - Urnest Wood
Gorakhnath and the Kanafata Yogis - G. W. Briggs, Y. M.C.A. Publishing ;LIHouse, Calcutta, 1938.
History of Ancient India - R. S. Tripathi, Motilal Banarasidass, Varanasi, 1960.
Jainism the oldest Living Religion - Jyoti Prasad Jain, Jain Sanskrit Sanshodhan Mandal, Banaras, 1951.
Mohen-Jodaro and the Indus Civilization - Sir J. Marshall, London, 1931.
Outline of Psychology - W. Mc. Dougall
Siddha Siddhant Paddhati and other works of NathYogis - K. Mallik, Orientel Book House, 1954.

देखो, जिन्दा भी हो या नहीं?

महाराज विक्रमादित्य कहीं जा रहे थे। एक अत्यंत वृद्ध आदमी को देखकर उन्होंने पूछा 'महाशय! आपकी उम्र कितनी होगी? सफेद दाढ़ी हिलाते हुए उसने उत्तर दिया, श्रीमान जी, केवल चार वर्ष की। यह सुनकर राजा को बड़ा क्रोध आया। वह बोला-तुम्हें शर्म आनी चाहिये; इतने बूढ़े होकर भी झूठ बोलते हो। तुम्हे अस्सी वर्ष से कम कौन कहेगा? बूढ़ा मुस्कुराकर बोला-श्रीमान् आप ठीक कहते हैं, किन्तु इन 80 वर्षों में से 76 वर्ष तक तो मैं पशु की तरह कुटुम्ब का बोझ ढोता रहा। अपनी ओर दृष्टि भी नहीं दी। अतः वह पशु का जीवन था। अभी 4 वर्ष से ही मैंने आत्मकल्याण की ओर दृष्टि दी है, इससे मेरी मनुष्य जीवन की आयु तो केवल 4 वर्ष की है।'

बन्दर को किसने पकड़ा-मूर्खता ने या घड़े ने?

एक बन्दर एक मनुष्य के घर प्रतिदिन आता था और उधम करता था। कपड़े फाड़ देना, बर्तन ले जाना, बच्चों को नोच लेना, खाने पीने की वस्तुएँ फैला देना, उसका नित्य कार्य था। घर वाले उसके इस उपद्रव से परेशान थे। एक दिन घर स्वामी ने एक छोटे मुंह की हान्डी मँगायी और उसमें भुने चने डालकर हान्डी को भूमि में गाड़ दिया, केवल हान्डी का मुँह खुला हुआ था। सब लोग वहाँ से दूर चले गये।

वह बन्दर घर में आया। थोड़ी देर इधर-उधर कूदता रहा, जब उसने गड़ी हुई हान्डी में चने देखे तो हान्डी के पास आकर बैठ गया। चने निकालने के लिये उसने हान्डी में हाथ डाला और मुट्ठी में चने भर लिये। हान्डी का मुँह छोटा था, उसमें से मुट्ठी नहीं निकल सकती थी। बन्दर ने मुट्ठी निकालने के लिये जोर लगाया, चिल्लाने लगा और कूदने लगा। उस बन्दर ने समझ रखा था कि इस हान्डी ने मुझे पकड़ रखा है।

घर स्वामी ने बन्दर को रस्सी से बांध कर बाहर भेद दिया। बन्दर को घड़े ने नहीं पकड़ रखा था, वह मुट्ठी खोल देता तो छूटकर भाग सकता था किन्तु उसकी अज्ञानता से वह पकड़ा गया था इसी प्रकार संसारी जीव अपने अज्ञान से बान्धा है किन्तु मानता है कि मुझे कर्म और शरीर आदि ने बांध रखा है।

उपयोग से चमत्कार

पं. भूधरदास जी सामायिक कर रहे थे, उसी समय एक चूहा उनके पैर के फोड़े को काटता रहा, जिससे फोड़े में बड़ा घाव हो गया। सामायिक से उठने के बाद जब उनके घरवालों ने देखा, तो उन्हें बड़ा दुःख हुआ। अब उस फोड़े पर बार-बार मक्खी बैठती तो पं. जी उन्हें फौरन उड़ा देते; यह देखकर उनके भाई ने कहा-जब चूहा तो एक घण्टे तक काटकर इतना बड़ा घाव कर गया, तब तो आपने उसे भगाया नहीं; अब छोटी-सी मक्खी को बार-बार उड़ा रहे हैं। पं. भूधरदास जी ने उत्तर दिया- उस समय मैं अकेले अपने घर में (ध्यान में) था, वहाँ किसी की कुछ खबर नहीं रहती। यहाँ अब शरीर के साथ भी हूँ, इसलिये उसकी खबर भी रहती है।

होना है सो होता है

दिगोड़ा निवासी (म.प्र.) बाबा दौलतराम जी घोड़ों पर सामान रखकर कुछ साथियों के साथ दूसरे गांव जा रहे थे। जंगल में शाम के समय उनके सामायिक का समय हो गया। उन्होंने साथियों से कहा-भाई मैं तो सामायिक करूगां। एक साथी ने कहा-यहाँ डाकुओं का डर है तथा शाम भी हो गई हैं, अतः अगले गांव में पहुँचकर सामायिक कर लेना; लेकिन बाबाजी नहीं माने और सामायिक करने बैठ गये। साथी आगे चले गये। इतने में डाकु आये, उन्होंने बाबाजी को तो छोड़ दिया और आगे जाकर उनके साथियों को लूट लिया।

सब ठाठ पड़ा रह जाएगा जब लाद चलेग बंजारा

एक वृद्धा, राजा को जमीन का लगान नहीं चुका पायी, इससे राजा ने उसकी जमीन छीन ली। एक दिन बुढ़िया एक टोकरे में बहुत ही मिट्टी भरे हुये बैठी थी, उसी समय राजा वहाँ से निकल पड़ा। वृद्धा ने राजा से कहा-बेटा, मेरा यह टोकना उठवा देना। राजा ने कहा-यह टोकना तो बहुत वजनदार है, यह कैसे उठाया जा सकता है? तब वृद्धा बोली-जब इतना सा टोकना नहीं उठा सकते, तो मरते समय मेरा खेत कैसे उठा के ले जाओगे? यह सुनकर राजा की आंखे खुल गई। उसने वृद्धा की जमीन वापस कर, उससे क्षमा याचना की।

बुझी लालटेन

कोई अंधा अदामी रात को अपने मित्र के यहां से घर लौटने लगा तो मित्र ने जलती लालटेन उसके हाथ में थमा दी। अंधा हंसा और बोला - ''यह मेरे किस काम आयेगी?'' मित्र ने कहा ''लाटने देखकर लोग तुम्हारे लिये रास्ता छोड़ देगें इसलिये इसे ले जाओ।''

अन्धा लालटेन लेकर चल पड़ा और रास्ते में जब एक आदमी उससे टकरा गया तो वह अन्धा झल्लाया - ''आंख मूँद का चल रहे हो क्या, दिखती नहीं मेरे हाथ में लालटेन?''

इस पर उस आदमी ने उत्तर दिया - ''पर भाई लालटेन तो बुझी हुई है।''

सच है, लालटेन जल रही है या नहीं, इसे देखने के लिये भी आंख चाहिये।

योगिभक्ति

योगीश्वरान् जिनान् सर्वान् योग - निर्धूत - कल्मषान् ।
योगैस्त्रिभि - रहं वंदे, योग - स्कंध - प्रतिष्ठितान् ।।१।।

प्रावृट्काले सविद्युत्-प्रपतित-सलिले वृक्षमूलाधिवासाः ।
हेमंते रात्रिमध्ये, प्रतिविगत-भयाः काष्ठवत् त्यक्तदेहाः ।।
ग्रीष्मे सूर्यांशुतप्ता, गिरिशिखरगताः स्थानकूटान्तरस्थाः ।
ते मे धर्मं प्रदद्युर्मुनिगणवृषभा मोक्षनिःश्रेणिभूताः ।।२।।

गिम्हे गिरिसिहरत्था, वरिसायाले रुक्खमूल रयणीसु ।
सिसिरे वाहिरसयणा, ते साहू वंदिमो णिच्चं ।।३।।

गिरि - कंदर - दुर्गेषु, ये वसन्ति दिगम्बराः ।
पाणिपात्र - पुटाहारास्ते यान्ति परमां गतिम् ।।४।।

१. योग से कल्मष/कालुष्य/पाप को धोने वाले योगरूप तनों पर प्रतिष्ठित/स्थित सभी योगीश्वर जिनों को मैं तीनों योगों (मन, वचन, काय) से वन्दित/पूजित करता हूँ ।

२. बिजली की चमक/तड़क युक्त मूसलाधार गिरते हुए जल वाले वर्षाकाल में वृक्ष-मूल-वासी, शीत-रात्रियों में भय रहित काष्ठ/लकड़ी के समान शरीर-त्यागी, शीत-योग-वासी तथा गर्मी में सूर्य की किरणों से तपे हुए पर्वतों की चोटियों के मध्य स्थित स्थानों में रहने वाले, मोक्ष के लिए नसैनी स्वरूप, मुनिगणों में श्रेष्ठ, वे योगी मुझे सद्धर्म प्रदान करें ।

३. गर्मी में गिरि-शिखर के ऊपर स्थित, वर्षाकाल की रात्रि में वृक्षमूल में स्थित तथा शिशिर/ठंडी में बाहर सोने वाले साधुओं की मैं वन्दना करता हूँ ।

४. जो दिगम्बर साधु गिरि गुफाओं व दुर्गों में रहते हैं तथा पाणिपात्ररूपी पुट/दोने में आहार लेते हैं, वे परमगति को प्राप्त होते हैं ।

ध्यान की पात्रता

सर्वपापास्त्रवे क्षीणे ध्याने भवति भावना ।
पापोपहतवृत्तीनां ध्यानवार्तापि दुर्लभा ।।

अर्थात्—जब समस्त पापों का आस्त्रव क्षीण हो जाता है तभी ध्यान की भावना होती है । जिनकी वृत्ति/आचरण पाप से उपहत हो रही है ऐसे पुरुषों को ध्यान की बात करना भी दुर्लभ है ।